Indian Freedom Struggle I/ Indian Freedom Struggle II

DHIS204/DHIS205

LOVELY PROFESSIONAL UNIVERSITY

भारतीय स्वतंत्रता संग्राम

INDIAN FREEDOM STRUGGLE-I

INDIAN FREEDOM STRUGGLE-II

Copyright © 2012
All rights reserved with publishers

Produced & Printed by
USI PUBLICATIONS
2/31, Nehru Enclave, Kalkaji Extn.,
New Delhi-110019
for
Lovely Professional University
Phagwara

पाठ्यक्रम (SYLLABUS)

भारतीय स्वतंत्रता संग्राम (1707–1947 ई.)
(INDIAN FREEDOM STRUGGLE 1707-1947 A.D)

उद्देश्यः 1. स्वतंत्रता संघर्ष के विभिन्न चरणों से छात्रों को परिचित करवाना

2. ब्रिटिश सरकार की विभिन्न नीतियों एवं रणनीतियों के बारे में समझ विकसित करवाना।

3. स्वतंत्रता शहीदियों के त्याग अथवा बलिदान के बारे में छात्रों को जागरूक करवाना।

Objectives:

1. To introduce students with different phases of freedom struggle.
2. To make them understant the policies and strategies of British Government.
3. To acquaint students with the sacrifices of our freedom martyrs.

INDIAN FREEDOM STRUGGLE -I

Sr. No.	Topics
1.	British Expansion: Carnatic wars, Anglo Mysore wars, Anglo Maratha wars
2.	Political Establishment: Battle of Plassey, Battle of Buxar, Reforms of Lord Clive
3.	Consolidation of the British Raj: Development of Central structure, Changes in Economic Policy and Educational Policy
4.	Constitutional Development: Regulating Act 1773 and Pitt's India Act 1784
5.	Implementation of Imperial Policies: Reforms of Cornwallis, Reforms of William Bentinck
6.	Age of Reforms: Reforms of Lord Dalhousie
7.	Reformist Movements: Brahmo Samaj and Singh Sabha Movement
8.	Revivalist Movements: Arya Samaj
9.	The First Major Challenge 1857: Causes of revolt, Events, Causes for the failure, Aftermath
10.	Maps: Important Centers of the Revolt of 1857 & India before independence

INDIAN FREEDOM STRUGGLE -II

Sr. No.	Topics
1.	Establishment of Indian National Congress: Factors responsible for its foundation, Theories of its origin, Moderates and Extremists
2.	Home Rule League: Role of Lokmanya Tilak and Annie Besant, its fallout
3.	Non Cooperation Movement: Circumstances leading to the movement, Events, Impact
4.	Civil Disobedience Movement: Circumstances leading to the movement, Events
5.	Peasant Movements: Peasant Movements' in first half of 20^{th} Century, Peasant Movement in 30s and 40s
6.	Quit India Movement: Circumstances leading to the movement, Important Events
7.	Indian independence and partition: Loyalists' Crisis, Congress and Partition
8.	Nehru's vision of society: Socialist society, State controlled industrialization, Agrarian reforms
9.	Border conflict with China: Chinese aggression, 1962 Chinese attack
10.	Maps: India in 1947 & States and capitals

विषय-सूची

इकाई (Units)	(CONTENTS)	पृष्ठ संख्या (Page No.)
1.	ब्रिटिश विस्तार (British Expansion)	1
2.	ब्रिटिश राज का सुदृढ़ीकरण (1818–1843) एवं केन्द्रीय संरचना का विकास (1773–1863) (Consolidation of British Raj (1818-1843) and Development of Central Structure)	27
3.	सामाजिक-धार्मिक सुधार आन्दोलन (Socio-Religious Reforms Movement)	40
4.	कॉर्नवालिस के सुधार (Reforms of Cornwallis)	52
5.	विलियम बैंटिंक के सुधार (Reforms of William Bentinck)	60
6.	लॉर्ड डलहौजी के सुधार (Reforms of Lord Dalhousie)	66
7.	पहली महत्त्वपूर्ण चुनौती (The First Major Challenge)	78
8.	कृषक आंदोलन (Peasant Movement)	94
9.	भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना, होमरूल आंदोलन, नरमपंथी और गरमपंथी (Establishment of the Indian National Congress, Home Rule Movement, Moderates and Extremists)	119
10.	राष्ट्रीय आंदोलन और भारतीय स्वतंत्रता (National Movement and Indian Independence)	141
11.	स्वतंत्रता प्राप्ति से 1964 तक का भारत (India Independent to 1964)	180
12.	चीन के साथ सीमा विवाद और चीनी आक्रामकता (Border conflict with China and Chinese Aggresession)	207
13.	मानचित्र–I (Maps)	215
14.	मानचित्र–II (Maps)	222

नोट

इकाई–1: ब्रिटिश विस्तार (British Expansion)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

1.1 कर्नाटक युद्ध (Carnatic War)

1.2 बंगाल में ब्रिटिश राज का उत्कर्ष एवं प्लासी का युद्ध (Conquest of British Raj in Bengal and Battle of Plassy)

1.3 मीर जाफर एवं मीर कासिम (Mir Jaffer and Mir Qasim)

1.4 क्लाइव का द्वैध शासन और 1757 से 1772 के दौरान बंगाल में अंग्रेज (Clive's 2nd Governorship and English in Bengal from 1757-1772)

1.5 मैसूर एवं ब्रिटिश विस्तार का इससे प्रतिरोध (Mysore and its Resistance to the British Expansion)

1.6 आंग्ल-मराठा तीन युद्ध (The three Anglo-Maratha Wars)

1.7 सारांश (Summary)

1.8 शब्दकोश (Keywords)

1.9 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1.10 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- ब्रिटिश विस्तार, कर्नाटक युद्ध और बंगाल के उत्कर्ष को समझने में,
- प्लासी की लड़ाई, मीर जाफर, मीर कासिम एवं क्लाइव के द्वैध शासन की व्याख्या करने में,
- आंग्ल-मैसूर एवं आंग्ल-मराठा युद्धों की विवेचना करने में,

प्रस्तावना (Introduction)

17वीं तथा 18वीं शताब्दियों में आंग्ल-फ्रांसीसी शाश्वत शत्रु थे तथा ज्यों ही यूरोप में उनका आपसी युद्ध आरम्भ होता है, संसार के कोने में जहाँ ये दो कम्पनियाँ कार्य करती थीं, आपसी युद्ध आरम्भ हो जाते थे। भारत में ऐंग्लो फ्रेंच-युद्ध, आस्ट्रिया के उत्तराधिकार के युद्ध से आरम्भ हुआ। उस समय फ्रांसीसियों का मुख्य कार्यालय पांडीचेरी में था। तथा मसौलीपट्म, कारिकल, माही, सूरत तथा चन्द्रनगर में उनके उपकार्यालय थे। दूसरी ओर अंग्रेजों की मुख्य बस्तियां, मद्रास, बम्बई और कलकत्ता में थीं तथा अनेक उपकार्यालय थे।

1.1 कर्नाटक युद्ध (Carnatic War)

कर्नाटक का प्रथम युद्ध (1746-48): यह युद्ध आस्ट्रिया के उत्तराधिकार के युद्ध का जो 1740 में आरम्भ हुआ था, विस्तार मात्र ही था। गृह सरकारों की आज्ञा के विरुद्ध ही दोनों दलों में 1746 में युद्ध हो गया। बारनैट के नेतृत्व में

नोट

अंग्रेजी नौसेना ने कुछ फ्रांसीसी जल पोत पकड़ लिए। डूप्ले ने जो 1741 से पाण्डीचेरी का फ्रेंच गवर्नर-जनरल था, मॉरीशस स्थित फ्रांसीसी गवर्नर ला बूर्डोने (La Bourdonnais) से सहायता मांगी। ला बूर्डोने 3000 सैनिक लेकर कोरोमण्डल तट (मद्रास के पास का तट) की ओर चल पड़ा। रास्ते में उसने अंग्रेजी नौसेना को परास्त किया। मद्रास को जल तथा थल दोनों ओर से फ्रांसीसियों ने घेर लिया। 21 सितम्बर को मद्रास ने आत्मसमर्पण कर दिया। युद्धबन्दियों में क्लाइव भी था। ला बूर्डोने का विचार इस नगर से फिरौती लेने का था परन्तु डूप्ले नहीं माना। ला बूर्डोने ने एक अच्छी राशि के बदले नगर लौटा दिया। परन्तु डूप्ले ने इसको स्वीकार नहीं किया तथा नगर पुनः जीत लिया। परन्तु वह फोर्ट सेन्ट डेविड जो पाण्डीचेरी से केवल 18 मील दक्षिण में स्थित था उसे जीतने में असफल रहा। दूसरी ओर एक अंग्रेजी स्क्वाड्रन ने रीयर एडमिरल बोस्कावे के नेतृत्व में पाण्डीचेरी को घेरने का असफल प्रयत्न किया।

कर्नाटक का प्रथम युद्ध सेन्ट टोमे के युद्ध के लिए स्मरणीय है। यह युद्ध फ्रांसीसी सेना तथा कर्नाटक के नवाब अनवरुद्दीन (1744-49) के नेतृत्व में भारतीय सेना के बीच लड़ा गया। झगड़ा फ्रांसीसियों द्वारा मद्रास की विजय पर हुआ। नवाब ने दोनों कम्पनियों को लड़ते हुए देखकर उन्हें आज्ञा दी कि वे युद्ध बन्द करें तथा देश की शान्ति भंग न करें। डूप्ले ने मद्रास को जीत कर नवाब को दे देने का प्रस्ताव किया था। परन्तु जब डूप्ले ने अपना वचन पूरा नहीं किया तो नवाब ने अपनी मांग स्वीकार कराने के उद्देश्य से अपनी सेना भेजी। कैप्टिन पेराडाइज (Paradise) के अधीन एक छोटी सी फ्रांसीसी सेना ने जिसमें 230 फ्रांसीसी तथा 700 भारतीय सैनिक थे, महफूज खां के नेतृत्व में 10,000 भारतीय सेना को अदयार नदी पर स्थित सेन्ट टोमे के स्थान पर पराजित कर दिया। कैप्टिन पेराडाइज की इस विजय ने विदेशी यूरोपीय अनुशासित सेना की ढीली तथा असंगठित भारतीय सेना पर श्रेष्ठता को स्पष्ट कर दिया।

यूरोप में युद्ध बन्द होते ही कर्नाटक का प्रथम युद्ध समाप्त हो गया। ए ला शापल की सन्धि (1748) से ऑस्ट्रिया के उत्तराधिकार का युद्ध समाप्त हो गया तथा मद्रास अंग्रेजों को पुनः प्राप्त हो गया।

युद्ध के प्रथम दौर में दोनों दल बराबर रहे। स्थल पर फ्रांसीसी श्रेष्ठ रहे। डूप्ले ने अपनी असाधारण दक्षता तथा राजनीति का प्रदर्शन किया। यद्यपि अंग्रेज पाण्डेचेरी को नहीं जीत सके तो भी इस युद्ध से नौसेना का महत्त्व स्पष्ट हो गाय।

कर्नाटक का दूसरा युद्ध (1749-54): कर्नाटक के प्रथम युद्ध से डूप्ले की राजनैतिक पिपासा जाग उठी तथा उसने फ्रांसीसी राजनैतिक प्रभाव के प्रसार के उद्देश्य से भारतीय राजवंशों के परस्पर झगड़ों में भाग लेने की सोची। मालेसन (Malleson) ने इस स्थिति का वर्णन यों किया है, "महत्वाकांक्षाएं जाग उठीं, परस्पर द्वेष बढ़ गए। जब बढ़ते हुए प्रभाव की आकांक्षाएँ द्वार खटखटा रही थीं तो उन्हें (यूरोपीय) शान्ति से क्या लेना-देना। यह सुअवसर हैदराबाद तथा कर्नाटक के सिंहासनों के विवादास्पद उत्तराधिकार के कारण प्राप्त हुआ।"

आसफजाह जिसने दक्कन में लगभग स्वायत्ततापूर्ण राज्य बना लिया था, 21 मई, 1748 को स्वर्ग सिधार गया। उसका पुत्र नासिरजंग (1748-50) उसका उत्तराधिकारी बना। परन्तु उसके भतीजे (आसफजाह के पौत्र मुजफ्फरजंग ने दावे को चुनौती दी। दूसरी ओर कर्नाटक के नवाब अनवरुद्दीन तथा उसके बहनोई चन्दा साहिब के बीच विवाद था। शीघ्र ही ये दोनों विवाद एक बड़े विवाद में परिवर्तित हो गए और हमें दलों के बनने तथा टूटने की क्रिया का प्रदर्शन मिला।

डूप्ले ने इस अनिश्चित अवस्था से राजनैतिक लाभ उठाने की सोची तथा मुजफ्फरजंग को दक्कन की सूबेदारी तथा चन्दा साहिब को कर्नाटक की सूबेदारी के लिए समर्थन देने की बात सोची। अपरिहार्य रूपेण अंग्रेजों को नासिरजंग तथा अनवरुद्दीन का साथ देना पड़ा। डूप्ले को अद्वितीय सफलता मिली। मुजफ्फरजंग चन्दा साहिब तथा फ्रेंच सेनाओं ने 1749 के अगस्त मास में वेल्लौर के समीप अम्बूर के स्थान पर अनवरुद्दीन को हराकर मार दिया। दिसम्बर 1750 में नासिरजंग भी एक संघर्ष में मारा गया। मुजफ्फरजंग दक्कन का सूबेदार बन गया तथा उसने अपने हितकारियों को बहुत से उपहार दिए। डूप्ले को कृष्णा नदी के दक्षिणी भाग में मुगल प्रदेशों का गवर्नर नियुक्त कर दिया। उत्तरी सरकारों के कुछ जिले भी फ्रांसीसियों को दे दिए। इसके अतिरिक्त मुजफ्फरजंग की प्रार्थना पर एक फ्रेंच सेना की टुकड़ी बुस्सी की अध्यक्षता में हैदराबाद में तैनात कर दी गई। 1751 में चन्दा साहिब कर्नाटक के नवाब बन गए। डूप्ले इस समय अपनी राजनैतिक शक्ति की चरम सीमा पर पहुंच गया था।

नोट

फ्रांसीसियों के लिए प्रतिकर्ष (anti-climax) आने में देर नहीं लगी। स्वर्गीय अनवरुद्दीन के पुत्र मुहम्मद अली ने त्रिचनापली में शरण लीं फ्रांसीसी तथा चन्दा साहिब मिल कर भी त्रिचनापली के दुर्ग को जीत नहीं पाए। अंग्रेजों की सिति इस फ्रेंच विजय से डांवा-डोल हो गई थी। क्लाइव ने जो त्रिचनापली के फ्रांसीसी घेरे को तोड़ने में असफल रहा था, त्रिचनापली पर दबाव कम करने के लिए कर्नाटक की राजधानी अरकाट को केवल 210 सैनिकों की सहायता से जीत लिया। चन्दा साहिब ने 4,000 सैनिक भेजे परन्तु अरकाट को पुन: नहीं जीत सके तथा क्लाइव ने 53 दिन तक (23 सितम्बर से 14 नवम्बर तक) इस सेना का प्रतिरोध किया। फ्रांसीसियों की प्रतिभा को इससे अनन्त क्षति पहुंची। 1752 में स्ट्रिंगर लॉरेन्स के नेतृत्व में एक अंग्रेजी सेना ने त्रिचनापली को बचा लिया तथा जून 1752 में घेरा डालने वाली फ्रांसीसी सेना ने अंग्रेजों के आगे हथियार डाल दिए। चन्दा साहिब की भी धोखे से तंजौर के राजा ने हत्या कर दी।

क्या आप जानते हैं त्रिचनापली में फ्रांसीसी हार से डूप्ले के भाग्य का सर्वनाश हो गया।

फ्रांसीसी कम्पनी के डायरेक्टरों ने इस युद्ध में हुई धन की हानि के लिए डूप्ले को वापिस बुला लिया। 1754 में गोडेहू (Godeheu) को भारत में फ्रांसीसी प्रदेशों का गवर्नर जनरल तथा डूप्ले का उत्तराधिकारी नियुक्त कर दिया तथा 1755 में दोनों कम्पनियों के बीच एक अस्थायी सन्धि हो गई।

इस प्रकार इस झगड़े का दूसरा दौर भी अनिश्चित रहा। स्थल पर अंग्रेजी सेना की प्रधानता सिद्ध हो गई थी तथा उनका प्रत्याशी मुहम्मद अली कर्नाटक का नवाब बन गया था। परन्तु हैदराबाद में अभी भी फ्रांसीसी सुदृढ़ अवस्था में थे तथा उन्होंने सूबेदार सालारजंग से और भी अधिक जागीर प्राप्त कर ली थी। (वास्तव में मुजफ्फरजंग एक छोटी सी झड़प में फरवरी 1751 में मारा गया था।) उत्तरी सरकारों के महत्त्वपूर्ण जिले जिनकी वार्षिक आय 30 लाख ₹ थी, फ्रांसीसी कम्पनी को अर्पण कर दिए थे। इस दूसरे युद्ध से फ्रांसीसियों की प्राथमिकता को कुछ ठेस पहुँची तथा अंग्रेजों की स्थिति दृढ़ हो गई।

कर्नाटक का तीसरा युद्ध (1758-63): यह युद्ध भी यूरोपीय संघर्ष का ही भाग था। 1756 में सप्तवर्षीय युद्ध के आरम्भ होते ही भारत में दोनों कम्पनियों के बीच शान्ति समाप्त हो गई। फ्रांसीसी सरकार ने अप्रैल 1757 मे काऊन्ट लाली को भारत भेजा। लगभग 12 मास की यात्रा के पश्चात् अप्रैल 1758 में वह भारत पहुंचा। इसी बीच अंग्रेज सिराजुद्दौला को पराजित कर बंगाल पर अपना अधिकार स्थापित कर चुके थे। इसके कारण अंग्रेजों को अपार धन मिला जिससे वे फ्रांसीसियों को दक्कन में पराजित करने में सफल हुए।

काऊंट लाली ने 1758 में ही फोर्ट सेन्ट डेविड जीत लिया। इसके पश्चात् उसने तंजौर पर आक्रमण करने की आज्ञा दे दी क्योंकि उस पर 56 लाख ₹ शेष था। यह अभियान असफल रहा जिससे फ्रांसीसी ख्याति को हानि पहुंची। इसके पश्चात् लाली ने मद्रास को घेर लिया परन्तु एक शक्तिशाली नौसेना के आने पर उसे यह घेरा उठाना पड़ा। फिर लाली ने बुस्सी को हैदराबाद से वापिस बुला लिया। यह उसकी सबसे बड़ी भूल थी। इसके कारण वहां फ्रांसीसियों की स्थिति कमजोर हो गई। दूसरी ओर पोकॉक के नेतृत्व में अंग्रेजी बेड़े ने डआशा के नेतृत्व में फ्रांसीसी बेड़े को तीन बार पराजित किया तथा उसे भारतीय सागर से लौट जाने पर बाध्य कर दिया। इससे अंग्रेजी विजय स्पष्ट हो गई तथा 1760 में सर आयरकूट ने वन्दिवाश के स्थान पर फ्रांसीसियों को बुरी तरह पराजित किया। बुस्सी युद्धबन्दी बना लिया गया। जनवरी 1761 में फ्रांसीसी पूर्ण पराजय के पश्चात् पाण्डीचेरी लौट आए। अंग्रेजों ने इसे भी घेर लिया तथा 8 मास पश्चात् फ्रांसीसियों ने इस नगर को भी शत्रु के हवाले कर दिया। शीघ्र ही माही तथा जिंजी भी इनके हाथ से निकल गए। इस प्रकार आंग्ल-फ्रांसीसी प्रतिद्वन्द्विता का नाटक समाप्त हो गया तथा फ्रांसीसी हार गए।

इस प्रकार युद्ध का तीसरा दौर पूर्णरूपेण निर्णायक सिद्ध हुआ। यद्यपि युद्ध के अन्त में (1763 में) पाण्डीचेरी तथा कुछ अन्य फ्रांसीसी प्रदेश उन्हें लौटा तो दिए गए परन्तु उनकी किलाबन्दी (fortification) नहीं हो सकती थी तथा

नोट

भारत से उनका पत्ता कट गया।

फ्रांसीसियों की पराजय के कारण

फ्रांसीसियों ने एक समय में अपनी राजनैतिक विजयों से भारतीय संसार को स्तब्ध कर दिया था। परन्तु अन्ततः वे हार गए। इस पराजय के कारण निम्नलिखित थे:

फ्रांसीसियों का यूरोप में उलझना: अठारहवीं शताब्दी में फ्रांसीसी सम्राटों की यूरोपीय महत्त्वकांक्षाओं के कारण उनके साधनों पर अत्यधिक दबाव पड़ा। यये सम्राट फ्रांस की प्राकृतिक सीमाओं को स्थापित करने के लिए इटली, बेलजियम तथा जर्मनी में बढ़ने का प्रयत्न कर रहे थे तथा वे उन देशों से युद्धों में उलझ गए। वास्तव में उन्हं इस क्षेत्र में कुछ शत वर्ग मील के क्षेत्र की अधिक चिन्ता थी तथा भारत तथा उत्तरी अमरीका में कई गुना अधिक बड़े क्षेत्र की कम। फलस्वरूप ये उपनिवेश तो पूर्णतया हाथ से जाते रहे तथा यूरोप में नहीं के बराबर ही का क्षेत्र उनको मिल सका। इंग्लैण्ड अपने आप को यूरोप से पृथक मानता था तथा उसकी उस प्रदेश में प्रसार की कोई इच्छा नहीं थे। यूरोप में उसकी भूमिका केवल शक्ति-संतुलन बनाए रखने की ही थी। वह एकचित होकर अपने उपनिवेशों के प्रसार में लगा हुआ था। उसे निश्चय ही सफलता मिली और उसने भारत तथा उत्तरी अमरीका में फ्रांस को पछाड़ दिया।

दोनों देशों की प्रशासनिक भिन्नताएँ-वास्तव में फ्रांसीसी इतिहासकारों ने अपने देश की असफलता के लिए अपनी घटिया शासन प्रणाली को दोषी ठहराया है। फ्रांसीसी सरकार स्वेच्छाचारी थी तथा सम्राट के व्यक्तित्व पर ही निर्भर करती थी। महान सम्राट लुई चौदहवें (1648-1715) के काल से ही इस प्रशासन की कमजोरियाँ स्पष्ट हो रही थीं। उस काल के अनेक युद्धों के कारण वित्तीय परिस्थिति बिगड़ गई थी। उसकी मृत्यु के पश्चात् यह अवस्था और भी बिगड़ गई। उसके उत्तराधिकारी लुई पन्द्रहवें ने अपनी रखैलों, कृपापात्रों तथा ऐश्वर्य साधनों पर और भी धन लुटाया। दूसरी ओर इंग्लैण्ड में एक जागरूक अल्पतंत्र राज्य कर रहा था। ह्विग दल के अधीन उन्होंने संवैधानिक व्यवस्था की ओर कदम बढ़ाए और देश "एक प्रकार से अभिषिक्त गणतंत्र" बन गया था। यह व्यवस्था उत्तम थी तथा इसने देश को दिन प्रतिदिन शक्तिशाली बना दिया। आल्फ्रेड लायल ने फ्रांसीसी व्यवस्था के खोखलेपन को ही दोषी ठहराया है। उसके अनुसार, डूप्ले की वापिसी, ला बोर्डोने तथा डआश की भूलें, लाली की अदम्यता, इत्यादि से कहीं अधिक लुई पन्द्रहवें की भ्रांतिपूर्ण नति तथा उसके अक्षम मंत्री फ्रांस की असफलता के लिए उत्तरदायी थे।

दोनों कम्पनियों के गठन में भिन्नता-फ्रांसीसी कम्पनी सरकार का एक विभाग था। कम्पनी 55 लाख लीव्र (फ्रैंक) की पूंजी से बनाई गई थी जिसमें से 35 लाख लीव्र सम्राट ने लगाए थे। इस कम्पनी के डाइरेक्टर सरकार द्वारा मनोनीत किए जाते थे तथा लाभांश सरकार द्वारा प्रत्याभूत था अतएव उन्हें कम्पनी की समृद्धि में कोई विशेष अभिरूचि नहीं थी। उदासीनता इतनी थी कि 1715 और 1765 के बीच कम्पनी के भागीदारों की एक बैठक नहीं हुई तथा कम्पनी का प्रबन्ध सरकार ही चलाती रही। फलस्वरूप कम्पनी की वित्तीय अवस्था बिगड़ती चली गई। एक समय में उनकी यह दुर्दश हो गई कि उन्हें अपने अधिकार से मालो के व्यापारियों को वार्षिक धन के बदले देने पड़े। 1721 से 1740 तक कम्पनी उधार लिए धन से ही व्यापार करती रही। कम्पनी को समय-समय पर सरकार से सहायता मिलती रही तथा वह तम्बाकू के एकाधिकार तथा लॉटरियों के सहारे ही चलती रही। ऐसी कम्पनी डूप्ले की मंहगी महत्त्वकांक्षाओं तथा युद्धों की पूर्ति नहं कर सकती थी।

दूसरी ओर अंग्रेज कम्पनी एक नीजि व्यापारिक कम्पनी थी। उसके प्रबन्ध में कोई विशेष हस्तक्षेप नहीं किया जाता था। प्रशासन इस कम्पनी के कल्याण में विशेष रुचि दर्शाता था। वित्तीय अवस्था अधिक सुदृढ़ थी। व्यापार अधिक था तथा व्यापारिक प्रणाली भी अधिक अच्छी थी। कम्पनी के डाइरेक्टर सदैव व्यापार वु महत्त्व पर बल देते थे। पहले व्यापार फिर राजनीति। यह कम्पनी अपने युद्धों के लिए प्रायः पर्याप्त धन स्वयं अर्जित कर लेती थी। आंकड़ों से यह स्पष्ट है कि 1736-65 के बीच अंग्रेजी कम्पनी ने 412 लाख पाऊंड और फ्रांसीसी कम्पनी ने 114.5 लाख पाऊंड का माल बेचा। वित्तीय अवस्था से अंग्रेजी कम्पनी इतनी धनाढ्य थी कि डर था कि कहीं संसद लोभ में न आ जाए। हुआ भी यही 1767 में संसद ने कम्पनी को आदेश दिया कि वह 4 लाख पाऊंड वार्षिक अंग्रेजी कोष में दिया करे। एक बार यह भी सुझाव था कि कम्पनी की सहायता से राष्ट्रीय ऋण का भुगतान किया जाए।

नोट

नौसेना की भूमिका–कर्नाटक के युद्धों ने यह स्पष्ट कर दिया कि कम्पनी के भाग्य का उदय अथवा अस्त नौसेना की शक्ति पर निर्भर था। 1746 में फ्रांसीसी कम्पनी को पहले समुद्र में फिर थल पर विशिष्टता प्राप्त हुई। इसी प्रकार 1748–51 तक भी जो सफलता डूप्ले को मिली वह उस समय थी जब अंग्रेजी नौसेना निष्क्रिय थी। सप्तवर्षीय युद्ध के दिनों मे यह पुन: सक्रिय हो गई। उसकी वरिष्ठता के कारण काऊंट लाली, डूप्ले जितनी सफलता प्राप्त नहीं कर सका और जब डआश भारतीय समुद्रों से चला गा तो मार्ग अंग्रेजों के लिए बिलकुल साफ था तथा अंग्रेजों की विजय में कोई संदेह नहीं रह गया था। वॉल्टेयर के अनुसार ऑस्ट्रिया के उत्तराधिकार के युद्ध में फ्रांस की जल शक्ति का इतना ह्रास हुआ कि सप्तवर्षीय युद्ध के समय उसके पास एक भी जल पोत नहीं था। बड़े पिट ने इस वरिष्ठता का पूर्ण लाभ उठाया। न केवल भारतीय व्यापार मार्ग खुले रहे अपितु बम्बई से कलकत्ता तक जल मार्गों द्वारा सेना का लाना ले जाना अबाध रूप से चलता रहा। फ्रेंच सेना का पृथक्करण पूर्ण रहा। यदि शेष कारण बराबर भी होते तो भी यह जल सेना की वरिष्ठता फ्रांसीसियों को परास्त करने के लिए पर्याप्त थी।

बंगाल में अंग्रेजी सफलताओं का प्रभाव–अंग्रेजों की बंगाल में विजय एक महत्त्वपूर्ण कारण था। न केवल इससे इनकी प्रतिष्ठ बढ़ी, अपितु इससे बंगाल का अपार धन तथा जनशक्ति उन्हें मिल गई। जिस समय काऊंट लाली को अपनी सेना को वेतन देन की चिन्ता थी, बंगाल–कर्नाटक में धन तथा जन दोनों भेज रहा था। दक्कन इतना धनी नहीं था कि डूप्ले तथा लाली की महत्त्वकांक्षाओं को साकार कर सकता। यद्यपि उत्तरी सरकार बुस्सी के पास थी परन्तु वह केवल डेढ़ लाख ₹ ही भेज सका अधिक नहीं।

वास्तव में अंग्रेजों की वित्तीय वरिष्ठता का बहुत महत्त्व था जैसा कि स्मिथ ने कहा है कि "न अकेले तथा न मिलकर ही डूप्ले अथवा बुस्सी जल में वरिष्ठ तथा धन में गंगा की घाटी के वित्तीय स्त्रोतों के स्वामी अंग्रेजों को परास्त कर सकते थे। पाण्डेचेरी से आरम्भ करके सिकन्दर महान तथा नेपोलियन भी बंगाल तथा समुद्री वरिष्ठता प्राप्त शक्ति को परास्त नहीं कर सकते थे। मेरियट ने ठीक ही कहा है कि डूप्ले ने मद्रास में भारत की चाबी खोजने का निष्फल प्रयत्न किया। क्लाइव ने यह चाबी बंगाल में खोजी तथा प्राप्त कर ली।"

1.2 बंगाल में ब्रिटिश राज का उत्कर्ष एवं प्लासी का युद्ध (Conquest of British Raj in Bengal and Battle of Plassy)

अंग्रेजों ने बंगाल में अपनी प्रथम कोठी (गोदाम) 1651 में हुगली में तत्कालीन बंगाल के सुबेदार शाह जहान के दूसरे पुत्र शाहशुजा की अनुमति से बनाई। उसी वर्ष एक राजवंश की स्त्री की डॉक्टर बौटन (Dr. Boughton) द्वारा चिकित्सा करने पर, उसने अंग्रेजों को ₹ 3000 वार्षिक में बंगाल, बिहार तथा उड़ीसा में मुक्त व्यापार की अनुमति दे दी। शीघ्र ही अंग्रेजों ने कासिम बाजार, पटना तथा अन्य स्थानों पर कोठियां बना लीं। 1698 में सूबेदार अजीमुशान ने उन्हें सूतानती, कालीघाट तथा गोविन्दपुर (जहां आज कलकत्ता बसा है) की जमींदारी दे दी जिसके बदले उन्हें केवल ₹ 1200 पुराने मालिकों को देने पड़े। 1717 में सम्राट फर्रुखसीयर ने पुराने सूबेदारों द्वारा दी गई व्यापारिक रियायतों की पुन: पुष्टि कर दी तथा उन्हें कलकत्ता के आस–पास के अन्य क्षेत्रों को भी किराए पर लेने की अनुमति दे दी।

1714 में बिहार का नायब सूबेदार अलीवर्दी खां बंगाल, बिहार तथा उड़ीसा के नायब सरफराज खां से विद्रोह कर, उसे युद्ध में मार कर स्वयं इस समस्त प्रदेश का नवाब बन गया। अपनी स्थिति को और भी सुदृढ़ करने के लिए उसने सम्राट मुहम्मद शाह से बहुत से धन के बदले एक पुष्टि पत्र (confirmation) प्राप्त कर लिया। परन्तु उसी समय मराठा आक्रमणों ने विकट रूप धारण कर लिया तथा अलीवर्दी खां के शेष 15 वर्ष उनसे भिड़ने में व्यतीत हो गए। मराठा आक्रमणों से बचने के लिए अंग्रेजों ने नवाब की अनुमति से अपनी कोठी जिसे अब फोर्टविलियम की संज्ञा दे दी गई थी, के चारों ओर एक गहरी खाई (moat) बना ली। अलीवर्दी खां का ध्यान कर्नाटक की घटनाओं की ओर आकर्षित किया गया जहां विदेशी कम्पनियों ने समस्त सत्ता हथिया ली थी। अंग्रेज बंगाल में जड़ न पकड़ लें, इस डर से उसे कहा गया कि वह अंग्रेजों को बंगाल से पूर्णरूपेण निष्कासित कर दे।

नोट

नोट्स नवाब ने यूरोपियों को मधुमक्खियों की उपमा दी थी कि यदि उन्हें न छेड़ा जाए तो वे शहद देंगी और यदि छेड़ा जाए तो वे काट-काट कर मार डालेंगी।

अलीवर्दी खां की मृत्यु (9/4/1756) के पश्चात् उसका दौहित्र सिराजुद्दौला उसका उत्तराधिकारी बना। नए नवाब को अपने प्रतिद्वन्द्वी पूरनिया के नवाब शौकतजंग और अपनी मौसी घसीटी बेगम के अतिरिक्त अंग्रेजों से भी निबटना था दूसरी ओर अंग्रेजों को आंग्ल-फ्रांसीसी युद्ध की आशंका थी अतएव उन्होंने कलकत्ता में फोर्ट विलियम की किलाबन्दी (fortifications) कर ली तथा उसके परकोटे (ramparts) पर तोपें चढ़ा दीं। उधर अंग्रेजों को इन जघन्य कार्यों से रोका तो उन्होंने टालमटोल की। सिराज ने देखा कि उसकी आज्ञा का उसी के राज्य में उल्लंघन हो रहा है तो उसने अंग्रेजों के विरुद्ध अभियान किया। फिलिप बुडरफ का यह कथन कि नवाब का फोर्ट विलियम पर आक्रमण का मुख्य उद्देश्य लूटमार करना था, पूर्णतया असत्य है। 15 जून, 1756 को फोर्ट विलियम घेर लिया गया तथा 5 दिन पश्चात् उसने आत्मसमर्पण कर दिया। गवर्नर रॉजर ड्रेक तथा अन्य प्रमुख नागरिक पृष्ठ द्वार से निकल भागे। नवाब कलकत्ता को मानिकचन्द के हाथ दे कर स्वयं मुर्शिदाबाद लौट गया।

ब्लैक होल (Black Hole): यहां बहुचर्चित ब्लैक होल घटना का उल्लेख आवश्यक है। युद्ध की आम प्रणाली के अनुसार अंग्रेजी बन्दियों को जिसमें स्त्रियां तथा बालक भी सम्मिलित थे, एक कक्ष में बन्द कर दिया गया। कहा जाता है कि 18 फुट लम्बे तथा 14 फुट 10 इंच चौड़े कक्ष में 146 बन्दी बन्द कर दिए। 20 जून की रात्रि को यह बन्द किए गए तथा अगले प्रात: उनमें से केवल 23 व्यक्ति ही बच पाए। शेष उस जून की गरमी तथा घुटन अथवा एक-दूसरे से कुचले जाने के कारण मर गए थे।

सिराजुद्दौला को इस घटना के लिए उत्तरदायी माना जाता है। जे.जैड. हॉलवैल जो शेष जीवित रहने वालों में से एक थे तथा इस कथा के रचयिता माने जाते हैं, ने इस घटना में मरने वालों के नाम नहीं दिये। सम्भवत: उन्हें रक्षक कक्ष अथवा दुर्ग की जेल में ही बन्द किया गया था। दूसरे, इन बन्दियों को एक निम्न स्तरीय अधिकारी ने ही बन्द किया होगा अतएव नवाब इसके लिए उत्तरदायी कैसे हो सकता है। नवाब का इतना दोष अवश्य था कि उसने दोषी व्यक्ति को दण्ड नहीं दिया। उसने जीवित व्यक्तियों के प्रति भी कोई विशेष दया नहीं दिखाई। इस घटना को कोई महत्त्व नहीं दिया गया तथा समकालीन मुस्लिम इतिहासकार गुलाम हुसैन ने अपनी पुस्तक सियार-उल-मुत्खैरीन में इसका कोई उल्लेख नहीं किया। परन्तु ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने इस घना को नवाब के विरुद्ध लगभग 7 वर्ष तक चलते रहने वाले आक्रामक युद्ध के लिए प्रचार का कारण बनाए रखा तथा अंग्रेजी जनता का समर्थन प्राप्त कर लिया। यह घटना इसके पश्चात् होन वाले प्रतिकार के लिए विशेष महत्त्व रखती है।

प्लासी का युद्ध (Battle of Plassy): ज्योंही कलकत्ता के पतन का समाचार मद्रास पहुंचा, वहां के अधिकारियों ने एक सेना जो उन्होंने फ्रांसीसियों के विरुद्ध युद्ध के लिए गठित की थी, क्लाइव के नेतृत्व में कलकत्ते भेज दी। क्लाइव को अपना कार्य शीघ्रातिशीघ्र पूर्ण करने को कहा गया क्योंकि यह सेना फ्रांसीसियों के विरुद्ध युद्ध के लिए मद्रास में चाहिए थी। यह सेना 16 अक्टूबर को मद्रास से चली और 14 दिसम्बर को बंगाल पहुंची। नवाब के प्रभारी अधिकारी मानिकचन्द ने घूस लेकर, कलकत्ता अंग्रेजों को सौंप दिया। फरवरी 1757 में नवाब ने क्लाइव से अलीनगर (नवाब द्वारा दिया कलकत्ता का नया नाम) की सन्धि पर हस्ताक्षर किए। इसके अनुसार, अंग्रेजों की व्यापार के पुराने अधिकार मिल गए जिसमें कलकत्ता की किलाबन्दी करने की अनुमति भी प्राप्त हो गई। उनकी क्षतिपूर्ति का भी प्रण किया गया। अब अंग्रेज आक्रान्ता की भूमिका में थे। नवाब के प्रमुख अधिकारी उससे असन्तुष्ट थे। क्लाइव ने इसका लाभ उठाकर एक षड्यन्त्र रचा जिसमें नवाब का प्रधान सेनापति मीर जाफर, बंगाल का एक प्रभावशाली साहूकार जगत सेठ, रायदुर्लभ तथा अमीनचन्द एक बिचौलिए के रूप में सम्मिलित हुए। निश्चय हुआ कि मीर जाफर को नवाब बना दिया जाए और वह इसके लिए कम्पनी को कृतार्थ करेगा तथा उसकी हानि की क्षतिपूर्ति भी करेगा।

नोट

अंग्रेजों ने मार्च 1757 में फ्रांसीसी बस्ती चन्द्रनगर को जीत लिया। नवाब इससे बहुत क्रुद्ध हुआ। एक ऐसे समय जब नवाब को उत्तर-पश्चिम की ओर से अफगानों तथा पश्चिम की ओर से मराठों का भय था, ठीक उसी समय क्लाइव ने सेना सहित नवाब के विरुद्ध मुर्शिदाबाद की ओर प्रस्थान किया। 23 जून, 1757 को प्रतिद्वन्दी सेनाएँ मुर्शिदाबाद के दक्षिण में 22 मील की दूरी पर स्थित प्लासी गांव में आमों के निकुंज में टकराईं। अंग्रेजी सेना में 950 यूरोपीय पदाति, 100 यूरोपीय तोपची, 50 नाविक तथा 2100 भारतीय सैनिक थे। नवाब की 50,000 सेना का नेतृत्व विश्वासघाती मीर जाफर कर रहा था। नवाब की एक अग्रगामी टुकड़ी जिसके नेता मीर मदान तथा मोहन लाल थे, अंग्रेजों से बाजी ले ली गई और उसने क्लाइव को वृक्षों के पीछे शरण लेने पर बाध्य कर दिया। सहसा एक गोली से मीर मदान मारा गया। नवाब सिराजुद्दौला ने अपने प्रमुख अधिकारियों से मन्त्रणा की। मीर जाफर ने उसे पीछे हटने को कहा तथा यह भी कहा गया कि सिराज को सेना का नेतृत्व जरनैलों के हाथों में छोड़, युद्धक्षेत्र से चला जाना चाहिए। चाल चल गई। सिराज 2000 घुड़सवारों सहित मुर्शिदाबाद लौट गया। फ्रांसीसी टुकड़ी जो अभी तक जमी हुई थी, शीघ्र हार गई। मीर जाफर 25 जून को मुर्शिदाबाद लौट गया तथा उसने अपने आपको नवाब घोषित कर दिया। सिराज को बन्दी बना लिया गया तथा उसकी हत्या कर दी गई। मीर जाफर ने अंग्रेजों को उनकी सेवाओं के लिए 24 परगनों की जमींदारी से पुरस्कृत किया और क्लाइव को 2,34,000 पाऊंड की निजी भेंट दी। 50 लाख ₹ सेना तथा नाविकों को पुरस्कार के रूप में दिए। बंगाल की समस्त फ्रांसीसी बस्तियां अंग्रेजों को दी दीं। यह भी निश्चित हुआ कि भविष्य में अंग्रेज पदाधिकारियों तथा व्यापारियों को निजी व्यापार पर कोई चुंगी नहीं देनी होगी। इस प्रकार 1756 में हुई हानि के लिए अंग्रेजों की पर्याप्त क्षतिपूर्ति की गई।

प्लासी के युद्ध का महत्त्व: प्लासी के युद्ध का सामरिक महत्त्व कुछ नहीं था। यह एक छोटी सी झड़प थी जिसमें कम्पनी के कुल 65 व्यक्ति तथा नवाब के 500 व्यक्ति काम आये। अंग्रेजों ने किसी विशेष सामरिक योग्यता तथा चातुर्य का प्रदर्शन नहीं किया। नवाब के साथियों ने विश्वासघात किया। मीर मदान के वीर गति प्राप्त करने के पश्चात् विश्वासघातियों का ही बोलबाला था। यदि मीर जाफर तथा राय दुलर्भ राजभक्त रहते तो युद्ध का परिणाम भिन्न होता।

सम्भवत: कूटनीति में क्लाइव दक्ष था। उसने जगत सेठ को भय दिखाया, मीर जाफर की महत्त्वकांक्षाओं को जगाया तथा बिना लड़े ही युद्ध जीत लिया। के॰एम॰ पन्निकर के अनुसार यह एक सौदा था जिसमें बंगाल के धनी सेठों तथा मीर जाफर ने नवाब को अंग्रेजों के हाथ बेच डाला।

प्लासी का युद्ध उसके पश्चात् होने वाली घटनाओं के कारण ही महत्त्वपूर्ण है। बंगाल अंग्रेजों के अधीन हो गया और फिर स्वतंत्र नहीं हो सका। नया नवाब मीर जाफर अपनी रक्षा तथा पद के लिए अंग्रेजों पर निर्भर था। उनकी 6000 सेना उसकी रक्षा के हेतु बंगाल में स्थित थी। शनै: शनै: समस्त शक्ति कम्पनी के हाथों मे चली गई। उसकी असमर्थता का अनुमान इस बात से लगा सकते हैं कि वह दीवान राय दुर्लभ तथा राम नारायण को उनके विश्वासघात के लिए दण्डित करना चाहता था परन्तु कम्पनी ने उसे रोक दिया। अंग्रेज रेजिडेंट वाट्स का विशेष प्रभाव था। मुसलमान इतिहासकार गुलाम हुसैन लिखता है कि पदोन्नति के लिए केवल अंग्रेज का समर्थन आवश्यक था। शीघ्र ही मीर जाफर अंग्रेजों के जुए से दु:खी हो गया। वह डच लोगों से मिलकर अंग्रेजों को बाहर निकालने का षड्यंत्र रचने लगा। क्लाइव ने इस षड्यंत्र को नवम्बर 1759 में लड़े, बेदारा के युद्ध में डच लोगों को परास्त कर विफल कर दिया। जब मीर जाफर ने भावी घटनाओं को समझने से इन्कार कर दिया तो उसे 1760 में कम्पनी के मनोनीत व्यक्ति मीर कासिम के लिए स्थान छोड़ना पड़ा।

प्लासी के युद्ध तथा उसके पश्चात् होने वाली लूट ने (क्योंकि उसके पश्चात् होने वाले व्यापार को हम केवल लूट की संज्ञा ही दे सकते हैं) अंग्रेजों को अनन्त साधनों का स्वामी बना दिया। पहली किस्त जो अंग्रेजों को मिली वह 8 लाख पौड की थी जो चांदी के सिक्कों के रूप में ही थी। मैकॉले के अनुसार यह धन कलकत्ता को एक सौ से अधिक नावों में भर कर लाया गया। बंगस उस समय भारत का सबसे धनाढ्य प्रान्त था और उद्योग तथा व्यापार में सबसे आगे था। 1767 में वेरेल्स्ट लिखता है कि बंगाल समस्त भारत का व्यापार केन्द्र है जहाँ सारा धन खिंचा चला आता है। यहाँ की बनी वस्तुएँ भारत के दूरस्थ प्रदेशों में बिकती हैं। बंगाल के इस अनन्त धन की सहायता से ही अंग्रेजों

नोट

ने दक्कन विजय कर लिया तथा उत्तरी भारत को भी प्रभाव में ले आए।

कम्पनी की स्थिति का भी कायाकल्प हो गया। पहले वह बहुत सी विदेशी कम्पनियों में से एक थी जिसे नवाब के अधिकारियों को धन देना पड़ता था। अब उसका बंगाल के व्यापार पर एकाधिकार हो गया। फ्रांस को पुनः अपनी खोई हुई स्थिति को प्राप्त करने का अवसर नहीं मिला। डचों ने 1759 में एक प्रयत्न किया तथा मुंह की खाई। अंग्रेज व्यापार के एकाधिकार से राजनैतिक एकाधिकार की ओर बढ़े।

भारत के भाग्य पर प्लासी के युद्ध का अत्यधिक प्रभाव पड़ा। मालेसन के अनुसार सम्भवतः इतिहास मे इतना प्रभावित करने वाला युद्ध नहीं लड़ा गया। यह अतिशयोक्ति है जब वह आगे चलकर यह कहते हैं कि इस युद्ध के कारण इंग्लैण्ड मुस्लिम संसार की सबसे बड़ी शक्ति बन गया। प्लासी के युद्ध के कारण ही इंग्लैण्ड पूर्वी समस्या में विशेष भूमिका निभाने लगा। इसी के कारण उसे मॉरीशस तथा आशा अन्तरीप को विजय करने तथा उन्हें अपना उपनिवेश बनाने पर बाध्य होना पड़ा तथा मिस्र को अपने संरक्षण में लेना पड़ा। परन्तु निश्चय ही भारत पर अधिकार प्राप्त करने की शृंखला में यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कड़ी थी।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

1. सही विकल्प चुनिए- (Choose the correct options)

   1. अंग्रेजों ने अपनी प्रथम कोठी (गोदाम) हुगली में स्थापित की-
      (क) सन् 1651 में (ख) 1653 में (ग) 1654 में (घ) 1660 में

   2. 1717 में किसने पुराने सूबेदारों द्वारा दी गयी व्यापारिक रियायतों को अंग्रेजों को पुनः स्वीकृति दे दी-
      (क) सिराजुद्दौला (ख) अलीवर्दी खाँ (ग) फर्रुखसीयर (घ) मीर जाफर

   3. किस नवाब ने अंग्रेजों की तुलना मधुमक्खियों से की-
      (क) मीर जाफर (ख) अलीवर्दी खाँ (ग) सिराजुद्दौला (घ) मीर कासिम

   4. मीर जाफर ने अपने आप को नवाब घोषित किया-
      (क) 26 जून (ख) 28 जून (ग) 25 जून (घ) 24 जून

   5. प्लासी का युद्ध कब लड़ा गया?
      (क) 20 जून, 1757 (ख) 22 जून, 1757 (ग) 23 जून, 1757 (घ) 24 जून, 1757

1.3 मीर जाफर एवं मीर कासिम (Mir Jaffer and Mir Qasim)

मीरजाफर (1757-1760): 30 जून, 1757 ई. को क्लाइव ने मुर्शिदाबाद में मीरजाफर को बंगाल के नवाब के पद पर आसीन कराया। इसी समय से बंगाल में कंपनी ने **नृप निर्माता** की भूमिका की शुरुआत की। बंगाल की नवाबी प्राप्त करने के उपलक्ष्य में मीर जाफर ने कंपनी को **'24 परगना'** की जमींदारी पुरस्कार के रूप में दिया। मीरजाफर ने अंग्रेजों को उनकी सेवा के बदले ढेर सारा पुरस्कार दिया। क्लाइव को उसने 2 लाख 34 हजार पौण्ड की व्यक्तिगत भेंट, 50 लाख रुपया सेना तथा नाविकों को पुरस्कार के रूप में तथा बंगाल की सभी फ्रांसीसी बस्तियों को जाफर ने अंग्रेजों को सौंप दिया। मीर जाफर एक दुर्बल, दुविधाग्रस्त और राजनीतिक एवं प्रशासनिक अक्षमताओं से युक्त व्यक्ति था जिसके कारण शीघ्र ही उसके शक्तिशाली हिन्दू सहयोगी राजा रामनारायण (बिहार) और दीवान दुर्लभराय उसके विरोधी बन गये। मीरजाफर के बारे में कहा जाता है कि उसने अंग्रेजों को इतना अधिक धन दिया कि उसे अपने महल के सोने-चाँदी के बर्तन भी बेचने पड़े। **कर्नल मेलसेन** के अनुसार "कंपनी के अधिकारियों का यह उद्देश्य था कि जितना हो सके उतना हड़प लो, मीरजाफर को एक सोने की बोरी के रूप में इस्तेमाल करो और जब भी इच्छा हो उसमें

नोट

हाथ डालो।" कालांतर में मीरजाफर के अंग्रेजों से सम्बन्ध अच्छे नहीं हरे क्योंकि नवाब के प्रशासनिक कार्यों में अंग्रेजों का हस्तक्षेप अधिक बढ़ गया, साथ ही मीरजाफर डचों के साथ अंग्रेजों के विरुद्ध षड्यंत्र करने लगा। अंग्रेजी सरकार के खर्च में दिन प्रतिदिन हो रही बेतहासा वृद्धि और उसे वहन न कर पाने के कारण मीरजाफर ने अक्टूबर, 1760 ई. में अपने दामाद **मीरकासिम** के पक्ष में सिंहासन त्याग दिया। मुर्शिदाबाद में मीरजाफर को 'कर्नल क्लाइव का गीदड़' कहा जाता था। मीरजाफर के शासन काल में ही अंग्रेजों ने 'बांटो और राज करो' की नीति को जन्म देते हुए एक गुट को दूसरे गुट से लड़ाने की शुरुआत की। क्लाइव के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करने हेतु मीरजाफर ने तत्कालीन मुगल बादशाह आलमगीर द्वितीय से क्लाइव को उमरा की उपाधि और 24 परगना की जमींदारी प्रदान करवायी। 24 परगना की जागीर को 'क्लाइव की जागीर' के नाम से जाना जाता था।

मीरकासिम (1760–1765): मीरकासिम अलीवर्दी के उत्तराधिकारियों में सर्वाधिक योग्य था। राज्यारोहण के तत्काल बाद उसे मुगल सम्राट शाहआलम द्वारा बिहार पर (1760–61) आक्रमण का सामना करना पड़ा, कंपनी की सेना ने सम्राट को पराजित कर उसकी स्थिति को दयनीय बना दिया। नवाबी पाने के बाद कासिम ने बेंसिटार्ट को 5 लाख, हॉलवेल को 2 लाख, 70 हजार और कर्नल केलॉड को 4 लाख रुपये उपहार स्वरूप दिया। कंपनी तथा उसके अधिकारियों को भरपूर मात्रा में धन देकर मीरकासिम अंग्रेजों के हस्तक्षेप से बचने के लिए शीघ्र ही अपनी राजधानी को मुर्शिदाबाद से मुंगेर हस्तांतरित कर लिया। मीरकासिम ने राजस्व प्रशासन में व्याप्त भ्रष्टाचार को खत्म करने एवं आमदनी बढ़ाने हेतु कई उपाय अपनाये जिसमें प्रमुख हैं– अधिक धन वालों का धन जब्त करना, सरकारी खर्च में कटौती, कर्मचारियों की छंटनी, नये जमींदारों से बकाया धन की वसूली आदि। मीरकासिम ने बिहार के नायब सूबेदार रामनारायण को उसके पद से बर्खास्त कर उसकी हत्या करवा दी क्योंकि वह बिहार के आय और व्यय का ब्यौरा देने के लिए तैयार नहीं था। सैन्य व्यवस्था में सुधार करने के उद्देश्य से मीरकासिम ने अपने सैनिकों की संख्या में वृद्धि की, साथ ही उन्हें यूरोपीय ढंग से प्रशिक्षित किया। इसने अपनी सेना को गुर्गिन खां नामक आर्मेनियाई के नियंत्रण में रखा। मुंगेर में मीरकासिम ने तोपों तथा तोड़ेदार बंदूकों के निर्माण हेतु कारखाने की स्थापना की।

1717 में मुगल बादशाह द्वारा प्रदत्त व्यापारिक फरमान का इस समय बंगाल में दुरुपयेाग देखकर नवाब मीरकासिम ने आंतरिक व्यापार पर सभी प्रकार के शुल्कों की वसूली बंद करवा दी।

1762 में मीरकासिम द्वारा समाप्त की गई व्यापारिक चुंगी और कर का लाभ अब भारतीयों को भी मिलने लगा, पहले यह लाभ 1717 के फरमान द्वारा केवल कंपनी को मिलता था, कंपनी ने चुनाव के इस निर्णय को अपने विशेषाधिकार की अवहेलना के रूप में लिया। परिणामस्वरूप संघर्ष की शुरुआत हुई। 1763 जुलाई में मीरकासिम को कंपनी ने बर्खास्त कर मीरजाफर को पुनः बंगाल का नवाब बनाया। 19 जुलाई, 1763 को मीरकासिम और एडम्स के नेतृत्व में करवा नामक स्थान पर **'करवा का युद्ध'** हुआ जिसमें नवाब (अपदस्थ) पराजित हुआ। करवा के युद्ध के बाद और बक्सर के युद्ध से पूर्व मीरकासिम को अंग्रेजों ने तीन बार पराजित किया, परिणामस्वरूप कासिम ने मुंगेर छोड़कर पटना में शरण ली। 1763 में हुए पटना हत्याकाण्ड, जिसमें कई अंग्रेज मारे गये, से मीरकासिम प्रत्यक्ष रूप से जुड़ा था। अंग्रेजों द्वारा बार–बार पराजित होने के कारण मीरकासिम ने एक सैनिक गठबंधन बनाने की दिशा में प्रयास किया। कालांतर में मुगल सम्राट शाहआलम द्वितीय, अबध के नवाब शुजाउद्दौला और मीरकासिम ने मिलकर अंग्रेजों के विरुद्ध एक सैन्य गठबंधन का निर्माण किया।

1.4 क्लाइव का द्वैध शासन और 1757 से 1772 के दौरान बंगाल में अंग्रेज (Clive's 2nd Governorship and English in Bengal from 1757-1772)

बंगाल की व्यवस्था: दोहरी प्रणाली (Settlement of Bengal: The Dual System): क्लाइव ने बंगाल की उलझन को कुख्यात दोहरी प्रणाली द्वारा सुलझाने का प्रयत्न किया। इसमें वास्तविक शक्ति तो कम्पनी के पास थी परन्तु प्रशासन का भार नवाब के कन्धों पर था।

मुगल साम्राज्य के स्वर्ण काल से ही प्रान्तों में दो मुख्य अधिकारी होते थे, सूबेदार तथा दीवान। सूबेदार का कार्य निजामत

नोट

अर्थात् सैनिक संरक्षण, पुलिस तथा फौजदारी कानून लागू करना, तथा दीवान का कार्य कर व्यवस्था तथा दीवानी कानून लागू करना था। ये दोनों अधिकारी एक दूसरे पर नियंत्रण का काम भी करते थे तथा सीधे केन्द्रीय सरकार के प्रति उत्तरदायी थे। औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् मुगल सत्ता क्षीण हो गयी तथा बंगाल का नवाब मुर्शिद कुली खाँ दीवानी तथा निजामत दोनों कार्य करता था।

12 अगस्त, 1756 के फरमान के अनुसार आलम ने 26 लाख ₹ वार्षिक के बदले दीवानी का भार कम्पनी को सौंप दिया। कम्पनी को 53 लाख ₹ निजामत के कार्य के लिए भी देने थे। फरवरी 1756 में अपने पिता मीर जाफर की मृत्यु पर नजमुद्दौला को नवाब बनाने की अनुमति दे दी गई परन्तु शर्त यह थी कि निजामत का लगभग समस्त कार्य भार, अर्थात् सैनिक संरक्षण तथा विदेशी मानले पूर्णतया कम्पनी के हाथों में तथा दीवानी मामले डिप्टी सूबेदार, जिनको कम्पनी मनोनीत करेगी तथा जिसे कम्पनी की अनुमति के बिना हटाया नहीं जा सकेगा, सौंप दे। इस प्रकार कम्पनी का मुगल सम्राट से दीवानी तथा बंगाल के सूबेदार से निजामत का कार्यभार मिल गया।

इस समय कम्पनी सीधे कर संग्रह करने का भार न तो लेना चाहती थी और न ही उसके पास ऐसी क्षमता थी। कम्पनी ने दीवानी कार्य के लिए दो उपदीवान, बंगाल के लिए मुहम्मद रजा खाँ तथा बिहार के लिए राजा शिताब राय नियुक्त कर दिए। मुहम्मद रजा खाँ उपनिजाम के रूप में भी कार्य करते थे। इस प्रकार समस्त दीवानी तथा निजामत का कार्य भारतीयों द्वारा ही चलता था यद्यपि उत्तरदायित्व कम्पनी का था। इस व्यवस्था को दोहरी प्रणाली की संज्ञा दी गई अर्थात् दो राजे, कम्पनी तथा नवाब। व्यावहारिक रूप में यह व्यवस्था खोखली सिद्ध हुई क्योंकि समस्त शक्ति तो कम्पनी के पास थी तथा भारतीय अधिकारी केवल बाहरी मुखौटा मात्र ही थे।

क्लाइव की दोहरी प्रणाली का औचित्य: क्लाइव समझता था कि समस्त शक्ति कम्पनी के पास है तथा नवाब के पास सत्ता की केवल छाया ही है। उसने प्रवर समिति (Select Committee) को लिखा था: "यह नाम, यह छाया आवश्यक है तथा हमें इसको स्वीकार करना चाहिए।" इसके पक्ष में उसने निम्नलिखित कारण दिए:-

1. यदि कम्पनी स्पष्ट रूप से राजनैतिक सत्ता हाथ में ले लेती है तो उसका वास्तविक रूप लोगों के सम्मुख आ जाएगा और सम्भवत: सारे भारतीय इसके विरोध में एकत्रित हो जाएं।
2. सम्भवत: फ्रांसीसी, डच तथा डेन, विदेशी कम्पनियां सुगमता से कम्पनी की सूबेदारी को स्वीकार नहीं करेंगी तथा कम्पनी को वे कर इत्यादि नहीं देंगी जो नवाब के फरमानों के अनुसार उन्हें देने होते थे।
3. स्पष्ट राजनैतिक सत्ता हाथ में लेने से, इंग्लैण्ड तथा विदेशी शक्तियों के बीच कटुता आ जाती और सम्भवत: ये सभी शक्तियां इंग्लैण्ड के विरुद्ध एक मोर्चा खड़ा कर लें जैसा कि 1778-80 के बीच अमरीकी स्वतंत्रता संग्राम के समय हुआ।
4. इंग्लैण्ड के पास ऐसे प्रशिक्षित अधिकारी भी नहीं थे जो शासन का भार संभाल लेते। क्लाइव ने इंग्लैण्ड में अधिकारियों को यह लिखा था कि यदि हमारे पास तीन गुणा भी प्रशासनिक सेवा करने वाले लोग हों तो भी वे इस कार्य के लिए पर्याप्त नहीं होंगे। जो थोड़े बहुत लोग कम्पनी के पास थे भी, वे भारतीय रीति-रिवाजों तथा भाषा से अनिभज्ञ थे।
5. कोर्ट ऑफ डाइरेक्टर्ज उस समय समस्त प्रदेश को ले लेने के पक्ष में नहीं था। क्योंकि इससे कम्पनी के व्यापार में बाधा पड़ने की सम्भावना थी। वे लोग प्रदेश के स्थान पर धन में अधिक रुचि रखते थे।
6. क्लाइव यह भी समझता था कि यदि वह बंगाल की राजनैतिक सत्ता हाथ में ले लेता तो सम्भवत: अंग्रेजी संसद कम्पनी के कार्य में हस्तक्षेप करना आरम्भ कर देगी।

दोहरी प्रणाली के दुष्परिणाम: प्रशासन की जो व्यवस्था क्लाइव ने स्थापित की वह अप्रभावी तथा अव्यावहारिक थी तथा इसने बंगाल में अराजकता तथा भ्रान्ति फैला दी। आरम्भ से ही यह असफल रही।

(क) प्रशासनिक व्यवधान (Administrative Breakdown): निजामत की शिथिलता के कारण देश में कानून और व्यवस्था लगीाग ठप्प हो गई। न्याय तो केवल विडम्बना मात्र रह गया। नवाब में कानून लागू करने तथा न्याय देने

नोट

की सामर्थ्य नहीं थी। कम्पनी प्रशासन के उत्तदायित्व को स्वीकार नहीं करती थी। ग्रामीण प्रदेशों में डाकू स्पष्ट रूप से घूमते थे तथा संन्यासी छापामारों (raiders) के कारण सरकार केवल नाम मात्र ही रह गई थी। 1858 में ब्रिटिश हाउस ऑफ कॉमन्ज में सर जॉर्ज ने कहा था, "मैं निश्चयपूर्वक यह कह सकता हूँ कि 1765–84 तक ईष्ट इण्डिया कम्पनी की सरकार से अधिक भ्रष्ट, झूठी तथा बुरी सरकार संसार के किसी भी सभ्य देश में नहीं थी।"

(ख) कृषि का ह्रास: भारत का अन्न भण्डार बंगाल अब उजाड़ बन चुका था। भूमि कर संग्रह करने का भार प्रति वर्ष अधिकाधिक बोली देने वाले को दे दिया जाता था जिसकी भूमि में स्थाई रूप से कोई अभिरूचि नहीं थी। वे अधिकाधिक लगान प्राप्त करते थे। बंगाल में कृषकों पर भूमि कर अधिक होता था तथा उसके संग्रह करने में भी बहुत कड़ाई होती थी। 1770 में एक अकाल पड़ा जिससे अत्यधिक जान तथा माल की हानि हुई उसे देख कम्पनी के एक पदाधिकारी ने इस प्रकार लिखा था, "आज जो करुणामय दृश्य देखने को मिलता है उसका वर्णन करना मनुष्य की शक्ति से परे है। यह निश्चित है कि कुछ प्रदेशों में लोगों ने मृतकों को खाया है।"

(ग) व्यापार तथा वाणिज्य का विघटन (Disruption of Trade and Commerce): कृषि की उपज में कमी से व्यापार तथा वाणिज्य पर भी कुप्रभाव पड़ा। 1717 से बंगाल में अंग्रेजो को कर के बिना व्यापार करने की अनुमति थी। इसके अनुसार कम्पनी के कलकत्ता स्थित गवर्नर की आज्ञा से कोई भी माल बिना निरीक्षण तथा बेरोकटोक, इधर-उधर जा सकता था। कर सम्बन्धी आज्ञा से सरकार को हानि हुई तथा भारतीय व्यापार भी नष्ट हो गया।

(घ) उद्योग तथा दक्षता का ह्रास (Ruination of Industry and Skill): बंगाल के कपड़ा उद्योग की बहुत हानि हुई। कम्पनी ने बंगाल के रेशम के उद्योग को निरुत्साहित करने का प्रयत्न किया क्योंकि इससे इंग्लैण्ड के रेशम के उद्योग को क्षति पहुंचती थी। 1769 में कम्पनी के डाइरेक्टरों ने कार्यकर्ताओं को आदेश दिए थे कि कच्चे सिल्क के उत्पादन को प्रोत्साहित करो तथा रेशमी कपड़ा बुनने को निरुत्साहित करे रेशम का धागा लपेटने वालों को कम्पनी के लिए काम करने पर बाध्य किया जाता था।

(ङ) नैतिक पतन: बंगाली समाज का नैतिक पतन भी आरम्भ हो गया था। कृषक ने अनुभव किया कि यदि वह अधिक उत्पादन करता है तो उसे अधिक कर देना पड़ता है अतएव केवल इतना ही उत्पादन करो जिससे केवल गुजारा हो सके। इसी प्रकार वह जुलाहा जो अपने परिश्रम का लाभ स्वयं नहीं भोग सकता था, अब उत्तम कोटि का उत्पादन करने को उद्यत नहीं था। कार्य की प्रेरणाा समाप्त हो गई तथा समाज निर्जीव हो गया तथा उसमें सड़न के लक्षण दीखने लगे।

1757 से 1772 के दौरान बंगाल में अंग्रेज: क्लाइव एक कृत संकल्प तथा साहसी व्यक्ति था। उसके दृढ़ संकल्प में उसके सैनिक गुणों की झलक भी मिलती है।

(अ) असैनिक सुधार: कम्पनी अब एक राजनैतिक संस्था बन चुकी थी। अतएव प्रशासनिक सुधारों की आवश्यकता थी। बंगाल की तीन क्रांतियों (1757, 1760 तथा 1764) के कारण गवर्नर, पार्षद तथा कम्पनी के अन्य कार्यकर्त्ता पूर्णतया भ्रष्ट बन चुके थे। प्रत्येक व्यक्ति को केवल धन एकत्रित करने की पड़ी थी। घूस, बेईमानी तथा अन्य उपहार लेने की परम्परा बन चुकी थी। कम्पनी के कार्यकर्ता निजी व्यापार करते थे तथा आन्तरिक करों से बचने के लिए दस्तक का प्रयोग करते थे। वे कम्पनी के हितों की नहीं सोचते थे। क्लाइव ने उपहार लेने बन्द कर दिए, निजी व्यापार बन्द कर दिया। आन्तरिक कर देना अनिवार्य बना दिया। इन प्रतिबन्धों से जो हानि हुई उसकी क्षतिपूर्ति के लिए अगस्त 1765 में कम्पनी के कार्यकर्त्ताओं की एक व्यापार समिति बना दी गई जिसको नमक, सुपारी तथा तम्बाकू के व्यापार का एकाधिकार दे दिया गया। यह निकाय उत्पादको से समस्त माल मोल लेकर निश्चित केन्द्रों पर यह माल खुदरा व्यापारियों को बेच देता था। इस व्यापार के लाभ कम्पनी के अधिकारियों को उनके पद के क्रमानुसार बांट दिया जाता था। उदाहरण के लिए गवर्नर को 17,500 पौंड, सेना के कर्नन को 7,000 पौंड, मेजर को 2,000 पौंड तथ अन्य कार्यकर्त्ताओं को कम धन मिल जाता था।

इस व्यवस्था के कारण सभी दैनिक प्रयोग की वस्तुओं के मोल बढ़ गए तथा बंगाल के लोगों को बहुत कठिनाई होने लगी। यह एक संगठित लूट थी। इस व्यापार समिति के कारण लोगों की कठिनाइयाँ बहुत बढ़ गईं। परन्तु कोर्ट ऑफ

नोट

डाइरेक्टर्ज ने 1766 में इस योजना को अस्वीकार कर दिया। जनवरी 1767 को क्लाइव ने इस आशय के आदेश दे दिए तथा सितम्बर 1768 में यह योजना समाप्त हो गई।

(ब) सैनिक सुधार: 1763 में कोर्ट ऑफ डॉयरेक्टर्ज ने सैनिकों का दोहरा भत्ता बन्द कर दिया था। किसी कारणवश क्लाइव के आने तक इस पर आचरण नहीं हुआ था। यद्यपि आरम्भ में यह दोहरा भत्ता केवल युद्ध के दिनों में ही दिया जाता था, परन्तु मीर जाफर के दिनों से यह शान्ति काल में भी मिलने लगा था। अब यह सैनिकों के वेतन का भाग बन चुका था। इस प्रकार बंगाल में सैनिकों को मद्रास के सैनिकों की अपेक्षा दुगुना भत्ता मिलता था। क्लाइव ने आज्ञा दी कि यह दोहरा भत्ता बन्द कर दिया जाए तथा जनवरी 1766 से यह भत्ता केवल उन सैनिकों को ही मिलता था जो बंगाल तथा बिहार की सीमा से बाहर कार्य करते थे।

1772 में कोर्ट ऑफ डाइरेक्टर्ज ने दोहरी प्रणाली को समाप्त करने का निर्णय किया तथा कलकत्ता परिषद तथा उसके प्रधान को आज्ञा दी कि वे स्वयं दीवान बनें और बंगाल, बिहार तथा उड़ीसा के प्रबन्ध को अपने हाथ में ले लें। वॉरेन हेस्टिंग्ज ने दोनों उपदीवानों, मुहम्मद रजा खाँ तथा राजा शिताब राय को पद्च्यूत कर दिया। परिषद तथा प्रधान मिलकर अब राजस्व बोर्ड (Board of Revenue) बन गए तथा बोर्ड ने अपने कर संग्राहक नियुक्त कर दिए जिनका कार्य कर व्यवस्था करना था। कोष मुर्शिदाबाद से कलकत्ता लाया गया। समस्त प्रशासन का बोझ कम्पनी के कार्यकर्त्ताओं पर डाल दिया गया तथा नवाब को इस कार्य का लेश मात्र भी अधिकार नहीं रहा। नवाब की अपनी स्वायत्तता थी परन्तु उसके निजी गृह-प्रबन्ध का पुनर्गठन किया गया और मीर जाफर की विधवा मुन्नी बेगम अल्पवयस्क नवाब मुबारिकुद्दौला की संरक्षक नियुक्त की गई। उसका भत्ता 32 लाख से घटा कर 16 लाख ₹ कर दिया। फिर हेस्टिंग्ज ने मुगल सम्राट से अपने सम्बन्धों को पुन: स्पष्ट किया। 1765 से दिया जाने वाला 26 लाख ₹ वार्षिक बन्द कर दिया गया। सम्राट को दिए हुए इलाहाबाद तथा कारा के जिसे पुन: ले लिए गए तथा 50 लाख ₹ में अवध के नवाब को बेच दिए गए। यद्यपि बाह्य रूप से यह कहा गया कि सम्राट ने मराठों का संरक्षण स्वीकार कर लिया है परन्तु वास्तविक कारण केवल धन एकत्रित करना था। सम्राट के साथ यह सभी निर्णय एकपक्षीय तथा अन्यायपूर्ण थे। उसे कभी भी यह चेतावनी नहीं दी गई थी कि यदि वह मराठों का संरक्षण लेगा तो यह सब कुछ होगा। वॉरेन हेस्टिंग्ज का यह कार्य सर्वथा अन्यायपूर्ण ही था।

भूमि कर सुधार: 18वीं शताब्दी के आरम्भिक वर्षों में अकबर तथा अन्य मुगल सम्राटों की स्थापित की हुई कर-व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो चुकी थी। अब सर्वत्र अव्यवस्था थी।

वॉरेन हेस्टिंग्ज का विश्वावस था कि समस्त भूमि शासक की है। उसने अनिश्चित संयुक्त तथा पुश्तैनी अधिकारों की अवहेलना की। जमींदारों को केवल कर संग्रहकर्त्ता ही माना जिन्हें कृषकों से कर संग्रह करने के लिए केवल अपनी आढ़त (commission) का ही अधिकार था।

सन्तोषजनक राजस्व व्यवस्था स्थापित करने के लिए उसने सुप्रसिद्ध परीक्षण तथा अशुद्धि (trial and error) का नियम अपनाया।

1772 में वॉरेन हेस्टिंग्ज ने कर संग्रहण के अधिकार ऊंची बोली वाले को पांच वर्ष के लिए नीलाम कर दिए। इस तर्क पर कि जमींदार भूमि का स्वामी नहीं है, उसे नीलामी में कोई श्रेष्ठता नहीं दी गई अपितु उसके मार्ग में बाधा डाली गई।

न्यायिक सुधार-वॉरेन हेस्टिंग्ज ने मुगल रूपरेखा पर आधारित न्याय प्रणाली को अपनाने का प्रयत्न किया। 1772 में प्रत्येक जिले में एक दीवानी तथा एक फौजदारी न्यायालय स्थापित कर दिया गया। दीवानी न्याय कलक्टरों के अधीन होता था। वे सभी प्रकार के मामले सुनते थे। हिन्दू विधि तथा मुसलमानों पर मुस्लिम विधि लागू होती थी। 500 ₹ तक के मामले सुने जा सकते थे। उससे ऊपर सदर दीवानी अदालत में अपील हो सकती थी जिसके अध्यक्ष, सर्वोच्च परिषद् के प्रधान तथा दो अन्य सदस्य होते थे। उनकी सहायता के लिए भारतीय अधिकारी होते थे।

जिला फौजदारी अदालत एक भारतीय अधिकारी के अधीन होती थी जिसकी सहायता के लिए मुफ्ती और एक काजी होता था। कलक्टर को यह देखना होता था कि साक्षी ठीक से ली गयी तथा उस पर ठीक-ठीक विचार किया गया है।

नोट

न्याय खुली अदालत में होता था। यहां मुस्लिम कानून लागू होता था। मृत्युदण्ड तथा सम्पत्ति की जब्ती के लिए सदर निजामत अदालत को प्रमाणित करना (confirmation) आवश्यक था। जिला निजामत अदालत से अपील सदर निजामत अदालत में होती थी, जिसका अध्यक्ष उपनाजिम होता था। एक मुख्य काजी, एक मुख्य मुफ्ती तथा तीन मौलवी भी उसकी सहायता करते थे। इस सदर निजामत अदालत के कार्य का निरीक्षण परिषद तथा उसके अध्यक्ष करते थे।

क्लाइव का मूल्यांकन: भारत में अंग्रेजी साम्राज्य का वास्तविक संस्थापक क्लाइव ही था। उसने समय की गति को समझा तथा वह ठीक दिशा में बढ़ा। उसने अपने प्रतिद्वन्द्वी डूप्ले को मात दी तथा अधिक स्थायी परिणाम प्राप्त किए। उसका अरकाट को घेरना (1751) एक अत्यन्त कुशलतापूर्ण चाल थी जिससे कर्नाटक में फ्रांसीसियों के विरुद्ध पांसा पलट गया। (1757) के प्लासी के युद्ध में विजय के पश्चात् नवाब उसकी एक कठपुतली बन गया। बंगाल में साधनों का उपयोग करके उसने दक्षिण भारत को विजय कर लिया तथा फ्रांसीसियों को यहां से निकाल दिया। सर्वोपरि बात यह थी कि उसने व्यापारिक संस्था को प्रादेशिक संस्था बना दिया। बंगाल में इसकी भूमिका सम्राट-निर्माता की थी। जब 1765 में वह पुन: बंगाल आया तो उसने कम्पनी की नींव को दृढ़ बना दिया। सत्य ही बर्क ने उसी "बड़ी-बड़ी नींवें रखने वाला" की संज्ञा दी है।

एक आधुनिक अध्ययन में पर्सीवल स्पीयर ने क्लाइव के विषय में कहा है कि "भारत में अंग्रेजी साम्राज्य तो बन ही जाता परन्तु उसका स्वरूप भिन्न होता तथा उसमें समय भी अधिक लगता।" उसके अनुसार, क्लाइव भारत में अंग्रेजी साम्राज्य का निर्माता ही नहीं अपितु भविष्य का अग्रदूत था। वह साम्राज्य का संयोजक नहीं अपितु उसमें नए-नए प्रयोग करने वाला था जिसने नई सम्भावनाओं का पता लगाया। क्लाइव भारत में अंग्रेजी साम्राज्य का अग्रमामी था।"

क्लाइव की धन-लोलुपता तथा कुटिलता के आलोचक भी थे। अंग्रेजी संसद में उस पर बहुत से दोष लगाए गए कि उसने अवैध ढंग से उपहार प्राप्त किए, एक अशुद्ध परम्परा स्थापित की जिससे बंगाल में 1760 तथा 1764 की क्रांतियां हुईं। उसने सोसाइटी फॉर ट्रेड बनाकर बंगाल को लूटने की योजना बनाई। दोहरी प्रणाली का उद्देश्य अंग्रेजी शक्ति की स्थापना था न कि जनता का हित। बंगाल को ईस्ट इण्डिया कम्पनी की जागीर बना दिया गया। सरदार के. एम. पन्निकर ने सत्य ही कहा है कि 1765 से 1772 तक कम्पनी ने बंगाल में "डाकुओं का राज्य" स्थापित कर दिया तथा बंगाल को अविवेक रूप से लूटा। इस अवधि में अंग्रेजी साम्राज्य का सबसे भौंडा रूप देखने को मिला तथा बंगाल की जनता ने बहुत दु:ख उठाया।

क्लाइव एक राजनीतिज्ञ सिद्ध नहीं हुआ। व अन्तर्दर्शी तो था परन्तु दूरदर्शी नहीं। उसके प्रशासनिक सुधारों के कारण उसके उत्तराधिकारियों के लिए बहुत सी कठिनाइयाँ खड़ी हो गईं। प्राय: यह कहा जाता है कि भारत में अंग्रेजी साम्राज्य की स्थापना का मुख्य उद्देश्य शान्ति तथा व्यवस्थाा बनाना था। इस कार्य में क्लाइव का कोई योगदान नहीं था। वस्तुत: उसके कार्य से अव्यवस्था ही फैली, व्यवस्था नहीं।

टास्क बंगाल में स्थापित द्वैध शासन से आप क्या समझते हैं?

1.5 मैसूर एवं ब्रिटिश विस्तार का इससे प्रतिरोध (Mysore and its Resistance to British Expansion)

18वीं शताब्दी में समस्त भारत में साहसी वीर सैनिकों के लिए उत्थान के लिए उत्थान के पर्याप्त अवसर थे। इसी प्रकार का एक वीर योद्धा हैदर अली (जन्म 1727) था। उसने अपना जीवन एक घुड़सवार के रूप में आरम्भ किया और फिर मैसूर का वास्तविक शासक बन गया। शक्ति के इस हस्तांतरण की क्रिया मैसूर के राजा वडियार चिक कृष्णराज के काल में आरम्भ हुई 1731-34 के बीच दो भाइयों, देवराज (मुख्य सेनापति) तथा नंजाराज (राजस्व तथा वित्त के

नोट

अधीक्षक) ने राज्य की समस्त शक्ति अपने हाथ में केन्द्रित कर ली। दक्षिण में निजाम, मराठों, अंग्रेजों तथा फ्रांसीसियों के बीच हुए चतुष्कोणीय संघर्ष ने मैसूर को भी अपने अखाड़े में ला खड़ा किया। मराठों ने 1753, 1754, 1757 तथा 1759 में मैसूर प्रदेश पर आक्रमण किए। इन आक्रान्ताओं की अमिट धन-पिपासा ने मैसूर को संकट में डाल दिया। देवराज भी इन आक्रमणकारियों का प्रतिरोध करने में असफल रहा। ऐसे समय में हैदरअली सामने आया और 1761 तक वह मैसूर का वास्तविक शासक बन बैठा।

उसने अनुभव किया कि एक संगठित सेना ही समय की मांग है। मराठों का प्रतिरोध करने के लिए उसे एक तीव्रगामी तथा शक्तिशाली घुड़सवार सेना चाहिए, तथा फ्रांसीसियों द्वारा प्रशिक्षित निजाम की सेना के लिए एक अच्छा तोपखाना चाहिए। वह जानता था कि शस्त्र निर्माण कार्य में यूरोपीय लोग बहुत आगे हैं। इसलिए उसने फ्रांसीसियों की सहायता से डिंडीगुल में शस्त्रागार स्थापित किया तथा अपनी सेना को प्रशिक्षण दिलवाया और शीघ्र वह कूटनीति में भी जोड़-तोड़ करने में सिद्धहस्त हो गया। 1761 और 1763 के बीच उसने होजकोट, दोड़बेल्लापुर, सेरा, बेदनूर इत्यादि प्रमुख स्थानों तथा दक्षिण के पोलीगारों को जीत लिया।

मराठों ने पानीपत के तीसरे युद्ध की हार को शीघ्र ही भुला दिया तथा पेशता माधवराव के नेतृत्व मे पुनः उठ खड़े हुए। 1764, 1766 तथा 1771 में उन्होंने मैसूर प्रदेश पर आक्रमण कर हैदर अली को हराया तथा उसने धन और कुछ क्षेत्र देने पर बाध्य किया। परन्तु 1772 मे माधवराव पेशवा की मृत्यु के पश्चात् गड़बड़ी के काल में हैदरअली ने 1774 और 1776 के बीच न केवल खोए हुए प्रदेश पुनः जीत लिए अपितु कृष्णा-तुंगभद्रा घाटी के प्रमुख प्रदेश, बेलारी, कुड्डपा, गूटी तथा करनूल इत्यादि प्रदेश भी प्राप्त कर लिया।

प्रथम आंग्ल-मैसूर युद्ध (1767-69): बंगाल में सुलभ विजय से उन्मत्त हुए अंग्रेजों ने 1776 में हैदराबाद के निजाम निजामअली से सन्धि कर ली जिससे कम्पनी ने उत्तरी सरकारों के बदलते निजाम को हैदरअली के विरुद्ध सायता देने का वचन दिया। हैदरअली का पहले ही अरकाट तथा मराठों से प्रदेश के मामलों पर झगड़ा था। शीघ्र ही हैदरअली ने देखा कि उसके विरुद्ध, निजाम, मराठों तथा कर्नाटक के नवाब का सम्मिलित मोर्चा बन गया है हैदरअली विचलित नहीं हुआ और उसने कूट-नीति से काम लिया। उसने मराठों को धन देकर और निजाम को प्रदेश का प्रलोभन देकर अपनी ओर मिला लिया और फिर कर्नाटक पर आक्रमण किया। डेढ़ वर्ष के अनिर्णायक युद्ध के पश्चात् हैदरअली ने अंग्रेजों के विरुद्ध बाजी उलट दी तथा मद्रास को घेर लिया। भयभीत हुए अंग्रेजों ने उससे एक तिरस्कारपूर्ण सन्धि कर ली (4 अप्रैल, 1769), जिसमें दोनों पक्षों ने विजित प्रदेश लौटा लिए तथा दोनों दलों ने एक दूसरे को आरक्षण के लिए सहायता करने का वचन दिया अर्थात् अंग्रेजों को हैदरअली को सहायता देने का वचन देना पड़ा।

द्वितीय आंग्ल-मैसूर युद्ध (1780-84): 1769 की सन्धि, सन्धि न रहकर केवल युद्ध विराम ही रह गया था। हैदरअली पर आक्रमण किया तो अंग्रेजों ने, 1769 की सन्धि के अनुकूल सहायता नहीं की थी। दूसरे हैदरअली ने देखा कि उसकी बन्दूकों, तोपों, शोरे तथा बारूद की आवश्यकताओं के लिए अंग्रेजों के स्थान पर फ्रांसीसी अधिक सहायक थे। कुछ सैनिक सामान, मालाबार तट पर स्थित फ्रांसीसी बन्दरगाह माही के द्वारा भी मैसूर पहुंचता था। दूसरी ओर पश्चिम में अमरीका का स्वतंत्रता संग्राम आरम्भ हो गया था। चूंकि फ्रांसीसी अमरीका की ओर से इस युद्ध में सम्मिलित हो गए थे अतएव वॉरेन हेस्टिंग्ज को हैदरअली-फ्रांसीसी सम्बन्धों पर बहुत सन्देह था। इन परिस्थितियों में जब अंग्रेजों ने माही-जिसे हैदरअली अपने संरक्षण में समझता था-को जीतने का प्रयत्न किया तो यह हैदरअली को स्पष्ट चुनौती थी।

हैदरअली ने निजाम तथा मराठों से मिलकर-सबके शत्रु-ईस्ट इण्डिया कम्पनी के विरुद्ध एक संयुक्त मोर्चा बना लिया। जुलाई 1780 में हैदरअली ने कर्नाटक पर आक्रमण कर दिया तथा कर्नल बेली के अधीन अंग्रेजी सेना को हराकर अरकाट जीत लिया। इसी बीच अंग्रेजों ने निजाम तथा मराठों को हैदरअली से अलग कर लिया। हैदरअली ने दृढ़तापूर्वक इस स्थिति का सामना किया परन्तु पोर्टो नोवो के स्थान पर परास्त हुआ (नवम्बर 1781)। परन्तु अगले वर्ष ही हैदरअली ने कर्नन ब्रेथवेट के अधीन अंग्रेजों को बुरी तरह हराया। ब्रेथवेट को युद्धबन्दी बना लिया गया। परन्तु 7 दिसम्बर, 1782 को हैदरअली की मृत्यु हो गई तथा कार्य भार उसके पुत्र टीपू सुल्तान के सिर पर आ पड़ा। टीपू ने एक वर्ष तक युद्ध

नोट

जारी रखा परन्तु दोनों पक्ष ही निश्चित विजय नहीं प्राप्त कर सके। अन्त में दोनों पक्षों ने सन्धि करना उचित समझा और मार्च 1784 में मंगलोर की सन्धि द्वारा दोनों पक्षों ने विजित प्रान्त लौटा दिए। युद्ध का यह दूसरा दौर अनिश्चित रहा।

तीसरा आंग्ल-मैसूर युद्ध (1790-92): अंग्रेजी साम्राज्यवाद की परम्परा के अनुकूल, अंग्रेजों ने इस सन्धि को आने वाले आक्रमण के लिए केवल सांस लेने का समय ही माना। यद्यपि 1784 के पिट्स इण्डिया अधिनियम में यह स्पष्ट कर दिया गया था कि कम्पनी कोई नया प्रदेश जीतने का प्रयत्न नहीं करेगी, तो भी लार्ड कॉर्नवालिस ने निजाम तथा मराठों की टीपू-विरोधी भावनाओं से प्रेरित होकर 1790 में टीपू के विरुद्ध त्रिदलीय संगठन रचा। टीपू को भी अंग्रेजों के विरुद्ध युद्ध अवश्यम्भावी प्रतीत होता था। अतएव उसने तुर्कों से सहायता प्राप्त करने का प्रयत्न किया तथा 1784 और 1785 में कुस्तुन्तुनिया (आधुनिक) को एक राजदूत भेजा। 1787 में उसने एक दूतमण्डल फ्रांस भी भेजा।

टीपू का ट्रावनकोर के महाराजा से झगड़ा उस समय हुआ जब महाराजा ने डच लोगों से कोचीन रियासत में स्थित जैकौटै तथा क्रगानूर मोल लेने का प्रयत्न किया। टीपू कोचीन रियासत को अपने अधीन मानता था और उसने ट्रावनकोर के इस प्रयत्न को अपनी सत्ता में हस्तक्षेप माना। उसने अप्रैल 1790 में ट्रावनकोर पर आक्रमण करने का निर्णय किया। अंग्रेजों ने जो युद्ध के लिए पहले से ही उद्यत बैठे थे, ट्रावनकोर के राजा का पक्ष लिया, क्योंकि 1784 में दोनों पक्षों के बीच इस आशय की सन्धि हुई थी। कॉर्नवालिस ने एक बड़ी सेना की सहायता से टीपू पर आक्रमण कर दिया और वैल्लौर तथा अम्बूर से होता हुआ वह बंगलौर पर चढ़ आया जो उसने मार्च 1791 में जीत लिया तथा श्रीरंगापट्टम तक पहुंच गया। अंग्रेजों ने कोइम्बटूर भी जीत लिया परन्तु शीघ्र ही उसे पुन: हाथ से खो बैठे। मराठा तथा निजाम की सहायता से उन्होंने पुन: श्रीरंगापट्टम की ओर चढ़ाई की। टीपू ने कड़ा प्रतिरोध किया परन्तु जब उसने देखा कि युद्ध जारी रखना असम्भव है तो उसने श्रीरंगापट्टम की सन्धि कर ली (मार्च 1792)। इसके अनुसार उसे अपने देश का लगभग आध ा भाग अंग्रेजों तथा उनके साथियों को देना पड़ा। इसके अंतर्गत अंग्रेजों को बारा महल, डिंडीगुल तथा मालाबार मिला, तथा मराठों को तुंगभद्रा नदी के उत्तर का भाग मिला और निजाम को पन्नार तथा कृष्णा नदी के बीच का भाग मिला। टीपू को 3 करोड़ ₹ युद्ध क्षति के रूप में भी देना पड़ा। युद्ध के इस दौर में टीपू की बहुत क्षति हुई तथा वह अपने राज्य को पूर्णतया समाप्त होने से बहुत कठिनाई से ही बचा पाया। कॉर्नवालिस ने इस स्थिति को निम्नलिखित शब्दों में वर्णित किया है: "हमने अपने शत्रु को प्रभावशाली ढंग से पंगु बना दिया है तथा अपने साथियों को भी शक्तिशाली नहीं बनने दिया।"

चौथा आंग्ल-मैसूर युद्ध (1799): भारत में ईस्ट इण्डिया कम्पनी की नीति का मुख्य अंग यह था कि युद्ध करो। फिर अपने आपको आने वाले युद्ध के लिए तैयार करने के लिए शान्ति की नीति अपनाओ। 1798 में लार्ड वैलेजली आया जो एक साम्राज्यवादी गवर्नर-जनरल था। दूसरे उस समय नेपोलियन का भय समस्त यूरोप पर छाया हुआ था। ऐसा होना शान्ति बनाए रखने के लिए उपयुक्त नहीं था। उसने दृढ़ निश्चय किया हुआ था कि या तो टीपू को पूर्णतया समाप्त कर दो अथवा उसे पूर्णतया अपने अधीन कर लो। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसने सहायक सन्धि का मार्ग अपनाया। उसने टीपू सुल्तान पर यह दोष लगाया कि वह निजाम तथा मराठाों के साथ मिलकर अंग्रेजों के विरुद्ध षड्यंत्र रच रहा है, अथवा अरब, अफगानिस्तान के जमानशाह, कुस्तुन्तुनिया, मॉरीशस में फ्रांसीसी अधिकारियों अथवा वरसाई में डाइरेक्टरी इत्यादि के साथ, अंग्रेजों के विरुद्ध मोर्चा बनाने के लिए पत्र-व्यवहार कर रहा है। यह सभी बहाने उसकी उद्देश्य पूर्ति के लिए पर्याप्त थे। टीपू ने उत्तर में कहा कि केवल 40 काले रंग के फ्रांसीसी, जिनमें से 10 अथवा 12 शिल्पी तथा नौकर थे, जिन्होंने जहाज का किराया भी स्वयं दिया है, यहां काम की खोज में आए थे। इस उत्तर को स्वीकार नहीं किया गया और अप्रैल 1799 में टीपू के विरुद्ध अभियान आरम्भ कर दिया गया। 4 मई 1799 को श्रीरंगापट्टम का दुर्ग जीत लिया गया तथा मैसूर की स्वतंत्रता समाप्त हो गई। टीपू ने लड़ते-लड़ते वीर गति पाई। उसके कुल के सदस्यों को वैल्लोर में कैद कर दिया गया। अंग्रेजों ने कन्नड़, कोइम्बटूर, वेनाड़, धारपुरम तथा मैसूर का समस्त समुद्री तट अपने प्रदेश में विलय कर लिया। कुल प्रदेश निजाम को भी दिए गए। वडियार वंश का एक बालक मैसूर का राजा बना दिया गया तथा सहायक सन्धि देश पर लाद दी गई।

नोट

टीपू की शासन प्रणाली (Tipu's Administration)

उस समय भारत में केवल निरंकुशवाद का ही बोलबाला था और इसी कारण टीपू का प्रशासन भी भिन्न नहीं हो सकता था। सुलतान ही देश में समस्त सैनिक, असैनिक तथा राजनैतिक शक्ति का केन्द्र था। वह स्वयं ही अपना विदेश मंत्री तथा मुख्य सेनापति अथवा न्यायाधीन था।

यद्यपि टीपू पर कोई नियंत्रण नहीं था, तो भी वह असंयमी, दयारहित राजा नहीं था। वह कर्मशील तथा कर्त्तव्यपरायण राजा की भांति कार्य करता था। वह समझता था कि अपनी प्रजा के प्रति व्यवहार के लिए एक दिन उसे ईश्वन को उत्तर देना होगा और व सदैव प्रजा हित के लिए कार्य करता था।

केन्द्रीय प्रशासन-टीपू को सुधारों तथा नए प्रयोगों से प्यार था। अतएव शीघ्र ही उसने अपने पिता हैदरअली से प्राप्त की हुई शासन प्रणाली में सुधार किए। डाडवैल के अनुसार वह प्रथम भारतीय राजा था जिसने पाश्चात्य परम्पराओं को भारतीय प्रजा पर लागू करने का प्रयत्न किया। प्रत्येक विभाग का एक अलग अधिकारी होता था तथा अनेक निम्न स्तर के अधिकारी उसकी सहायता करते थे। ये सभी मिलकर एक बोर्ड के रूप में कार्य करते थे। पूर्ण वाद-विवाद के पश्चात ही निर्णय लिए जाते थे। इस वाद-विवाद में सदस्यों को मतभेद प्रकट करने का पूर्ण अधिकार था। निणय बहुमत से किए जाते थे तथा बैंठकों की कार्यवाही का ब्यौरा रखा जाता था। परन्तु इस मामलों में अन्तिम निर्णय सुलतान का हही होता था।

टीपू सुलतान के प्रशासन में प्रधान मंत्री अथवा वजीर का पद नहीं होता था। सात मुख्य विभाग थे जो मीर आसिफ के अधीन होते थे जो स्वयं सुलतान के प्रति उत्तरदायी था। ये विभाग इस प्रकार थे: (1) राजस्व तथा वित्त मीर आसिफ कचहरी के अधीन, (2) सेना विभाग मीर मरां कचहरी के अधीन, (3) जुमरा विभाग एक अन्य मीर मीरां कचहरी के अधीन, (4) तोपखाना तथा दुर्ग रक्षा विभाग मीर सदर कचहरी के अधीर, (5) वाणिज्य विभाग मलिक-उत्तुज्जार के अधीन, (6) नाविक विभाग मीर याम कचहरी के अधीर तथा (7) कोष और टंकन विभाग मीर खजाना कचहरी के अधीन इन 7 के अतिरिक्त अन्य छोटे विभाग भी थे अर्थात् डाक तथा गुप्तचर विभाग, लोग निर्माण तथा पशु विभाग।

प्रान्तीय तथा स्थानीय प्रशासन-1784 के पश्चात् टीपू ने अपने साम्राज्य को सात प्रान्तों में बांट दिया जिन्हें आसफी टुकड़ी कहते थे। कालान्तर में इन प्रान्तों की संख्या 17 हो गई। प्रान्तों में मुख्य अधिकारी आसिफ (असैनिक गवर्नर) तथा फौजदार (सैनिक गवर्नर) होते थे। ये दोनों एक-दूसरे पर नियंत्रण रखते थे। प्रांतों को जिलों और जिलों को ग्रामों में बांटा होता था। स्थानीय प्रशासन का प्रबन्ध पंचायतें करती थीं।

भूमि कर व्यवस्था-मुख्य रूप से टीपू ने अपने पिता के काल से चली आ रही भूमि कर प्रणाली को बनाए रखा परन्तु उसमें अधिक कार्यक्षमता लाने का प्रयत्न यिका। उसने जागीरदारी प्रणाली को त्याग कर कृषक तथा सरकार में सीधा सम्पर्क स्थापित किया। उसने कर मुक्त इनाम भूमि पर पुन: अधिकार कर लिया तथा पॉलिगारों (जमींदारों) के पैतृक अधिकार जब्त कर लिए।

सरकार ने प्रेरणाा संलग्न अनुरोध की प्रणाली द्वारा अधिककाधिक भूमि को जोत में लाने का प्रयत्न किया। जिले का कार्यवाह आमिल जिले का दौरा करता था तथा कृषकों को अधिक भूमि जोत में लाने के लिए हल तथा पशुओं के लिए तकावी (सरकार की ओर से दिया हुआ धन) ऋण दिया जाता था। दूसरे, आमिल यह भी देखता था कि यदि किसी परिवार मे काम करने वाले अधिक हैं और हल कम हैं तो वह परिवार के मुखिया को अन्य हल प्राप्त करने की प्रेरणा देता था। दूसरी ओर आमिल यह भी देखता था कि यदि किसी ग्राम में किसी विशेष फसल के लिए भूमि तो है परन्तु वहां के वासी उस फसल को करने को उद्यत नहीं हों तो वह उस ग्राम पर उस विशेष फसल की दर से भूमि कर लगा देता था न कि वास्तविक जुती हुई भमि पर।

भूमि कर प्राय: 1/3 से 1/2 लिया जाता था जो कि भूमि की उर्वरता तथा सिंचाई पर निर्भर होता था। 1792 में भूमि कर की आय एक करोड़ ₹ से अधिक थी जो कि श्रीरंगापट्टम की सन्धि के पश्चात् आधी रह गई थी क्योंकि उसे अपने राज्य का आधा भाग शत्रुओं को छोड़ देना पड़ा था। इस क्षति की पूर्ति के लिए टीपू को 1795 में, 1791

नोट

के भूमि कर की दरों में 37.5% की वृद्धि करनी पड़ी थी।

वाणिज्य तथा व्यापार–यूरोपीय शक्तियों की नाईं टीपू ने भी इस तथ्य को समझा कि देश अपने वाणिज्य तथा व्यापार का विकास करके ऊंचा उठ सकता है। इसलिए उसने देशीय तथा अन्तरदेशीय व्यापार का विकास किया तथा अपने गुमाश्ते मस्कट, मुंज, जद्दाह तथा अदन इत्यादि नगरों में नियुक्त किए। उसने पीगू (बर्मा) तथा चीन से भी सम्बन्ध स्थापित करने की सेची। इस आशय से उसने एक वावणिज्य बोर्ड स्थापित किया तथा 1793–94 के नियमों के अनुसार इस विभाग के अधिकारियों के कर्त्तव्य निश्चित किए। टीपू ने चन्दन, सुपारी, काली मिर्च, मोटी इलाइची, सोने तथा चांदी का व्यापार तथा हाथियों के निर्यात इत्यादि का कार्य केवल सरकार के एकाधिकार में ले लिया। इसी प्रकार आन्तरिक व्यापार के मामले में भी किया, काली मिर्च तथा चन्दर, केवल सरकार ही मोल ले सकती थी। इसके अतिरिक्त उसने राज्य में कुछ कारखाने भी लगाए जहां युद्ध वे लिए गोला, बारूद, कागज, चीनी, रेशमी कपड़ा, छोटे–छोटे उपकरण तथा अन्य सुन्दर वस्तुएं बनाई जाती थीं।

अशोक सेन जैसे प्रसिद्ध लेखक का विचार है कि टीपू की व्यापारिक नीति का मुख्य उद्देश्य सरकार को देश की प्रमुख व्यापारिक संस्था बनाना तथा कोष को भरना तथा आर्थिक गतिविधियों को सैनिक तथा राजनैतिक हितों के अधीन लाना था जो कि व्यापार तथा उद्योग के दीर्घकालीन हितों में नहीं होता था और न ही इससे पूंजीवाद के अधीन औद्योगिक क्रांति लाने के लिए समाज तथा अर्थव्यवस्था को तैयार किया जा सकता था।

सैनिक प्रशासन–समकालीन विवशताओं के कारण सुलतान को अपने समय का अधिक भाग सैनिक तैयारी में लगाना पड़ता था। टीपू ने अपनी पदाति सेना का अनुशासन यूरोपीय नमूने पर गठित किया और इसमें फारसी के आदेश शब्दों का प्रयोग किया जाता था। उसने भी फ्रांसीसी कमाण्डरों द्वारा अपनी सेना के प्रशिक्षण का प्रबन्ध किया तथा एक फ्रांसीसी सैनिक टुकड़ी तैयार की परन्तु उसने इनको प्रभावशाली समूह बनने की अनुमति नहीं दी जैसा कि निजाम तथा सिन्धिया के राज्यों में हुआ। वास्तव में उसकी सेना में फ्रांसीसी सैनिकों की संख्या दिन–प्रतिदिन कम होती चली गई। 1794 में यह केवल 20 आयुक्त अधिकारियों और श्रीरंगापट्टम की हार के समय केवल 4 आयुक्त तथा 45 अनायुक्त अधिकारियों तथा सैनिकों तक ही सीमित थी। टीपू की सेना की संख्या उसकी सैनिक आवश्यकताओं तथा साधनों के अनुसार बदलती रही। तीसरे आंग्ल–मैसूर युद्ध के समय उसके पास 45,000 नियमित पदाति, 2,000 घोड़े तथा कुछ अनियमित सेना थी। 1793 में, अंग्रेजों तथा उनके मित्रों को आधा राज्य देने के पश्चात् उसके पास 30,000 नियमित पदाति, 7,000 घुड़सवार, 2,000 तोपची तथा 6,000 अनियमित घुड़सवार थे।

हैदरअली तथा टीपू दोनों ने नौसेना के महत्त्व को समझा, परन्तु अपने प्रमुख प्रतिद्वन्द्वी ईस्ट इण्डिया कम्पनी के स्तर को कभी प्राप्त नहीं कर सके। जो भी जलपोत हैदरअली ने बनाए थे वे सभी एडवर्ड ह्यूज ने 1780 में मंगलोर पर आक्रमण के समय नष्ट कर दिए थे।

जब तृतीय आंग्ल–मैसूर युद्ध में अंग्रेजों ने टीपू के अधीन मालाबार तट के प्रदेशों पर अधिकार कर लिया तो सुलतान के लिए जल सेना का महत्त्व और भी बढ़ गया। 1796 में टीपू ने नौसना बोर्ड का गठन किया तथा 22 युद्धपोत तथा 20 बड़े फ्रिगेट बनाने ककी योजना बनाई। उसने गंगलोर, वाजिदाबाद तथा मोलीदाबाद मे पोत बनानो के घाट बनाए। परन्तु यह योजना सिरे नहीं चढ़ी। उसके साधन अंग्रेजों के साधनों से बहुत कम थे। इस तथ्य को स्वीकार करते हुए उसने कहा था कि मैं अंग्रेजों के स्थल साधनों को तो समाप्त कर सकता हूं परन्तु मैं समुद्र को तो नहीं सुख सकता।

टीपू का मूल्यांकन–हैदरअली तथा उसकी पत्नी फातिमा के घर बहुत प्रार्थना के पश्चात् 20 नवम्बर 1750 को एक पुत्र रत्न जन्मा और उसे टीपू सुल्तान की संज्ञा दी गई। इस प्रकार सुल्तान उसके नाम का अंग था। और राजकुमार तथा शासन काल में वह इसी नाम से जाना जाता था। उसे एक मुसलमान राजकुमार के योग्य पूर्ण शिक्षा मिली और वह अरबी, फारसी, कन्नड़ तथा उर्दू में सुगमता से बातचीत कर सकता था। व एक ह्रष्ट–पुष्ट व्यक्ति था। घुड़सवारी, बंदूक तथा तलवार चलाने में भी सिद्धहत था। वह पालकी में चढ़ना पसन्त नहीं करता था क्योंकि इसे वह केवल स्त्रियों अथवा रोगियों के लिए ही उपयुक्त मानता था। टीपू सुल्तान में पूर्वी उदासीनता अथवा रुढ़िवाद का कण मात्र भी नहीं

नोट

था और वह नवीन प्रयोग करने को सदैव उद्यत रहता था तथा पाश्चात्य विज्ञान तथा राजनीतिक दर्शन का यथोचित गुणग्राही था। जब फ्रांसीसी क्रांति के फलस्वरूप कुछ फ्रांसीसी सैनिकों ने श्रीरंगापट्टम में जैकोबिन क्लब बनाने का प्रस्ताव किया तो उसने यह सहर्ष स्वीकार कर लिया और इस अवसर को मनाने के लिए 2300 तोप के गोले तथा 500 हवाई रॉकेट चलाए। यह कहा जाता है कि उसने श्रीरंगापट्टम में "स्वतंत्रता का वृक्ष" भी लगाया, स्वयं जैकोबिन क्लव का सदस्य बना और अपने आप को "नागरिक टीपू" कहलाने लगा।

प्रशासक तथा शासक के रूप में टीपू सफल रहा और विरोधियों ने भी उसकी सराहना की है। लैफ्टिनेन्ट मूर ने उसके विषय में कहा है: "जब एक व्यक्ति एक अनजाने देश से गुजरता हुआ यह देखे कि वहां फसलें उत्तम हैं, देश में जनसंख्या तथा उद्योग बहुत हैं; वाणिज्य विकसित हो रहा है, और प्रत्येक वस्तु हर्ष तथा सफलता की द्योतक है, तो व प्राकृतिक रूप से यी कहेगा कि जनता एक कुशल प्रशासन के अधीन है। जिसमें उसे विकसित ोने का अवसर मिलम रहा है। ऐसा है टीपू के प्रदेश का चित्र।" सर जॉन शोर ने भी इसी प्रकार लिखा था, "टीपू के किसान सुरक्षित हैं और उन्हें श्रम के लिए प्रोत्साहन तथा उसका फल भी मिलता है। टीपू को अपने सैनिकों की राजभक्ति तथा विश्वास भी प्राप्त है।" ऐसे समय में जब सैनिक कमाण्डरों द्वारा दल बदलना साधारण बात थी, टीपू के सैनिकों ने उस अनुशासन तथा राजभक्ति का परिचय दिया जिसको यूरोपीय प्रेक्षकों ने भी सराहा है।

विल्क्स का यह कहना है कि हैदर राज्य बनाने के लिए जन्मा और टीपू उसे खोने के लिए। यह ऐतिहासिक सत्य तो है परन्तु इससे टीपू की कार्यकुशलता तथा उकसी कठिनाइयों का पूर्ण परिचय नहीं मिलता जिनसे उसका साक्षात्कार हुआ। टीपू की वीरता तथा नवीन प्रयोगों की भावना प्राय: उसके अवगुण माने जाते हैं। हैदरअली ने तो प्राचीन वडियार वंश के झूठे ढोंग को जीवित रखा, परन्तु टीपू ने 1787 में बादशाह की उपाधि धारण करक ली, अपने नाम के सिक्के चलाए, वर्षों तथा महीनों के हिन्दू नामों के स्थान पर अरबी नामों का प्रयोग किया तथा नए पंचांग का प्ररम्भ किया। टीपू का नवीन परिवर्तन लाना केवल परिवर्तन नहीं था अपितु वे एक ाग्रत शासक द्वारा प्रारम्भ किए गए सुधार थे।

साम्राज्यवादी लेखकों का टीपू को एक "सीधा सादा दैत्य" तथा धर्मान्ध शासक बतलाना, निश्चय ही सत्य नहीं। टीपू की धर्मपरायणता को आवश्यकता से अधिक महत्त्व दिया गया है। यह सत्य है कि उसने हिन्दू कुर्गों तथा नायरों का दमन किया परन्तु जिन मुसलमान मोपलाओ ंने उसकी आज्ञा का उल्लंघन किया उन्हें भी उसने क्षमा नहीं किया। कुछ वर्ष पूर्व मिले शृंगेरी पत्रों से पता चलता है कि जब 1791 में हुए मराठा आक्रमणों से शृंगेरी मन्दिर का भाग टूट गया तो शृंगेरी के मुख्य पुरोहित की प्रार्थना पर टीपू ने मन्दिर की मरम्मत के लिए तथा शारदा देवी की मूर्ति की स्थापना के लिए धन दिया। सुल्तान ने श्रीरंगापट्टम के दुर्ग में स्थित श्री रंगनाथ नरसिंह अथवा गंगाधारेश्वर के मन्दिरों की पूजा में कभी हस्तक्षेप नहीं किया।

निश्चय ही दक्षिणी भारत के इतिहास में टीपू का एक बहुत आकर्षक व्यक्तित्व था। उस वीर और साहसी व्यक्ति ने आत्माभिमान कभी छोड़ा और वैल्जली की सन्धि का निमंत्रण अस्वीकार कर दिया। उसने पाश्चात्य साम्राज्यवाद की गाड़ी में बैठक कर निर्जीव जीवन व्यतीत करने के स्थान पर मृत्यु को आलिंगन करना श्रेयस्कर समझा। दुर्भाग्य यह था कि उसका एक ऐसे विरोधी से साक्षात्कार था जिसमें पूर्व भारत को रौंद देने की शक्ति थी। जीवित रहने वाले सैंकड़ों महाराजाओं तथा निजामों के स्थान पर उसके जीवन से आधुनिक भारतीयों को अधिक प्रेरणा मिलती है।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

2. रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए (Fill in the Blanks)

1. दक्षिण में चतुष्कोणीय संघर्ष (निजाम, मराठों, अंग्रेजों तथा ..... के बीच) ने मैसूर को भी अपने अखाड़े में ला खड़ा किया।
2. हैदरअली ..... तक मैसूर का वास्तविक शासक बन बैठा।
3. हैदरअली ने फ्रांसीसियों की सहायता से ..... में शस्त्रागार स्थापित किया।

नोट

4. प्रथम आंग्ल-मैसूर युद्ध (1767-69) में हैदरअली ने मराठों को धन देकर और ..... को प्रलोभन देकर अपनी ओर मिला लिया।
5. द्वितीय आंग्ल-मैसूर युद्ध (1780-84) ..... (1784) द्वारा समाप्त हुई।

1.6 आंग्ल-मराठा तीन युद्ध (The Three Anglo-Maratha Wars)

प्रथम आंग्ल-मराठा युद्ध (1775-82): आंग्ल-मराठा युद्ध के प्रथम दौर के कारण मराठों के आपसी झगड़े तथा अंग्रेजों की महत्वाकांक्षाएं थीं। जैसे क्लाइव ने दोहरी प्रणाली बंगाल, बिहार तथा उड़ीसा में स्थापित कर ली थी, उसी प्रकार की दोहरी प्रणाली बम्बई कम्पनी महाराष्ट्र में भी स्थापित करना चाहती थी। 1772 में माधवराव की मृत्यु के पश्चात उसका पुत्र नारायणराव अपने चाचा रघुनाथराव, जो पेशवा बनाना चाहता था, के षड्यंत्रों का शिकार बन गया। जब नारायणराव के मरणोपरान्त पुत्र उत्पन्न हुआ तो रघुनाथ राव हताश हो गया। उसने अंग्रेजों से सूरत की सन्धि (1755) कर ली ताकि व अंग्रेजों की सहायता से पेशवा बन जाए। प्रयत्न असामयिक सिद्ध हुआ। युद्ध 7 वर्ष तक चलता रहा तथा अन्त में दोनों ने इसकी निष्फलता को अनुभव किया। अन्त में सालबई की सन्धि (1782) से युद्ध समाप्त हो गया। विजित क्षेत्र लौटा दिए गए। यह शक्ति परीक्षण अनिर्णायक रहा। अगले 20 वर्ष तक शान्ति रही।

द्वितीय आंग्ल-मराठा युद्ध (1803-06): इस संघर्ष का दूसरा दौर फ्रांसीसी भय से संलग्न था। वैलजली, जो साम्राज्यवादी था, 1798 में भारत आया। उसने यह अनुभव किया कि फ्रांसीसी भय से बचने का केवल एक उपाय है कि समस्त भारतीय राज्य कम्पनी पर ही निर्भर होने की स्थिति में पहुँच जाएँ। उसने सहायक सन्धि की प्रणाली का विकास किया। मराठों ने इस जाल से बचने का प्रयत्न किया परन्तु आपसी झगड़ों के कारण असफल रहे।

पूना में मुख्यमंत्री नाना फड़नवीस की मार्च 1800 मृत्यु हो गई। कर्नल पामर, जो पूना में ब्रिटिश रेजीडेन्ट थे, उनके कथनानुसार उनकी मृत्यु के साथ ही मराठों में सूझ-बूझ भी समाप्त हो गई। नाना अंग्रेजी हस्तक्षेप का परिणाम जानते थे और इसीलिए उन्होंने सहायक सन्धि को दूर रखा। नाना के नियंत्रण से मुक्त हुए पेशवा बाजीराव ने अपना घिनौना रूप दर्शाया। उन्होंने अपनी स्थिति को बनाये रखने के लिए मराठा सरदारों में झगड़े करवाये तथा षड्यंत्र रचे। परन्तु वह स्वयं ही उनमें उलझ गया। दौलतराव सिन्धिया तथा जसवन्तराव होल्कर दोनों ही पूना में अपनी श्रेष्ठता जमाना चाहते थे। सिन्धिया सफल रहा तथा बाजीराव पर सिन्धिया का प्रभुत्व जम गया। 12 अप्रैल, 1800 को गवर्नर-जनरल ने पूना रेजीडेन्ट को लिखा कि सहायक सन्धि के बदले दक्कन से सिन्धिया के प्रभुत्व को समाप्त करने में सहायता का प्रस्ताव करे परन्तु बाजीराव ने अस्वीकार कर दिया।

दूसरी ओर पूना में परिस्थितियों ने गम्भीर रूप धारण कर लिया। अप्रैल 1801 में पेशवा ने जसवन्त राव होल्कर के भाई विट्ठूजी की निर्मम हत्या कर दी। होल्कर ने पूना पर आक्रमण कर पेशवा तथा सिन्धिया की सेनाओं को हदपसर के स्थान पर पराजित किया (25-10-1802) तथा पूना पर अधिकार कर लिया। उसने अमृत राव के पुत्र विनायक राव को पूना की गद्दी पर बिठा दिया। बाजीराव द्वितीय ने भाग कर बसीन में शरण ली और 31.12.1802 को अंग्रेजों से एक सन्धि की जिसके अनुसार:-

1. पेशवा ने अंग्रेजी संरक्षण स्वीकार कर भारतीय तथा अंग्रेज पदातियों की सेना पूना में रखना स्वीकार किया।
2. पेशवा ने गुजरात, ताप्ती तथा नर्मदा के मध्य के प्रदेश तथा तुंगभद्रा नदी के सभी समीपवर्ती प्रदेश, जिनकी आय ₹ 25 लाख थी कम्पनी को दे दिए।
3. पेशवा ने सूरत नगर कम्पनी को दे दिया।
4. पेशवा ने निजाम से चौथ प्राप्त करने का अधिकार छोड़ दिया तथा गायकवाड़ के विरुद्ध युद्ध न करने का वचन दिया।
5. पेशवा ने निजाम तथा गायकवाड़ के संग झगड़े में कम्पनी की मध्यस्थता स्वीकार कर ली।
6. पेशवा ने अंग्रेज विरोधी सभी यूरोपीय लोग सेना-निवृत्त कर दिए।

नोट

7. अपने विदेशी मामले कम्पनी के अधीन कर दिए।

सन्धि का महत्त्व: इस सन्धि पर भिन्न-भिन्न मत व्यक्त किए हैं। बोर्ड ऑफ कंट्रोल के प्रधान लार्ड कैसलरे ने इस सन्धि की राजनैतिक बुद्धिमत्ता पर शंका प्रकट की। इसके अनुसार वैलजली ने अपनी वैधानिक शक्तियों का अतिक्रमण किया और एक निर्बल पेशवा के द्वारा मराठों पर राज्य करने का प्रयत्न किया।

इस टिप्पणी का उत्तर वैलजली ने 1804 में यों लिखा: "कम्पनी ने भारत में पहली बार शान्ति में सुधार तथा स्थिरता प्राप्त की है... जब कभी पेशवा के प्रभुत्व को चुनौती दी जाएगी तो उसकी रक्षा के लिए हमें एक नैतिक आधार मिल गया है। विदेशी षड्यंत्रकर्ता राजधानी से निकाल दिए गए हैं। कम्पनी का बिना वित्तीय भार डाले सैनिक शक्ति का विस्तार हो गया है और पेशवा की सेना आवश्यकता पड़ने पर हमें उलपब्ध हो सकती है।"

यह तो सत्य है कि पेशवा की शक्ति शून्य के बराबर थी परन्तु इससे अंग्रेजों को बहुत से राजनैतिक लाभ हुए। पूना में प्रभुत्व बना और मराठा संघ का प्रमुख नेता सहायक सन्धि के बन्धन में बंध गया जिससे उसके अधीनस्थ नेताओं की वास्तविक स्थिति में कमी आई।

अपनी विदेश नीति अंग्रेजों के अधीन करके पेशवा उन युद्धों के भार से मुक्त हो गया जिनमें वह उलझता रहता था। उसने निजाम हैदराबाद पर अपने अधिकार छोड़ दिए और निजाम अब कम्पनी के अधीन हो गया।

बसीन की सन्धि का एक अन्य लाभ यह हुआ कि सहायक सेना मैसूर, हैदराबाद, लखनऊ तथा पूना, जो भारत के मुख्य केन्द्रीय स्थान थे, वहां तैनात कर दी गई, जहां से वह समस्त भारत में शीघ्रातिशीघ्र पहुंच सकती थी।

यद्यपि इस सन्धि से अंग्रेजों की सर्वश्रेष्ठता स्थापित हुई परन्तु यह उसी दिशा में एक पर्याप्त कदम था। सिडनी ओवन के इस कथन में इस सन्धि के फलस्वरूप कम्पनी को प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप से भारत का साम्राज्य मिल गया, कुछ अतिश्योक्ति तो है परन्तु है वस्तुत: सत्य।

मराठों के लिए यह राष्ट्रीय अपमान सहना कठिन था और भोंसले ने अंग्रेजों को ललकारा। गायकवाड़ तथा होल्कर अलक रहे। वैलजली तथा लेक ने दक्षिण तथा उत्तरी भारत में मराठों को शीघ्र ही परास्त कर उन्हें अपमानजनक सन्धियां करने पर बाध्य किया। देवगांव की सन्धि (17-12-1803) से भोंसले ने कटक और वर्धा नदी के पश्चिमी भाग, अंग्रेजों को दे दिए, सिन्धिया ने सूरजी-अर्जन गांव की सन्धि (30-12-1803) से गंगा तथा यमुना के मध्य के क्षेत्र कम्पनी को दे दिए तथा जयपुर, जोधपुर तथा गोहद की राजपूत रियासतों पर अपना प्रभुत्व छोड़ दिया। अहमद नगर का दुर्ग, भेड़ौच, गोदावरी और अजन्ता घाट भी कम्पनी को दे दिए। दोनों राजाओं ने रेजीडेन्ट रखना भी स्वीकार कर लिया।

अप्रैल 1804 में होल्कर तथा कम्पनी के बीच युद्ध छिड़ गया। यद्यपि आरम्भ में होल्कर को कुछ सफलता मिली परन्तु अन्ततोगत्वा उसकी पराजय निश्चित थी। इसी बीच वैलजली वापिस चला गया तथा सर जार्ज बार्लो ने राजपुर घाट की सन्धि (25-12-1805) कर ली जिससे मराठा सरदार ने चम्बल नदी के उत्तरी प्रदेश, बुन्देलखण्ड छोड़ दिए तथा पेशवा तथा कम्पनी के अन्य मित्रों पर भी अपना अधिकार छोड़ दिया।

तृतीय आंग्ल-मराठा युद्ध (1817-18): इस युद्ध का तृतीय तथा अन्तिमचरण हेस्टिंग्ज के आने पर अरम्भ हुआ। उसने फिर आक्रान्ता का रुख अपनाया तथा भारत में अंग्रेजों की सर्वश्रष्ठता बनाने का प्रयत्न किया। 1805 के पश्चात् के जो शान्ति के वर्ष मराठों को मिले थे उनका प्रयोग उन्होंने अपने आप को सुदृढ़ बनाने के लिए न कर आपसी कलह में खो दिए। हेस्टिंग्ज के पिण्डारियों के विरुद्ध अभियान से मराठों के प्रभुत्व को चुनौती मिली अतएव दोनों दल युद्ध में खिंच आए। इस सुव्यवस्थित अभियान के कारण हेस्टिंग्ज ने नागपुर के राजा को 27-5-1816 को, पेशवा को 13-6-1814 को तथा सिन्धिया को 5-11-1817 को अपमानजनक सन्धियां करने पर बाध्य किया। विवश होकर पेशवा ने दासत्व का बन्धन तोड़ने का एक अन्य प्रयत्न किया। दौलतराव सिन्धिया, नागपुर के आप्पा साहिब, मल्हार राव होल्कर द्वितीय ने युद्ध की ठान ली। पेशवा की किर्की के स्थान पर, भोंसले की सीताबर्डी के स्थान पर तथा होल्कर की महीदपुर के स्थान पर पराजय हुई। मराठों की समस्त सेना अंग्रेजी सेना से हार गई। बाजीराव द्वितीय का पूना का

नोट

प्रदेश विलय कर लिया गया। शेष छोटे-छोटे राज्य ही रह गये और वे कम्पनी के अधीन हो गए।

मराठों की पराजय के कारण (Causes for the Defeat of Marathas)

यद्यपि मराठे मुगलों से अधिक शक्तिशाली थे परन्तु ये अंग्रेजों से सैनिक व्यवस्था, नेतृत्व, कूटनीति तथा साधनों में बहुत पीछे थे। वास्तव में मध्ययुगीन सभ्यता के पूर्वी लाग पुनर्जागरण, विज्ञान तथा आधुनिक अस्त्रों से लैस अंग्रेजों के सन्मुख नहीं ठहर पाए। इसकी पराजय के मुख्य कारण निम्न थे:–

(1) अयोग्य नेतृत्व: उत्तम नेतृत्व का पूर्णतया अभाव था। अच्छे नेता तो 18वीं शताब्दी के अन्त तक ही समाप्त हो गये थे। महादजी सिन्धिया, हरिपन्त फड़के, अहिल्याबाई होल्कर, पेशवा माधव राव, तुकोजी होल्कर तथा नाना फड़नवीस सभी 1790 और 1800 के बीच इस संसार से चल बसे। दूसरी ओर कम्पनी को बहुत उत्तम प्रकार के नेता, एल्फिन्स्टन, जॉन मेल्कम, कर्नल कॉलिन्स, जॉनेथन डकन, आर्थर वैजजली (जिसने कालान्तर में नेपोलियन को परास्त किया), लार्ड लेक तथ रिचर्ड वैलजली के रूप में मिले।

(2) मराठा राज्य के स्वाभाविक दोष: सर जादूनाथ सरकार के अनुसार मराठा राज्य में कुछ स्वाभाविक दोष थे। उन्होंने किसी समय भी कोई सामुदायिक विकास, विद्या प्रसार, अथवा जनता के एकीकरण के लिए कोई प्रयत्न नहीं किया।

(3) एक स्थिर आर्थिक नीति का अभाव: मराठों की अर्थिक नीति स्थिर राजनैतिक अवस्था में सहायक नहीं थी। औरंगजेब के विरुद्ध युद्ध काल में कृषक उजड़ गए थे। वे कृषि छोड़ सैनिक बन गए थे। मुगलों के मराठा प्रदेश से चले जाने पर भी वे उसी लूटमार पर निर्भर थे। पेशवा के अधीन इन सेनिकों ने भरण-पोषण के लिए चौथ तथा सरदेशमुखी प्राप्त की। अत: मराठा साम्राज्य महाराष्ट्र के साधनों पर नहीं अपितु बलपूर्वक एकत्रित की गई धनराशि पर निर्भर था।

(4) मराठा राजनैतिक व्यवस्था की दुर्बलताएँ: अपने पराकाष्ठा काल में भी मराठा साम्राज्य एक ढीला सा संघ था जिसका नेता छत्रपति अथवा पेशवा था। पेशवा ने जब छत्रपति की शक्तियाँ संभाल लीं तो अधीनस्थ सरदारों ने पेशवा की, गायकवाड़, होल्कर, सिन्धिया तथा भोंसले जैसे शक्तिशाली सरदारों ने अर्धस्वतंत्र राज्य स्थापित कर लिए और पेशवा के प्रति राजभक्ति केवल मौखिक ही रह गई। पानीपत के तीसरे युद्ध के पश्चात् ये सामन्तशाही इकाइयाँ छिन्न-भिन्न हो गयीं तथा पारस्परिक झगड़ों के कारण और भी नि:शक्त।

(5) मराठों की घटिया सैनिक प्रणाली: यद्यपि व्यक्तिगत वीरता में मराठे कम नहीं थे परन्तु ये लोग अंग्रेजी सैनिक संगठन, अस्त्र-शस्त्र, अनुशासन तथा नेतृत्व में बहुत पीछे थे।

वस्तुत: उन्होंने युद्ध की वैज्ञानिक तथा आधुनिक प्रणाली नहीं अपनाई। तोपखाना उत्तम तथा अचूक नहीं बनाया। महादजी सिन्धिया ने सेना का गठन यूरोपीय ढंग से किया। तोपों तथा बारूद के कारखाने लगाए गए परन्तु ये सब विदेशियों के हाथ में थे जो समय आने पर धोखा दे जाते थे।

(6) अंग्रेजों की उत्तम कूटनीति: कूटनीति में अंग्रेज बहुत आगे थे। युद्ध आरम्भ करने से पूर्व कम्पनी प्राय: भिन्न-भिन्न मित्र बना शत्रु को एकला कर देती थी। द्वितीय मराठा युद्ध में गायकवाड़ तथा दक्षिणी मराठा जागीरदारों को उन्होंने अपनी ओर मिला लिया था। पेशवा बसीन की सन्धि से पूर्व ही उनकी ओर था। इस कूटनीति से उन्हें सिन्धिया को विजय करना सुगम हो गया।

(7) अधिक उत्तम अंग्रेजी गुप्तचर व्यवस्था: जब मराठा युद्ध हुए तो कम्पनी के पास इन विस्तृत विवरणें के अतिरिक्त मराठों के पारस्परिक मतभेदों के विषय में भी ज्ञान होता था। मैलेट ने सूरत में रहते समय सिन्धिया तथा होल्कर परिवारों के विषय में पूरी जानकारी कम्पनी को भेजी।

(8) अंग्रेजों का प्रगतिशील दृष्टिकोण: यूरोपीय लोग उस समय तक धर्म तथा दैवी बन्धनों से बाहर आ चुके थे तथा अपनी शक्ति का प्रयोग वैज्ञानिक आविष्कारों, दूर समुद्री यात्राओं तथा उपनिवेश प्राप्त करने में लगा रहे थे। हम भारतीय लोग मध्ययुगीन तथा प्राचीन विचारों तथा परम्पराओं में जकड़े हुए थे। कर्मकाण्ड तथा भक्ति का बोलबाला था।

नोट

1.7 सारांश (Summary)

- यह युद्ध आस्ट्रिया के उत्तराधिकार के युद्ध का जो 1740 में आरम्भ हुआ था, विस्तार मात्र ही था। गृह सरकारों की आज्ञा के विरुद्ध ही दोनों दलों में 1746 में युद्ध हो गया। बारनैट के नेतृत्व में अंग्रेजी नौसेना ने कुछ फ्रांसीसी जल पोत पकड़ लिए। डूप्ले ने जो 1741 से पाण्डीचेरी का फ्रेंच गवर्नर-जनरल था, मॉरीशस स्थित फ्रांसीसी गवर्नर ला बूर्डोने (La Bourdonnais) से सहायता मांगी। ला बूर्डोने 3000 सैनिक लेकर कोरोमण्डल तट (मद्रास के पास का तट) की ओर चल पड़ा। रास्ते में उसने अंग्रेजी नौसेना को परास्त किया।
- कर्नाटक का प्रथम युद्ध सेन्ट टोमे के युद्ध के लिए स्मरणीय है। यह युद्ध फ्रांसीसी सेना तथा कर्नाटक के नवाब अनवरुद्दीन (1744-49) के नेतृत्व में भारतीय सेना के बीच लड़ा गया। झगड़ा फ्रांसीसियों द्वारा मद्रास की विजय पर हुआ।
- डूप्ले को कृष्णा नदी के दक्षिणी भाग में मुगल प्रदेशों का गवर्नर नियुक्त कर दिया। उत्तरी सरकारों के कुछ जिले भी फ्रांसीसियों को दे दिए। इसके अतिरिक्त मुजफ्फरजंग की प्रार्थना पर एक फ्रेंच सेना की टुकड़ी बुस्सी की अध्यक्षता में हैदराबाद में तैनात कर दी गई। 1751 में चन्दा साहिब कर्नाटक के नवाब बन गए। डूप्ले इस समय अपनी राजनैतिक शक्ति की चरम सीमा पर पहुंच गया था।
- क्लाइव ने जो त्रिचनापली के फ्रांसीसी घेरे को तोड़ने में असफल रहा था, त्रिचनापली पर दबाव कम करने के लिए कर्नाटक की राजधानी अरकाट को केवल 210 सैनिकों की सहायता से जीत लिया। चन्दा साहिब ने 4,000 सैनिक भेजे परन्तु अरकाट को पुनः नहीं जीत सके तथा क्लाइव ने 53 दिन तक (23 सितम्बर से 14 नवम्बर तक) इस सेना का प्रतिरोध किया। फ्रांसीसियों की प्रतिभा को इससे अनन्त क्षति पहुंची।
- इस प्रकार इस झगड़े का दूसरा दौर भी अनिश्चित रहा। स्थल पर अंग्रेजी सेना की प्रधानता सिद्ध हो गई थी तथा उनका प्रत्याशी मुहम्मद अली कर्नाटक का नवाब बन गया था।
- फ्रांसीसी सरकार ने अप्रैल 1757 मे काऊन्ट लाली को भारत भेजा। लगभग 12 मास की यात्रा के पश्चात् अप्रैल 1758 में वह भारत पहुंचा। इसी बीच अंग्रेज सिराजुद्दौला को पराजित कर बंगाल पर अपना अधिकार स्थापित कर चुके थे। इसके कारण अंग्रेजों को अपार धन मिला जिससे वे फ्रांसीसियों को दक्कन में पराजित करने में सफल हुए।
- 1760 में सर आयरकूट ने वन्दिवाश के स्थान पर फ्रांसीसियों को बुरी तरह पराजित किया। बुस्सी युद्धबन्दी बना लिया गया। जनवरी 1761 में फ्रांसीसी पूर्ण पराजय के पश्चात् पाण्डीचेरी लौट आए। अंग्रेजों ने इसे भी घेर लिया तथा 8 मास पश्चात् फ्रांसीसियों ने इस नगर को भी शत्रु के हवाले कर दिया। शीघ्र ही माही तथा जिंजी भी इनके हाथ से निकल गए। इस प्रकार आंग्ल-फ्रांसीसी प्रतिद्वन्द्विता का नाटक समाप्त हो गया तथा फ्रांसीसी हार गए।
- अंग्रेजों ने बंगाल में अपनी प्रथम कोठी (गोदाम) 1651 में हुगली में तत्कालीन बंगाल के सुबेदार शाह जहान के दूसरे पुत्र शाहशुजा की अनुमति से बनाई।
- शीघ्र ही अंग्रेजों ने कासिम बाजार, पटना तथा अन्य स्थानों पर कोठियां बना लीं। 1698 में सूबेदार अजीमुशान ने उन्हें सूतानती, कालीघाट तथा गोविन्दपुर (जहां आज कलकत्ता बसा है) की जमींदारी दे दी जिसके बदले उन्हें केवल ₹ 1200 पुराने मालिकों को देने पड़े। 1717 में सम्राट फर्रुखसीयर ने पुराने सूबेदारों द्वारा दी गई व्यापारिक रियायतों की पुनः पुष्टि कर दी तथा उन्हें कलकत्ता के आस-पास के अन्य क्षेत्रों को भी किराए पर लेने की अनुमति दे दी।
- सिराज ने देखा कि उसकी आज्ञा का उसी के राज्य में उल्लंघन हो रहा है तो उसने अंग्रेजों के विरुद्ध अभियान किया। फिलिप बुडरफ का यह कथन कि नवाब का फोर्ट विलियम पर आक्रमण का मुख्य उद्देश्य लूटमार करना था, पूर्णतया असत्य है। 15 जून, 1756 को फोर्ट विलियम घेर लिया गया तथा 5 दिन पश्चात् उसने आत्मसमर्पण

नोट

कर दिया। गवर्नर रॉजर ड्रेक तथा अन्य प्रमुख नागरिक पृष्ठ द्वार से निकल भागे। नवाब कलकत्ता को मानिकचन्द के हाथ दे कर स्वयं मुर्शिदाबाद लौट गया।

- फरवरी 1757 में नवाब ने क्लाइव से अलीनगर (नवाब द्वारा दिया कलकत्ता का नया नाम) की सन्धि पर हस्ताक्षर किए। इसके अनुसार, अंग्रेजों की व्यापार के पुराने अधिकार मिल गए जिसमें कलकत्ता की किलाबन्दी करने की अनुमति भी प्राप्त हो गई। उनकी क्षतिपूर्ति का भी प्रण किया गया। अब अंग्रेज आक्रान्ता की भूमिका में थे। नवाब के प्रमुख अधिकारी उससे असन्तुष्ट थे। क्लाइव ने इसका लाभ उठाकर एक षड्यन्त्र रचा जिसमें नवाब का प्रधान सेनापति मीर जाफर, बंगाल का एक प्रभावशाली साहूकार जगत सेठ, रायदुर्लभ तथा अमीनचन्द एक बिचौलिए के रूप में सम्मिलित हुए। निश्चय हुआ कि मीर जाफर को नवाब बना दिया जाए और वह इसके लिए कम्पनी को कृतार्थ करेगा तथा उसकी हानि की क्षतिपूर्ति भी करेगा।
- एक ऐसे समय जब नवाब को उत्तर-पश्चिम की ओर से अफगानों तथा पश्चिम की ओर से मराठों का भय था, ठीक उसी समय क्लाइव ने सेना सहित नवाब के विरुद्ध मुर्शिदाबाद की ओर प्रस्थान किया। 23 जून, 1757 को प्रतिद्वन्दी सेनाएँ मुर्शिदाबाद के दक्षिण में 22 मील की दूरी पर स्थित प्लासी गांव में आमों के निकुंज में टकराईं।
- नवाब की एक अग्रगामी टुकड़ी जिसके नेता मीर मदान तथा मोहन लाल थे, अंग्रेजों से बाजी ले ली गई और उसने क्लाइव को वृक्षों के पीछे शरण लेने पर बाध्य कर दिया। सहसा एक गोली से मीर मदान मारा गया। नवाब सिराजुद्दौला ने अपने प्रमुख अधिकारियों से मन्त्रणा की। मीर जाफर ने उसे पीछे हटने को कहा तथा यह भी कहा गया कि सिराज को सेना का नेतृत्व जरनैलों के हाथों में छोड़, युद्धक्षेत्र से चला जाना चाहिए। चाल चल गई। सिराज 2000 घुड़सवारों सहित मुर्शिदाबाद लौट गया। फ्रांसीसी टुकड़ी जो अभी तक जमी हुई थी, शीघ्र हार गई।
- मीर जाफर ने अंग्रेजों को उनकी सेवाओं के लिए 24 परगनों की जमींदारी से पुरस्कृत किया और क्लाइव को 2,34,000 पाऊंड की निजी भेंट दी। 50 लाख ₹ सेना तथा नाविकों को पुरस्कार के रूप में दिए। बंगाल की समस्त फ्रांसीसी बस्तियां अंग्रेजों को दी दीं।
- प्लासी का युद्ध उसके पश्चात् होने वाली घटनाओं के कारण ही महत्त्वपूर्ण है। बंगाल अंग्रेजों के अधीन हो गया और फिर स्वतंत्र नहीं हो सका। नया नवाब मीर जाफर अपनी रक्षा तथा पद के लिए अंग्रेजों पर निर्भर था। उनकी 6000 सेना उसकी रक्षा के हेतु बंगाल में स्थित थी।
- 30 जून, 1757 ई. को क्लाइव ने मुर्शिदाबाद में मीरजाफर को बंगाल के नवाब के पद पर आसीन कराया। इसी समय से बंगाल में कंपनी ने **नृप निर्माता** की भूमिका की शुरुआत की। बंगाल की नवाबी प्राप्त करने के उपलक्ष्य में मीर जाफर ने कंपनी को **'24 परगना'** की जमींदारी पुरस्कार के रूप में दिया।
- मीरजाफर के शासन काल में ही अंग्रेजों ने 'बांटो और राज करो' की नीति को जन्म देते हुए एक गुट को दूसरे गुट से लड़ाने की शुरुआत की। क्लाइव के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करने हेतु मीरजाफर ने तत्कालीन मुगल बादशाह आलमगीर द्वितीय से क्लाइव को उमरा की उपाधि और 24 परगना की जमींदारी प्रदान करवायी। 24 परगना की जागीर को 'क्लाइव की जागीर' के नाम से जाना जाता था।
- मीरकासिम अलीवर्दी के उत्तराधिकारियों में सर्वाधिक योग्य था। राज्यारोहण के तत्काल बाद उसे मुगल सम्राट शाहआलम द्वारा बिहार पर (1760-61) आक्रमण का सामना करना पड़ा, कंपनी की सेना ने सम्राट को पराजित कर उसकी स्थिति को दयनीय बना दिया।
- 1717 में मुगल बादशाह द्वारा प्रदत्त व्यापारिक फरमान का इस समय बंगाल में दुरुपयोग देखकर नवाब मीरकासिम ने आंतरिक व्यापार पर सभी प्रकार के शुल्कों की वसूली बंद करवा दी।
- 1762 में मीरकासिम द्वारा समाप्त की गई व्यापारिक चुंगी और कर का लाभ अब भारतीयों को भी मिलने लगा,

नोट

पहले यह लाभ 1717 के फरमान द्वारा केवल कंपनी को मिलता था, कंपनी ने चुनाव के इस निर्णय को अपने विशेषाधिकार की अवहेलना के रूप में लिया। परिणामस्वरूप संघर्ष की शुरुआत हुई।

- 19 जुलाई, 1763 को मीरकासिम और एडम्स के नेतृत्व में करवा नामक स्थान पर **'करवा का युद्ध'** हुआ जिसमें नवाब (अपदस्थ) पराजित हुआ। करवा के युद्ध के बाद और बक्सर के युद्ध से पूर्व मीरकासिम को अंग्रेजों ने तीन बार पराजित किया, परिणामस्वरूप कासिम ने मुंगेर छोड़कर पटना में शरण ली। 1763 में हुए पटना हत्याकाण्ड, जिसमें कई अंग्रेज मारे गये, से मीरकासिम प्रत्यक्ष रूप से जुड़ा था।
- क्लाइव ने बंगाल की उलझन को कुख्यात दोहरी प्रणाली द्वारा सुलझाने का प्रयत्न किया। इसमें वास्तविक शक्ति तो कम्पनी के पास थी परन्तु प्रशासन का भार नवाब के कन्धों पर था।
- मुगल साम्राज्य के स्वर्ण काल से ही प्रान्तों में दो मुख्य अधिकारी होते थे, सूबेदार तथा दीवान। सूबेदार का कार्य निजामत अर्थात् सैनिक संरक्षण, पुलिस तथा फौजदारी कानून लागू करना, तथा दीवान का कार्य कर व्यवस्था तथा दीवानी कानून लागू करना था। ये दोनों अधिकारी एक दूसरे पर नियंत्रण का काम भी करते थे तथा सीधे केन्द्रीय सरकार के प्रति उत्तरदायी थे। औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् मुगल सत्ता क्षीण हो गयी तथा बंगाल का नवाब मुर्शिद कुली खाँ दीवानी तथा निजामत दोनों कार्य करता था।
- 12 अगस्त, 1756 के फरमान के अनुसार आलम ने 26 लाख ₹ वार्षिक के बदले दीवानी का भार कम्पनी को सौंप दिया। कम्पनी को 53 लाख ₹ निजामत के कार्य के लिए भी देने थे। फरवरी 1756 में अपने पिता मीर जाफर की मृत्यु पर नजमुद्दौला को नवाब बनाने की अनुमति दे दी गई परन्तु शर्त यह थी कि निजामत का लगभग समस्त कार्य भार, अर्थात् सैनिक संरक्षण तथा विदेशी मानले पूर्णतया कम्पनी के हाथों में तथा दीवानी मामले डिप्टी सूबेदार, जिनको कम्पनी मनोनीत करेगी तथा जिसे कम्पनी की अनुमति के बिना हटाया नहीं जा सकेगा, सौंप दे। इस प्रकार कम्पनी का मुगल सम्राट से दीवानी तथा बंगाल के सूबेदार से निजामत का कार्यभार मिल गया।
- भारत में अंग्रेजी साम्राज्य का वास्तविक संस्थापक क्लाइव ही था। उसने समय की गति को समझा तथा वह ठीक दिशा में बढ़ा। उसने अपने प्रतिद्वन्द्वी डूप्ले को मात दी तथा अधिक स्थायी परिणाम प्राप्त किए। उसका अरकाट को घेरना (1751) एक अत्यन्त कुशलतापूर्ण चाल थी जिससे कर्नाटक में फ्रांसीसियों के विरुद्ध पांसा पलट गया। (1757) के प्लासी के युद्ध में विजय के पश्चात् नवाब उसकी एक कठपुतली बन गया।
- 18वीं शताब्दी में समस्त भारत में साहसी वीर सैनिकों के लिए उत्थान के लिए उत्थान के पर्याप्त अवसर थे। इसी प्रकार का एक वीर योद्धा हैदर अली (जन्म 1727) था। उसने अपना जीवन एक घुड़सवार के रूप में आरम्भ किया और फिर मैसूर का वास्तविक शासक बन गया।
- दक्षिण में निजाम, मराठों, अंग्रेजों तथा फ्रांसीसियों के बीच हुए चतुष्कोणीय संघर्ष ने मैसूर को भी अपने अखाड़े में ला खड़ा किया। मराठों ने 1753, 1754, 1757 तथा 1759 में मैसूर प्रदेश पर आक्रमण किए। इन आक्रान्ताओं की अमिट धन-पिपासा ने मैसूर को संकट में डाल दिया।
- ऐसे समय में हैदरअली सामने आया और 1761 तक वह मैसूर का वास्तविक शासक बन बैठा।
- वह जानता था कि शस्त्र निर्माण कार्य में यूरोपीय लोग बहुत आगे हैं। इसलिए उसने फ्रांसीसियों की सहायता से डिंडीगुल में शस्त्रागार स्थापित किया तथा अपनी सेना को प्रशिक्षण दिलवाया और शीघ्र वह कूटनीति में भी जोड़-तोड़ करने में सिद्धहस्त हो गया।
- शीघ्र ही हैदरअली ने देखा कि उसके विरुद्ध, निजाम, मराठों तथा कर्नाटक के नवाब का सम्मिलित मोर्चा बन गया है हैदरअली विचलित नहीं हुआ और उसने कूट-नीति से काम लिया। उसने मराठों को धन देकर और निजाम को प्रदेश का प्रलोभन देकर अपनी ओर मिला लिया और फिर कर्नाटक पर आक्रमण किया। डेढ़ वर्ष के अनिर्णायक युद्ध के पश्चात् हैदरअली ने अंग्रेजों के विरुद्ध बाजी उलट दी तथा मद्रास को घेर लिया। भयभीत हुए अंग्रेजों ने उससे एक तिरस्कारपूर्ण सन्धि कर ली (4 अप्रैल, 1769), जिसमें दोनों पक्षों ने विजित प्रदेश लौटा

नोट

लिए तथा दोनों दलों ने एक दूसरे को आरक्षण के लिए सहायता करने का वचन दिया अर्थात् अंग्रेजों को हैदरअली को सहायता देने का वचन देना पड़ा।

- 1769 की सन्धि, सन्धि न रहकर केवल युद्ध विराम ही रह गया था। हैदरअली पर आक्रमण किया तो अंग्रेजों ने, 1769 की सन्धि के अनुकूल सहायता नहीं की थी। दूसरे हैदरअली ने देखा कि उसकी बन्दूकों, तोपों, शोरे तथा बारूद की आवश्यकताओं के लिए अंग्रेजों के स्थान पर फ्रांसीसी अधिक सहायक थे। कुछ सैनिक सामान, मालाबार तट पर स्थित फ्रांसीसी बन्दरगाह माही के द्वारा भी मैसूर पहुंचता था।
- हैदरअली ने निजाम तथा मराठों से मिलकर–सबके शत्रु–ईस्ट इण्डिया कम्पनी के विरुद्ध एक संयुक्त मोर्चा बना लिया। जुलाई 1780 में हैदरअली ने कर्नाटक पर आक्रमण कर दिया तथा कर्नल बेली के अधीन अंग्रेजी सेना को हराकर अरकाट जीत लिया।
- अन्त में दोनों पक्षों ने सन्धि करना उचित समझा और मार्च 1784 में मंगलोर की सन्धि द्वारा दोनों पक्षों ने विजित प्रान्त लौटा दिए। युद्ध का यह दूसरा दौर अनिश्चित रहा।
- यद्यपि 1784 के पिट्स इण्डिया अधिनियम में यह स्पष्ट कर दिया गया था कि कम्पनी कोई नया प्रदेश जीतने का प्रयत्न नहीं करेगी, तो भी लार्ड कॉर्नवालिस ने निजाम तथा मराठों की टीपू–विरोधी भावनाओं से प्रेरित होकर 1790 में टीपू के विरुद्ध त्रिदलीय संगठन रचा।
- कॉर्नवालिस ने एक बड़ी सेना की सहायता से टीपू पर आक्रमण कर दिया और वैल्लौर तथा अम्बूर से होता हुआ वह बंगलौर पर चढ़ आया जो उसने मार्च 1791 में जीत लिया तथा श्रीरंगापट्टम तक पहुंच गया। अंग्रेजों ने कोइम्बटूर भी जीत लिया परन्तु शीघ्र ही उसे पुनः हाथ से खो बैठे। मराठा तथा निजाम की सहायता से उन्होंने पुनः श्रीरंगापट्टम की ओर चढ़ाई की। टीपू ने कड़ा प्रतिरोध किया परन्तु जब उसने देखा कि युद्ध जारी रखना असम्भव है तो उसने श्रीरंगापट्टम की सन्धि कर ली (मार्च 1792)।
- भारत में ईस्ट इण्डिया कम्पनी की नीति का मुख्य अंग यह था कि युद्ध करो। फिर अपने आपको आने वाले युद्ध के लिए तैयार करने के लिए शान्ति की नीति अपनाओ। 1798 में लार्ड वैलेजली आया जो एक साम्राज्यवादी गवर्नर–जनरल था।
- आंग्ल–मराठा युद्ध के प्रथम दौर के कारण मराठों के आपसी झगड़े तथा अंग्रेजों की महत्वाकांक्षाएं थीं। जैसे क्लाइव ने दोहरी प्रणाली बंगाल, बिहार तथा उड़ीसा में स्थापित कर ली थी, उसी प्रकार की दोहरी प्रणाली बम्बई कम्पनी महाराष्ट्र में भी स्थापित करना चाहती थी।
- इस संघर्ष का दूसरा दौर फ्रांसीसी भय से संलग्न था। वैलजली, जो साम्राज्यवादी था, 1798 में भारत आया। उसने यह अनुभव किया कि फ्रांसीसी भय से बचने का केवल एक उपाय है कि समस्त भारतीय राज्य कम्पनी पर ही निर्भर होने की स्थिति में पहुँच जाएँ। उसने सहायक सन्धि की प्रणाली का विकास किया।
- इस युद्ध का तृतीय तथा अन्तिमचरण हेस्टिंग्ज के आने पर अरम्भ हुआ। उसने फिर आक्रान्ता का रुख अपनाया तथा भारत में अंग्रेजों की सर्वश्रष्ठता बनाने का प्रयत्न किया। 1805 के पश्चात् के जो शान्ति के वर्ष मराठों को मिले थे उनका प्रयोग उन्होंने अपने आप को सुदृढ़ बनाने के लिए न कर आपसी कलह में खो दिए। हेस्टिंग्ज के पिण्डारियों के विरुद्ध अभियान से मराठों के प्रभुत्व को चुनौती मिली अतएव दोनों दल युद्ध में खिंच आए।

1.8 शब्दकोश (Keywords)

- पदाति : पैदल चलने वाली सेना।
- चौथ : एक प्रकार का वसूला जाने वाला कर।
- आक्रान्ता : आक्रमणकारी, अशांति फैलाने वाला।

नोट

1.9 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

- भारत में ब्रिटिश विस्तार का वर्णन करते हुए कर्नाटक युद्ध की समीक्षा कीजिए।
- बंगाल में अंग्रेजी शक्ति के उत्कर्ष पर प्रकाश डालिए।
- प्लासी के युद्ध का वर्णन कीजिए।
- क्लाइव के द्वैध शासन से आप क्या समझते हैं? वर्णन कीजिए।
- ब्रिटिश विस्तार का मैसूर ने प्रतिरोध किस प्रकार किया? आंग्ल-मैसूर युद्ध का वर्णन करते हुए समझाइए।
- आंग्ल-मराठा युद्धों का विवेचन कीजिए।

उत्तर: स्व-मूल्यांकन (Answer: Self Assessment)

1. (1) (क) (2) (ग) (3) (ख) (4) (ग)
   (5) (ग)
2. (1) फ्रांसीसी (2) 1716 (3) डिंडीगुल (4) निजाम को प्रदेश
   (5) मंगलौर की सन्धि

1.10 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. *स्वतंत्रता संग्राम*– विपिन चन्द्र, हिन्दी माध्यम कार्यान्वय, निदेशालय दिल्ली विश्वविद्यालय।
2. *आधुनिक भारत*– एस.के. पाण्डे, प्रयाग एकेडमी इलाहाबाद।
3. *स्वतंत्रता का इतिहास*– बी.एल. ग्रोवर एवं यशपाल, एस. चन्द एण्ड कम्पनी लि., दिल्ली।

नोट

इकाई–2: ब्रिटिश राज का सुदृढ़ीकरण (1818–1843) एवं केन्द्रीय संरचना का विकास (1773–1863): Consolidation of British Raj (1818-1843) and Development of Central Structure (1773-1863)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)
प्रस्तावना (Introduction)
2.1 ब्रिटिश राज का सुदृढ़ीकरण (1818–1843) (Consolidation of British Raj (1818-1843)
2.2 केन्द्रीय संरचना का विकास (1773–1863) (Development of Central Structure (1773-1863)
2.3 रेग्यूलेटिंग ऐक्ट और पिट्स इण्डिया ऐक्ट (Regulating and Pitt's India Act)
2.4 सारांश (Summary)
2.5 शब्दकोश (Keywords)
2.6 अभ्यास–प्रश्न (Review Questions)
2.7 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- ब्रिटिश राज के सुदृढ़ीकरण की व्याख्या करने में,
- केन्द्रीय संरचना के विकास (1773–1863) को समझने में,
- रेग्यूलेटिंग ऐक्ट एवं पिट्स इण्डिया ऐक्ट का विवेचन करने में,

प्रस्तावना (Introduction)

लार्ड हेस्टिंग्ज (1813–23) के युद्धों ने कम्पनी के और भारतीय रियासतों के सम्बन्धों में एक नया मोड़ दिया। साम्राज्य की भावना जाग उठी और सर्वश्रेष्ठता के सिद्धान्त का विकास होना आरम्भ हुआ। फरवरी 1814 की उसकी अपनी डायरी में इसी भावना का वर्णन है। अब जो सन्धियाँ रियासतों से की जाती थीं उनमें पारस्परिकता और मैत्री सम्बन्धों के स्थान पर कम्पनी के साथ अधीनस्थ सहयोग और कम्पनी की सर्वश्रेष्ठता को स्वीकार करने की बात थी अर्थात् अब रियासतों ने अपनी समस्त बाहरी प्रभुसत्ता कम्पनी के अधीन कर दी थी यद्यपि आन्तरिक मामलों में वे पूर्णतया स्वतंत्र थीं।

2.1 ब्रिटिश राज का सुदृढ़ीकरण (1818–1843) (Consolidation of British Raj (1818-1843)

लार्ड हेस्टिंग्ज के पश्चात् कम्पनी का रियासतों के आन्तरिक प्रशासन में प्रभाव बढ़ना आरम्भ हो गया। आरम्भ में ब्रिटिश रेजिडेन्ट कम्पनी और भारतीय रियासतों के बीच सम्पर्क का साधन था परन्तु शनै– शनै– उसका प्रभाव

नोट

आन्तरिक प्रशासन में भी बढ़ने लगा। जैसे–जैसे कम्पनी की सर्वश्रेष्ठता बढ़ती चली गई उसके एजेंन्टों की शक्ति भी बढ़ती चली गई और वे एक विदेशी शक्ति के दूत के स्थान पर एक अधिक शक्तिशाली सरकार के नियन्त्रण अधिकारी के रूप में काम करने लगे। लार्ड हेस्टिंग्ज ने भी इसी तथ्य का वर्णन अपनी डायरी में किया है और कहा है "प्राय: ये रेजिडेन्ट एक तानाशाह का रूप धारण कर लेते हैं, निजी मामलों में हस्तक्षेप करते हैं, राजा के विरुद्ध विद्रोही प्रजा को समर्थन देते हैं, और शक्ति के प्रयोग का बहुत भौंडा प्रदर्शन करते हैं।" राजा चन्दूलाल हैदराबाद के प्रशासन में रेजिडेन्ट कर्नल लो से आज्ञा प्राप्त किया करते थे। इसी प्रकार कर्नल वाकर एक प्रशासक–रेजिडेन्ट के रूप में कार्य करते थे जब व गायकवाड़ को अपने सामन्त सरदारों से कर संग्रह करने में सहायता देते थे। एक पत्रकार हेनरी मीड ने 1857 से पहले ही लिखा था, "बहुधा सारे प्रशासन का कार्य रेजिडेन्ट महोदय पर ही है, यदि बाह्य रूप से नहीं तो वास्तविक रूप से। कई बार तो बेचारा राजा उतनी स्वतंत्रता से भी वंचित हो जाता था जितनी कि उसकी साधारण प्रजा को होती थी। मैसूर के राजा को अभिजनक घोड़े और घुड़दौड़ के घोड़े रखने पर बड़ी–बड़ी थैलियाँ भेंट करनी पड़ीं क्योंकि रेजिडेंट को घुड़दौड़ से प्रेम था।"

क्या आप जानते हैं ट्रावनकोर का रेजिडेंट एक विद्वान व्यक्ति था और उसको प्रसन्न करने के लिए महाराजा ने एक वेधशाला बनाई और वैज्ञानिक नौकर रखे।

1833 के चार्टर ऐक्ट के अनुसार कम्पनी का स्वरूप ही बदल गया। कम्पनी को अपना व्यापार बन्द करने की आज्ञा हुई और अब उसे केवल राजनैतिक कार्य ही करना था। रियासतों के प्रति नीति में एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन यह किया गया कि उन्हें अब उत्तराधिकार के प्रश्नों पर कम्पनी की पूर्व आज्ञा प्राप्त करनी होती थी। तदनन्तर कम्पनी ने उनके मंत्रियों की नियुक्ति में भी हस्तक्षेप करना आरम्भ कर दिया।

1834 में कम्पनी के डाइरेक्टरों ने यह निश्चय किया कि जहाँ कहीं और जब कभी सम्भव हो सके रियासतों का विलय होना चाहिए। डाइरेक्टरों ने इसी नीति का 1841 में पुन– उल्लेख किया और गवर्नर–जनरलों को आज्ञा हुई कि कम्पनी को अपने राज्य के क्षेत्रों के मानपूर्वक विस्तार करने का कोई भी अवसर नहीं खोना चाहिए और विस्तारवादी गवर्नर–जनरलों ने कुप्रशासन और वास्तविक उत्तराधिकारियों के न होने पर नए क्षेत्र प्राप्त कर लिए। उन्होंने दत्तक पुत्र लेने की अनुमति देने के लिए अधिकार का प्रयोग किया और ये राज्य कम्पनी को व्यपगत हो गए। कहा गया कि जो प्राधिकरण देने की शक्ति रखता है वह लेने की शक्ति भी रखता है। कुप्रबन्ध के लिए कम्पनी ही वास्तविक रूप से उत्तरदायी थी। सहायक सन्धि प्रणाली ही भारतीय रियासतों के लिए हानिकारक सिद्ध हुई जैसा कि मनरो ने कहा है, "जहाँ–जहाँ सहायक सन्धि प्रणााली लागू की गई है वहीं शीघ्र इसका परिणाम उजड़े हुए गाँव और घटी हुई जनसंख्या के रूप में देखने को मिलेगा।" 1848 में सर हेनरी लॉरेन्स ने कहा था, "यदि कोई कुशासन लाने की योजना थी तो यह कि महाराजा और उसके मन्त्री विदेशी तलवारों पर निर्भर रहें रेजिडेंट द्वारा निर्देशन प्राप्त करें। यदि तीनों अच्छे भी हों तो भी प्रशासन कठिनाई से ही व्यवस्था पूर्वक कार्य कर सकता था। तीनों ही अगण्य हानि पहुँचा सकते हैं परन्तु यदि शेष न चाहें तो कोई भी एक, अच्छा कार्य नहीं कर सकता था।" 1853 में कार्ल मार्क्स ने कहा था, "स्थानीय राज्यों के विषय में तो यह हुआ कि जिस दिन से वे कम्पनी द्वारा रक्षित हो गए अथवा उसके सहायक बन गए उसी दिन से उनका अस्तित्व समाप्त हो गया। यदि आप किसी देश के प्रशासन को दो सरकारों के बीच बाँट दें तो आप निश्चय ही एक के साधनों को और दोनों के प्रशासन को पंगु कर देंगे और जिन परिस्थितियों में आप उनकी बाहरी स्वायत्तता बनाये रखेंगे वह निश्चय ही उसके स्थायी क्षय होने में सहायक होगी और वह कभी भी अपने आप को सुधार नहीं सकती।" बैंटिंक ने 1831 में मैसूर, 1832 में कचार, 1834 में कुर्ग और 1835 में जैन्तिया रियासतें, आकलैंड ने 1839 में करनूल और माण्डवी, 1840 में कोलाबा और जालौन, और डलहौजी ने लगभग आधी दर्जन रियासतें जिनमें अवध, सतारा और नागपुर जैसी बड़ी–बड़ी रियासतें भी सम्मिलित थीं, अंग्रेजी साम्राज्य में विलय कर लीं।

नोट

1818 में कम्पनी की निर्विवाद रूप से सर्वश्रेष्ठता स्थापित हो जाने पर भी कम्पनी की रियासतों के प्रति नीति, पूर्णतया,"अव्यवस्थित, अस्पष्ट और प्राय– परस्पर विरोधी" ही थी। जैसा कि के. एम. पन्निकर ने लिखा है, "कम्पनी के अधिकारी इस विषय में शासकों को जमींदार, सामन्त, कर देने वाले सहायक अथवा स्वतंत्र शासक के रूप में स्वीकार करते थे और इस विषय में प्रत्येक गवर्नर–जनरल और रेजिडेंट भिन्न–भिन्न विचार रखता था।" कभी पूर्वोदाहरण का अनुसरण करते थे, कभी नये पूर्वोदहरण बना देते थे। एक ओर कई रियासतें विलय कर ली गईं तो दूसरी ओर खैरपुर को 1832 में, बहावलपुर को 1833 में और कश्मीर को 1846 में यह विश्वास दिलाया गया कि उनके आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं किया जाएगा। जैसे प्रोफेसर डॉडवैल इस स्थिति के विषय में लिखते हैं, "कम्पनी को सन्धि की शर्तों से प्राप्त अधिकारों के अतिरिक्त, एक ओर अधिक शक्तिशाली और एक ओर अनमने मन से चुपचाप स्वीकृति देने वाली विनीत शक्तियां उभर रही थीं तथा उत्तराधिकार और आन्तरिक प्रशासन के मामलों में अस्तक्षेप करने के अनेक पूर्वोदाहरण आरम्भ कर दिए। यह सब का सम्मिश्रण ही कम्पनी की सर्वश्रेष्ठता थी; वह सर्वश्रेष्ठता जो कि अनिश्चित और अपरिभाष्य थी और जिसका राजनैतिक परिस्थितियों के शक्तिशाली दबाव के कारण सदैव प्रसार होता रहता था।"

2.2 केन्द्रीय संरचना का विकास (1773–1863) (Development of Central Structure (1773-1863)

रेग्यूलेटिंग ऐक्ट के तहत वॉरेन हेस्टिंग्स को बंगाल का प्रथम गवर्नर–जनरल बनाया गया। इसे भारत का प्रथम गवर्नर–जनरल भी कहा जाता है।

राजस्व बोर्ड– 1772 ई. में हेस्टिंग्स ने राजस्व बोर्ड का गठन किया तथा कोष मुर्शिदाबाद से कलकत्ता लाया गया।

भूमि सुधार– वॉरेन हेस्टिंग्स ने 1772 ई. में पाँच वर्षीय एवं 1777 ई. मे एक वर्षीय भू–राजस्व बन्दोबस्त लागू किया।

न्यायिक सुधार– 1773 ई. के रेग्यूलेटिंग ऐक्ट के तहत 1774 ई. में कलकत्ता में एक सुप्रीम कोर्ट की स्थापना की गई। इसका मुख्य न्यायाधीश इम्पे था। इसके तीन अन्य न्यायाधीश चैम्बर्स, लिमैस्टर एवं हाइट थे। इस प्रकार भारत में न्यायिक सेवा का जन्मदाता वॉरेन हेस्टिंग्स था।

एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल– 1784 ई. में विलियम जोंस ने कलकत्ता में इसकी स्थापना की। इसके द्वारा अनूदित पहली पुस्तक भगवद्गीता (विल्किंस द्वारा) एवं दूसरी हितोपदेश थी

टास्क भारत में न्यायिक सेवा का जन्मदाता किसे कहा जाता है?

दास व्यापार पर रोक– कार्नवालिस ने 1789 ई. में दासों के व्यापार पर रोक लगा दी।

सिविल सेवा– कार्नवालिस भारत में सिविल सेवा का जन्मदाता था। इस सेवा में 1953 ई. से प्रतियोगितात्मक परीक्षा होने लगी। यह प्रारम्भ में इंग्लैण्ड में होती थी लेकिन 1923 ई. से यह भारत में भी होने लगी 1863 ई. में प्रथम भारतीय आई.सी.एस. सत्येन्द्र नाथ टैगोर थे। सुरेन्द्र नाथ बनर्जी जब असम के कलक्टर थे, तब उन्हें निलम्बित कर दिया गया था। अरविन्द घोष घुड़सवावरी की परीक्षा पास नहीं कर सके थे जबकि सुभाष चन्द्र बोस ने परीक्षा पास करने के बावजूद त्याग पत्र दे दिया था। प्रारम्भ में इस परीक्षा की अधिकतम आयु 23 वर्ष थी, जिसे लिटन ने घटाकर 19 वर्ष कर दिया था।

पुलिस सेवा– भारत में पुलिस सेवा का जन्मदाता भी कार्नवालिस को माना जाता है।

स्थायी बन्दोबस्त– कार्नवालिस ने 1793 ई. में बंगाल में स्थायी बन्दोबस्त व्यवस्था लागू की। इसके द्वारा जमींदारों

नोट

को भूमि का स्वामी मान लिया गया। आर.सी. दत्त ने स्थायी बन्दोबस्त का समर्थन किया था।

सहायक सन्धि– इस सन्धि को स्वीकार करने वाले राज्यों के वैदेशिक सम्बन्ध अंग्रेजी राज्य के अधीन हो जाते थे। परन्तु उनके आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं किया जाता था। सहायक सन्धि स्वीकार करने वाले राज्यों का क्रम निम्नलिखित है–हैदराबाद (1798 ई.), तंजौर (1799 ई.), (1798 ई.), अवध (1801 ई.), पेशवा (1802 ई.), भोंसले (1803 ई.), सिन्धिया (1804 ई.), जोधपुर, जयपुर, मच्छेड़ी, बूँदी तथा भरतपुर।

फोर्ट विलियम कॉलेज– वेलेजली ने नागरिक सेवा में (आई.सी.एस.) भर्ती किए गए युवकों के परीक्षण के लिए 1800 ई. में कलकत्ता में फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना की।

नोट्स भारत में अंग्रेजी सत्ता की श्रेष्ठता स्थापित करने तथा फ्रांसीसियों के भय को समाप्त करने के उद्देश्य से वेलेजली ने सहायक सन्धि प्रणाली को प्रचलित किया।

भारत में ब्रिटिश प्रभुसत्ता लार्ड हेस्टिंग्स के समय में स्थापित हुई। इसके काल की अन्य प्रमुख घटनाएँ निम्नलिखित हैं–

(1) आंग्ल–नेपाल युद्ध (1814–16 ई.)– इस युद्ध की समाप्ति 1816 ई. के संगौली की सन्धि से हुई। इस सन्धि के अनुसार गढ़वाल, कुमायूँ, शिमला, रानीखेत एवं नैनीताल अंग्रेजों के अधिकार में आ गए तथा गोरखों ने काठमाण्डू में ब्रिटिश रेजीडेण्ट रखना स्वीकार कर लिया।

(2) पिण्डारियों का दमन– 'पिण्डारी' मराठी भाषा का शब्द है। यह लुटेरों का एक दल था जिसमें हिन्दू तथा मुस्लिम दोनों सम्मिलित थे। इन्हें मराठों का समर्थन भी प्राप्त था। मराठा सरदार मल्हार राव होल्कर ने इन्हें सुनहला झण्डा प्रदान किया था। मैल्कम ने इन्हें "मराठा शिकारियों के साथ शिकारी कुत्ता" की संज्ञा दी थी।

पिण्डारियों के दमन के लिए उत्तरी सेना की कमान हेस्टिंग्स ने स्वयं ली, जबकि दक्षिणी सेना की कमान टॉमस हिसलोप को दी गई। मैल्कम, हिसलोप का सहायक था। इस समय 4 पिण्डारी सरदार अत्यन्त प्रमुख थे–चीतू, वासिल मुहम्मद, अमीर खाँ एवं करीम खाँ। चीतू को असीरगढ़ के जंगल मे चीता ने खा लिया। वासिल मुहम्मद ने सिन्धिया के यहाँ शरण ली, इसे सिन्धिया ने अंग्रेजों को सौंप दिए। गाजीपुर की जेल में इसने आत्महत्या कर ली। करीम खाँ ने मैल्कम के समक्ष आत्म–समर्पण कर दिया। उसे गोरखपुर में गौस की जागीर प्रदान की गई। अमीर खाँ को भरतपुर में टोंक की जागीर दी गई। हीरू तथा बूरन आदि पिण्डारी नेता भी समाप्त कर दिए गए। 1824 ई. तक पिण्डारियों का सफाया कर दिया गया।

(3) मराठा संघ का अन्त– हेस्टिंग्स ने मराठों को तृतीय युद्ध में पराजित कर मराठा संघ को भंग कर दिया। बाजीराव को गद्दी से उतारकर 18 लाख ₹ वार्षिक पेंशन देकर कानपुर के समीप विठूर में बिठा दिया। सतारा की गद्दी शिवाजी के वंशज प्रताप सिंह को दे दी गई।

लार्ड विलियम बैंटिंक भारत का गवर्नर जनरल बनने से पहले 1803 ई. में मद्रास का गवर्नर नियुक्त किया गया था। 1806 ई. में उसने सैनिकों को माथे पर जातिय चिह्न लगाने और कानों में बालियाँ पहनने से मना कर दिया जिससे वेलौर में प्रथम धार्मिक सैनिक विद्रोह हुआ। बैंटिंक एक कट्टर ह्विग (उदारवादी) था। उसका समय विभिन्न सामाजिक सुधारों के कारण याद किया जाता है।

सती–प्रथा का अन्त– 1829 ई. के नियम XVII द्वारा सती–प्रथा पर प्रतिबन्ध लगा गया। प्रारम्भ में यह कानून केवल बंगाल प्रेसीडेन्सी में लागू किया गया, परन्तु 1803 ई. में इसे बम्बई एवं मद्रास प्रेसीडेन्सियों में भी लागू किया गया।

ठगी–प्रथा का अन्त– बैंटिंक ने ठगी–प्रथा की समाप्ति के लिए कर्नल स्लीमन की नियुक्ति की। 1803 ई. तक ठगी–प्रथा का अन्त हो गया।

नोट

सरकारी सेवाओं में भेदभाव का अन्त– 1833 ई. के चार्टर ऐक्ट की धारा 87 के द्वारा योग्यता को ही सेवा का आधार स्वीकार कर लिया गया। अब यह मान लिया गया कि किसी भी भारतीय नागरिक को उसके धर्म, जन्म–स्थान, जाति अथवा रंग के आधार पर किसी पद से वंचित नहीं रखा जा सकेगा।

अंग्रेजी को शिक्षा का माध्यम बनाना– 7 मार्च, 1835 ई. के एक प्रस्ताव द्वारा अंग्रेजी को भारत में उच्च शिक्षा का माध्यम मान लिया गया।

कलकत्ता मेडिकल कॉलेज– 1835 ई. में बैंटिंक ने कलकत्ता में मेडिकल कॉलेज की नींव रखी।

भारतीय रियासतों के प्रति नीति– बैंटिंक ने अव्यवस्था का आरोप लगाकर 1831 ई. में मैसूर, 1834 ई. में कुर्ग तथा कछार की रियासतों को अपने प्रदेश में मिला लिया। बैंटिंक ने ही सर्वप्रथम ' 'संभागीय आयुक्तों' की नियुक्ति की। लार्ड डलहौजी 36 वर्ष की अवस्था में भारत का गवर्नर जनरल बना।

पंजाब का विलय– डलहौजी ने 1852 ई. में पंजाब पर अधिकार कर लिया।

द्वितीय आंग्ल–बर्मा युद्ध– डलहौजी ने 1852 ई. में लोअर बर्मा तथा पीगू का विलय कर दिया।

सिक्किम– डलहौजी ने 1850 ई. में सिक्किम राज्य के कुछ दूरवर्ती प्रदेश जिनमें दार्जिलिंग आदि सम्मिलित थे, भारत में मिला लिए।

व्यपगत का सिद्धान्त अथवा राज्य हड़पने की नीति– डलहौजी जिस कार्य के लिए सर्वाधिक चर्चित रहा, वह उसकी हड़प नीति थी। इसने तत्कालीन भारतीय रजवाड़ों को तीन भागों में बाँटा–

(अ) वे राजवाड़े जो किसी के नियंत्रण में नहीं थे, न ही किसी को कर देते थे। वे बिना अंग्रेजी हस्तक्षेप के गोद ले सकते थे।

(ब) वे रजवाड़े जो मुगल सम्राट अथवा पेशवा के नियंत्रण में थे, परन्तु इसके समय में अंग्रेजों के अधीन थे, उन्हें गोद लेने से पहले अंग्रेजों से अनुमति लेना आवश्यक था।

(स) वे रियासतें जिनका निर्माण स्वयं अंग्रेजों ने किया था, उन्हें गोद लेने का अधिकार नहीं था। अपने इस नियम का पालन करते हुए उसने निम्नलिखित राज्यों को अंग्रेजी राज्य में मिला लिया।

डलहौजी ने गवर्नर जनरल पर कार्य के बोझ को कम करने के उद्देश्य से बंगाल में एक लेफ्टीनेंट गवर्नर की नियुक्ति की व्यवस्था की।

सैन्य सुधार– इसके अन्तर्गत कलकत्ता में स्थित तोपखाने का कार्यालय मेरठ में तथा सेना का मुख्य कार्यालय शिमला में स्थापित किया गया।

शिक्षा सम्बन्धी सुधार– 1853 ई में टॉमसन की व्यवस्था के अनुसार समस्त उत्तर–पश्चिमी प्रान्त (आधुनिक उ. प्र.), लोअर बंगाल और पंजाब में स्थानीय परिस्थितियों के अनुसार भारतीय भाषाओं का प्रस्ताव स्वीकार किया गया। 1854 ई. का चार्ल्स वुड का डिस्पैच, जो विश्वविद्यालयी शिक्षा से सम्बन्धित था, इन्हीं के समय में पारित हुआ।

रेलवे लाइन– डलहौजी के काल में भारत में 1853 ई. में प्रथम रेलवे लाइन बम्बई से थाना के बीच बिछाई गई। दूसरी रेलवे लाइन 1854 ई. में कलकत्ता से रानीगंज के बीच बिछाई गई।

विद्युत तार– डलहौजी के समय में प्रथम विद्युत तार सेवा कलकत्ता से आगरा के बीच प्रारम्भ हुई। 1857 ई. के संघर्ष में एक विद्रोही ने मरते हुए कहा था कि "इस तार ने हमारा गला घोंट दिया।"

डाक सुधार– इसी के समय में 1854 ई. में पहली बार डाक टिकटों का प्रचलन आरम्भ हुआ। अब 2 पैसे की दर पर कहीं भी पत्र भेजा जा सकता था। 1854 ई. में पारित पोस्ट ऑफिस ऐक्ट द्वारा तीनों प्रेसीडेन्सियों में डाकघरों की अच्छी देखरेख के लिए एक–एक महानिदेशकों की नियुक्ति की गई है।

सार्वजनिक निर्माण विभाग– डलहौजी से पूर्व सार्वजनिक निर्माण का कार्य एक सैनिक बोर्ड पर था। पहली बार एक सार्वजनिक निर्माण विभाग बनाया गया। गंग नहर का कार्य भी पूरा किया गया।

नोट

वाणिज्य सुधार के अन्तर्गत इसने भारत के बन्दरगाहों को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए खोल दिया।

लोक शिक्षा विभाग– 1854 ई. में डलहौजी ने लोक शिक्षा विभाग की स्थापना की।

भारत के वायसराय (1858 ई. के अधिनियम द्वारा)

1857 ई. के विद्रोह के बाद 1858 ई. का अधिनियम पारित किया गया। इस अधिनियम के द्वारा ही गवर्नर जनरल को अब वायसराय कहा जाने लगा। कैनिंग के समय में ही 1857 ई. का विद्रोह हुआ। इसके बाद उसे ही प्रथम वायसराय बनाया गया।

लार्ड कैनिंग (1856–62 ई.)– यह भारत का गवर्नर जनरल एवं वायसराय दोनों था। इसके काल की प्रमुख घटनाएँ निम्नलिखित हैं–

1. 1857 ई. का विद्रोह कैनिंग के काल में हुआ।
2. 1857 ई. में कलकत्ता, बम्बई और मद्रास में विश्वविद्यालयों की स्थापना लन्दन विश्विद्यालय की तर्ज पर हुई।
3. 1858 ई. के महारानी विक्टोरिया के उद्घोषणा द्वारा भारत में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन की समाप्ति हो गई। अब भारत का शासन सीधे ब्रिटिश ताज के अन्तर्गत आ गया।
4. कैनिंग ने सैनिक तथा असैनिक व्यय में कमी कर दी तथा नोट (₹) का प्रचलन किया।
5. असम में चाय तथा नीलगिरी की पहाड़ियों पर कहवा की खेती को प्रोत्साहित किया।
6. आर्थिक सुधारों के अन्तर्गत कैनिंग ने ब्रिटिश अर्थशास्त्री विल्सन को भारत बुलाया तथा 500 ₹ से अधिक आय पर आयकर लगा दिया। आयात पर 10 प्रतिशत तथा निर्यात पर 4 प्रतिशत कर निश्चित किया गया।
7. विधवा पुनर्विवाह अधिनियम, 1856 ई. में कैनिंग के ही समय में पास हुआ।
8. भारतीय दण्ड संहिता की स्थापना 1861 ई. में कैनिंग के ही समय में हुई।

लार्ड एल्गिन प्रथम (1862-63 ई.) के समय सर्वोच्च एवं सदर न्यायालयों को सर्वोच्च न्यायालय के साथ शामिल कर दिया गया।

स्व–मूल्यांकन (Self Assessment)

सही विकल्प चुनिए– (Choose the correct option)

1. भारत का प्रथम गवर्नर जनरल कौन था?
   (क) लार्ड हेस्टिंग्स (ख) वॉरेन हेस्टिंग्स (ग) डलहौजी (घ) कार्नवालिस

2. कलकत्ता में सुप्रीम कोर्ट की स्थापना किसके समय में हुई?
   (क) वॉरेन हेस्टिंग्स (ख) डलहौजी (ग) कार्नवालिस (घ) लार्ड हेस्टिंग्स

3. एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल की स्थापना कब हुई?
   (क) 1781 (ख) 1783 (ग) 1784 (घ) 1785

4. सिविल सेवा एवं पुलिस सेवा का जन्मदाता किसे कहा जाता है?
   (क) कैनिंग (ख) कार्नवालिस (ग) लार्ड हेस्टिंग्स (घ) डलहौजी

5. सहायक सन्धि प्रणाली को किसने प्रचलित किया?
   (क) डलहौजी (ख) वैलेजली (ग) कार्नवालिस (घ) कैनिंग

6. फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना कलकत्ता में कब की गई?
   (क) 1800 (ख) 1805 (ग) 1808 (घ) 1809

नोट

7. भारत में ब्रिटिश प्रभुसत्ता की स्थापना किसके समय में हुई?
   (क) वेलेजली (ख) डलहौजी (ग) लार्ड हेस्टिंग्स (घ) कैनिंग

8. सती प्रथा एवं ठगी प्रथा का अन्त किसने किया?
   (क) डलहौजी (ख) कैनिंग
   (ग) लार्ड विलियम बैंटिंक (घ) कार्नवालिस

9. कलकत्ता में मेडिकल कॉलेज की स्थापना कब की गई?
   (क) 1830 (ख) 1832 (ग) 1833 (घ) 1835

10. रेलवे लाइन एवं तार सेवा किसके काल में शुरू हुई?
    (क) डलहौजी (ख) एल्गिन (ग) कैनिंग (घ) कार्नवालिस

2.3 रेग्यूलेटिंग ऐक्ट और पिट्स इण्डिया ऐक्ट (Regulating and Pitt's India Act)

पारित होने की घटनाएँ– दोहरी प्रणाली के अधीन भारतीय प्रजा पर होते हुए अत्याचार के विषय में एक समकालीन मुस्लिम इतिहासकार ने अपनी पुस्तक सियार–उल–मुत्खैरीन में भी उल्लेख किया है और कहा है कि "जनता के हितों की पूर्णतया अनदेखी करते हुए कम्पनी ने अपने अधिकारियों को प्रजा पर अनन्त अत्याचार करने की अनुमति दे दी थी।" इसी बीच 1770 में एक भीषण अकाल पड़ा जो सम्भवत– भारत के लिखित इतिहास में सबसे भयानक था। कम्पनी ने इस अकाल की भीषणता को कम करने का लेशमात्र भी प्रयत्न नहीं किया बल्कि अंग्रेज व्यापारियों ने इस से अनुचित लाभ उठाकर बहुत धन कमाया। एक अंग्रेज लेखक लेकी ने यहाँ तक कहा कि "भारतीयों ने ऐसी कठोर और तीक्ष्ण निर्दयता सम्भवत– पहले कभी भी अनुभव नहीं की थी।"

वॉरेन हेस्टिंग्स के 1772 में भारत आने से पूर्व बारह वर्ष तक अंग्रेज व्यापारी बंगाल से लूटे हुए सोने से भरे थैले लेकर इंग्लैण्ड लौटते रहे। इन अंग्रेजी नवाबों को समकालीन अंग्रेजी अभिजात वर्ग जिस तिरस्कार, ईर्ष्या तथा घृणा की दृष्टि से देखता था वह समकालीन संस्मरणों तथा पत्र–व्यवहार से स्पष्ट होता है।

कम्पनी की बिगड़ती हुई वित्तीय स्थित बहुत दिनों तक छुपी नहीं रह सकी। कम्पनी ने पहला कार्य यह किया कि 4,00,000 पौण्ड वार्षिक जो अंग्रेजी सरकार को देना होता था उससे छूट मांगी। कम्पनी पर ऋण की मात्रा बढ़ने लगी। वास्तविक लेखे को झुठलाकर कम्पनी ने 1772 में भी 12.5 प्रतिशत लाभांश जारी रखा और वह उस समय जबकि कम्पनी पर 60 लाख पौण्ड ऋण था। जब बंगाल के अकाल का तथा हैदरअली के कर्नाटक पर सफल आक्रमणों का समाचार लंदन पहुँचा तो कम्पनी के शेयरों का मूल्य बाजार में बहुत गिर गया। शीघ्र ही लोगों को कम्पनी की वास्तविक स्थिति का पता लग गया। निराश होकर डाइरेक्टरों ने बैंक ऑफ इंग्लैण्ड से दस लाख पौण्ड का ऋण मांगा। यह सम्भवत: कम्पनी की स्वतंत्रता का अन्त था। लार्ड नार्थ ने इस ऋण के प्रार्थना-पत्र को ब्रिटिश संसद की स्वीकृति के लिए भिजवा दिया, जहाँ उसका दोनों सदनों में बहुमत था। संसद की एक प्रवर समिति इस प्रार्थना-पत्र की जांच करने के लिए नियुक्त की गई। प्रवर समिति का अध्यक्ष जनरल बरगायन था जिसने विवाद में बोलते हुए कहा था, "महान अत्याचार और क्रूरता जो किसी असैनिक सरकार के नाम को धब्बा लगा सकती है, उसे सुधारने की आवश्यकता है.....और यदि किससी कारण प्रभुसत्ता और व्यापार को अलग नहीं किया गया तो भारत और इंग्लैण्ड दोनों ही इतने नीचे गिर जाएंगे और डूब जाएंगे कि उनका पुनरुत्थान नहीं हो सकेगा।"

इसमें कोई सन्देह नहीं कि डाइरेक्टरों के व्यवार पर लोगों को बहुत सन्देह था। मार्च 1772 में उन्होंने लाभांश की घोषणा फिर 12.5 प्रतिशत की थी और उसी वर्ष 10 लाख पौण्ड के ऋण का प्रार्थना-पत्र सरकार को दिया था। यह विसंगति इतनी स्पष्ट थी कि हाऊस ऑफ कामंस की एक दूससरी (गुप्त) समिति की नियुक्ति करनी पड़ी ताकि इसका कारण पता किया जाए। एक कम्पनी जिसके अधिकारी इंग्लैण्ड को धन से मालामाल होकर लौटें, क्यों कर दिवालिया हो जाए। यह एक अद्‌भुत प्रश्न था।

नोट

अगले वर्ष वसन्त में जांच समिति ने अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। जैसी कि आशा थी, यह रिपोर्ट अत्यधिक दोषसूचक थी। अतएव संसद ने दो अधिनियम पारित किए। प्रथम के अनुसार कम्पनी को 4 प्रतिशत की ब्याज पर 14 लाख पौण्ड कुछ शर्तों पर ऋण दिया गया। दूसरे अधिनियम द्वारा रेग्यूलेटिंग ऐक्ट पारित किया गया। इस विधेयक का कम्पनी तथा उसके मित्रों ने डटकर विरोध किया।

रेग्यूलेटिंग ऐक्ट के प्रावधान– इस अधिनियम द्वारा कम्पनी के संविधान में इंग्लैण्ड तथा भारत दोनों में ही परिवर्तन लाए गए। इंग्लैण्ड में स्वामियों के अधिकरण में वोट देने का अधिकार केवल उन लोगों को दिया गया जो चुनाव से कम से कम एक वर्ष पूर्व एक हजार पौण्ड के शेयर के स्वामी रहे हों और यह निश्चय हुआ कि कोर्ट ऑफ डाइरेक्टर्स चार वर्ष के लिए चुना जाएगा और डाइरेक्टरों की संख्या 24 होगी जिसमें से 25 प्रतिशत प्रति वर्ष अवकाश प्राप्त करेंगे। डाइरेक्टरों को यह आदेश हुआ कि "वे वित्त विभाग के सामने भारत प्रशासन तथा राजस्व सम्बन्धी राजसचिव के सन्मुख सैनिक और असैनिक प्रशासन सम्बन्धी सभी पत्र–व्यवहार प्रस्तुत करें। इस प्रकार पहली बार ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल को भारतीय मामलों का नियंत्रण करने का अधिकार दिया गया यद्यपि यह अधिकार अपूर्ण था।"

बंगाल में एक प्रशासन मण्डल बनाया गया जिसमें गवर्नर–जनरल (अध्यक्ष के रूप में) तथा चार पार्षद नियुक्त किए गए। इस मण्डल में बहुमत से निर्णय होते थे और अध्यक्ष केवल मत बराबर होने की अवस्था में ही निर्णायक मत का प्रयोग कर सकता था। कोरम अथवा गणपूर्ति तीन का था। प्रथम गवर्नर–जनरल (वॉरेन हेस्टिंग्ज) तथा पार्षद (फिलिप फ्रांसिस, क्लेवरिंग, मॉनसन तथा बरवैल) का नाम तो अधिनियम में ही लिख दिया गया था। ये लोग पाँच वर्ष के लिए नियुक्त किए गए और केवल कोर्ट ऑफ डाइरेक्टर्स की सिफारिश पर केवल ब्रिटिश सम्राट द्वारा ही हटाये जा सकते थे। भावी नियुक्तियाँ कम्पनी द्वारा की जानी थीं। सपरिषद् गवर्नर–जनरल को बंगाल में फोर्ट विलियम की प्रेजिडेन्सी के सैनिक तथा असैनिक शासन का अधिकार दिया गया तथा उसे "कुछ विशेष मामलों में मद्रास तथा बम्बई की प्रेजिडेन्सियों का अधीक्षण भी करना था।"

अधिनियम में इस बात की भी व्यवस्था थी कि क्राउन आज्ञापत्र द्वारा एक सर्वोच्च तथा तीन छोटे जजों वाले एक सर्वोच्च न्यायालय की स्थापना करे। इस सर्वोच्च न्यायालय को साम्य न्याय तथा देश विधि के न्यायालय, नौसेना विधि के न्यायालय तथा धार्मिक न्यायालय के रूप में काम करना था। कम्पनी के कार्यकर्त्ता इसके न्याय क्षेत्र में कर दिए गए। सभी अंग्रेज प्रजा; चाहे अंग्रेज हो अथवा भारतीय, सुप्रीम कोर्ट का दरवाजा खटखटा सकती थी। इस न्यायालय को यह भी अधिकार था कि यह कम्पनी की सेवा तथा सम्राट की सेवा में लगे लोगों के विरुद्ध मामले, कार्यवाही अथवा शिकायत की सुनवाई कर सके। इस न्यायालय को इंग्लैण्ड में प्रचलित सभी न्यायिक विधियों क अनुसार न्याय करने के अधिकार दिए गए। इस न्यायालय को प्राथमिक तथा अपील के अधिकार की अनुमति थी। इस न्यायालय को अंग्रेजी परम्परा के अनुसार पंचों की सहायता से मुकद्दमों की सुनवाई करनी थी। यह उच्चतम न्यायाल 1774 में गठित किया गया और सर एलीजाह इम्पे मुख्य न्यायाधीश तथा चेम्बर्ज; लिमैस्टर और हाइड छोटे न्यायाधीश नियुक्त हुए।

रेग्यूलेटिंग ऐक्ट ने एक ईमानदार शासक का आधारभूत सिद्धान्त निश्चित किया कि "कोई व्यक्ति जो कम्पनी के अधीन सैनिक अथवा असैनिक पदाधिकारी हो वह किसी भी व्यक्ति से प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से कोई उपहार, दान, पारितोषिक इत्यादि नहीं ले सकता।"

कम्पनी के कार्यकर्त्ताओं के वेतन बढ़ा दिए गए। गवर्नर–जनरल को 25,000 पौण्ड, पार्षदों को 10,000 पौण्ड तथा मुख्य न्यायाधीश को 8,000 पौण्ड तथा छोटे न्यायाधीशों को 6,000 पौण्ड वार्षिक दिए गए जो सम्भवत– समकालीन समस्त संसार के सबसे ऊँचे वेतन थे।

अधिनियम की आलोचना– अधिनियम ने गवर्नर–जनरल तो नियुक्त कर दिया परन्तु उस पर एक परिषद् लाद दी जिससे वह पूर्णतया असहाय हो गया, जैसा कि वारेन हेस्टिंग्ज के साथ (1774 से 1776 तक) अधिनियम ने न्यायालय तो स्थापित कर दिया परन्तु उसे कौन से कानून के अनुसार चलना है (भारतीय अथवा ब्रिटिश) यह निश्चित नहीं था और न ही परिषद् तथा न्यायालय का अधिकार क्षेत्र निश्चित किया गया। अधिनियम कुछ मामलों

नोट

में जानबूद कर चुप था तथा यह एक प्रकार का समझौता था। इसने स्पष्ट रूप से क्राउन की प्रभुसत्ता को दृढ़तापूर्वक स्थापित करने का प्रयत्न नहीं किया और न ही बंगाल के नवाब की प्रभुसत्ता पर आघात किया। अधिनियम ने "राज्य सरकार को कम्पनी पर, डाइरेक्टरों को अपने सेवकों पर, गवर्नर–जनरल को परषिद पर, अथवा कलकत्ता प्रेजिडेन्सी को मद्रास अथवा बम्बई पर पूर्ण तथा स्पष्ट रूप से नियंत्रण नहीं दिया।" यह अधिनियम अवरोध तथा संतुलन की नीति पर आधारित था। वास्तविक स्थितियों के दवाब के अधीन तथा आन्तरिक त्रुटियों के कारण यह छिन्न-भिन्न हो गया। अतएव हम कह सकते हैं कि इस अधिनियम के मुख्य दोष ये थे कि (क) गवर्नर-जनरल तथाउसकी परिषद् का आपस में झगड़ा होना अनिवार्य था। (ख) उच्चतम न्यायालय, जिसमें अंग्रेजी कानून लागू भी होता था तथा बंगाल में पूर्व स्थित अन्य न्यायालय के आपसी सम्बन्धों में अनियमितता थी। इसके अतिरिक्त परिषद् तथा डच्चतम न्यायालय के आपसी सम्बन्ध भी अनिख्चित थे। यहाँ तक कि आपस में विरोध हो गया। गवर्नर-जनरल तथा उसकी परिषद् द्वारा बनाए गए कानूनों को न्यायालय में लागू करना उच्चतम न्यायालय की अपनी इच्छा पर निर्भर था। इसी प्रकार प्रशासनिक तथा न्यायिक विभाग के अधिकार-क्षेत्रों की अस्पष्टता इसस अधिनियम का एक महान दोष था। (ग) गवर्नर-जनरल को अन्य प्रेजिडेन्सियों पर पूर्णरूपेण अधिकार नहीं दिया गया। इसी कारण कार्यान्वित करते समय यह व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो गई।

अधिनियम का महत्त्व (Importance of the Act)– रेग्यूलेटिंग ऐक्ट के विषय में यह स्वीकार करना पड़ेगा कि किसी भी यूरोपीय शक्ति द्वारा सुदूर सभ्य लोगों के देश में प्रशासन करने का यह प्रथम प्रयत्न था। उत्तरी अमरीका की नाईं भारत ऐसा देश नहीं था यहाँ यूरोपीय लोग ही रहते थे और जहाँ यूरोपीय संस्थओं का लागू करना तथा चलाना बहुत सरल था। इसी प्रकार ईस्ट इण्डिया कम्पनी के भारतीय प्रदेश दक्षिणी अमरीका की भाँति नहीं थे जो कि एक अविकसित प्रदेश हों। इस प्रकार रेग्यूलेटिंग एक्ट एक अनजान समुद्र में नाव चलाने की भाँति था। इसमें भारत के प्रशासन का ब्यौरा कम्पनी की अपनी युक्तियों पर छोड़ दिया गया था। इसके द्वारा बंगाल, मद्रास तथा बम्बई में एक ईमानदार तथा कुशल प्रभुसत्ता स्थापित करने का प्रयत्न किया गया। कम्पनी के अधिकारी अपनी शक्तियों का दुरुपयोग न कर सकें, इस उद्देश्य से उन्होंने कलकत्ते में एक उच्च न्यायालय भी स्थापित कर दिया। इंग्लैण्ड में कोई भी सरकारी पदाधिकारी कानून की परिधि से बाहर नहीं था और वह अपने कार्यों के लिए साधारण न्यायालय में उत्तरदायी था। अतएव थोड़े में हम यह कह सकते हैं कि यह अधिनियम अधिक अच्छा प्रशासन स्थापित करने के लिए एक प्रयत्न था परन्तु चूंकि समस्या का पूर्ण ज्ञान नहीं था तथा यह अधिनियम अज्ञान में बनाया गया अतएव पूर्णतया असफल रहा तथा इससे वारेन हेस्टिंग्ज की स्थिति दृढ़ नहीं हुई अपितु उसकी कठिनाइयाँ बढ़ीं।

रेग्यूलंटिंग ऐक्ट 11 वर्ष तक चलता रहा। फिर 1784 में इसके स्थापन पर पिट का इण्डिया ऐक्ट पारित किया गया। वॉरेन हेस्टिंग्ज ही एक ऐस गवर्नर-जनरल था जिसने इसस अधिनियम के अनुसार भारत पर प्रशासन किया।

पिट्स का इण्डिया ऐक्ट (1784) (Pitt's India Act 1784)

पारित होन की घटनाएँ– 1772 तथा 1781 में कम्पनी के मामलों की छानबीन करने के लिए दोनों, एक प्रवर समिति और एक गुप्त समिति नियुक्त की गई। प्रवर समिति ने उच्चतम न्यायालय तथा बंगाल परिषद् के आपसी सम्बन्धों के विषय में और गुप्त समिति ने मराठा युद्ध के कारणों की जांच की। भारी भरकम रिपोर्टों का कम्पनी के आलोचकों ने संसद के वादविवाद में खुलकर प्रयोग किया। संसद का कम्पनी के मामलों में हस्तक्षेप करना उस समय और भी आवश्यक हो गया जब मराठा युद्ध के कारण कम्पनी की वित्तीय कठिनाइयाँ बढ़ गईं और उसने 10 लाख पाऊण्ड का एक और ऋण मांगा। गुप्त समिति के अध्यक्ष डंडास द्वारा प्रस्तुत विधेयक अस्वीकार कर दिया गया। इस पर फाक्स ने इण्डिया बिल India Bill प्रस्तुत किया। वास्तव में यह बिल बर्क और फिलिप फ्रांसिस ने ही तैयार किया था। इसके अनुसार कम्पनी की राजनैतिक तथा सैनिक शक्ति सात आयुक्तों के बोर्ड को सौंप दी जानी थी और व्यापारिक कार्य उनके अधीनस्थ नौ उपनिदेशकों को। यदि यह बिल पारित हो जाता तो कम्पनी एक राजनैतिक शक्ति के रूप में समाप्त हो जाती। यह बिल हाउस ऑफ कामन्स में पारित हो गया परन्तु हाउस ऑफ लार्ड्स में बिल पारित नहीं हो सका और लार्ड नार्थ तथा फाक्स की मिलीजुली सरकार को त्याग–पत्र देना पड़ा।

नोट

यह पहला और अन्तिम अवसर था जबकि एक अंग्रेजी सरकार भारतीय मामले पर टूट गई। जनवरी 1784 में पिट प्रधान मंत्री बना। उसने एक नया विधेयक प्रस्तुत किया। दूसरा पठन भी हो गया परन्तु शीघ्र ही मन्त्रिमण्डल टूट गया। नई संसद मई 1784 में गठित हुई। वही पुराना जनवरी की संसद वाला विधेयक कामन्स सभा में जुलाई 1784 में और लार्ड्स में अगस्त मास में पारित हुआ। फाक्स का यह कथन था कि उसका बिल अधिक उत्तम था। पिट ने एक और सावधानी प्रयोग की थी कि इस विधेयक के लिए कम्पनी की स्वीकृति पहले ले ली थी। और इस प्रकार विधेयक के विरोध को पहले ही समाप्त कर दिया था। वास्तव में फाक्स तथा पिट के विधेयक लगभग एक ही प्रकार के थे। भिन्नता केवल इस बात में थी कि फाक्स के बिल से कम्पनी संरक्षण को समाप्त कर दिया गया था परन्तु इसमें उसे जारी रखा गया।

नोट्स पिट ने स्वयं भी इस विषय में यों कहा था कि "फाक्स के विधेयक से व्यक्तियों को स्थायित्व मिलना था, मेरे विधेयक से एक प्रणाली को स्थायित्व मिला।"

अधिनियम की धाराएँ– 1784 के अधिनियम से कम्पनी के लन्दन स्थित प्रशासन में परिवर्तन आया। इससे सरकार का कम्पनी के मामलों में नियंत्रण बढ़ गया यद्यपि कम्पनी के व्यापार को अछूता छोड़ दिया गया। परन्तु सभी असैनिक, सैनिक तथा राजस्व सम्बन्धी मामलों को एक नियंत्रण बोर्ड के अधीन कर दिया गया जिसमें एक चांसलर ऑफ एक्सचेकर, एक राज्य सचिव तथा उनके द्वारा नियुक्त किए चार प्रीवी काउंसिल के सदस्य होते थे। तीन डाइरेक्टरों की एक गुप्त समिति द्वारा बोर्ड के सभी मुख्य आदेश भारत को भेजे जाने थे। स्वामियों के अधिकरण को यह अधिकार नहीं रहा कि डाइरेक्टरों का जो आदेश नियंत्रण बोर्ड द्वारा स्वीकार कर लिया हो, उसे वह रद्द, निलम्बित अथवा समाप्त कर सके।

भारत में प्रशासन गवर्नर–जनरल तथा उसकी चार के स्थान पर तीन सदस्यों वाली परिषद के हाथ में दे दिया गया। गवर्नन–जनरल को अभी भी बहुमत के आदेश पर कार्य करना होता था परन्तु अब सदस्य संख्या तीन होने के कारण यदि एक भी पार्षद उसकी ओर होता तो वह अपना निर्णायक मत का प्रयोग करके अपनी बात मनवा सकता था। इससे अधिक इस अधिनियम में कुछ नहीं किया गया। यह त्रुटि 1793 में दूर की गई जब गवर्नर–जनरल को परिषद बहुमत की अनदेखी करने तथा मत को रद्द करने का अधिकार दिया गया। इसी अधिनियम के अनुसार बम्बई तथा मद्रास प्रेजिडेंसियाँ भी गवर्नर–जनरल और उसकी परिषद के अधीन कर दी गईं। इसके अतिरिक्त यह भी निश्चय किया गया कि भविष्य में केवल संश्रावित सेवक ही गवर्नर–जनरल की परिषद के सदस्य नियुक्त किये जाएंगे। बाहर के लोगों को इन पदों पर नियुक्त करने का प्रयास सफल नहीं हुआ।

अधिनियम पर विचार (Observations on the Act)– इस अधिनियम द्वारा कम्पनी के संविधान में दो मुख्य परिवर्तन आए। पहला यह कि इंग्लैण्ड में सरकार का एक विभाग बनाया गया जिसे नियंत्रण बोर्ड कहते थे और जिसका मुख्य कार्य डाइरेक्टर्स की नीति को नियन्त्रित करना था और इस प्रकार शासन की ही दोहरी प्रणाली, एक कम्पनी द्वारा, और दूसरी एक संसदीय बोर्ड द्वारा बना दी गई और यह 1858 तक चलती रही। नियंत्रण बोर्ड को प्रशासन का स्वतंत्र अधिकार नहीं था। इसके पास कोई संरक्षण नहीं था। इसकी शक्ति आवरण में भी। इसको कम्पनी के सभी कागजात देखने का अधिकार था और केवल व्यापारिक आदेशों को छोड़कर, शेष सभी आदेशों पर इसकी स्वीकृति आवश्यक थी और आवश्यकता पड़ने पर नियंत्रण बोर्ड अपना आदेश डाइरेक्टरों की गुप्त समिति को भेज सकता था और उसे डाइरेक्टरों को हस्ताक्षर कर अपनी ओर से भारत भेजना होता था। इस प्रकार भारत में कम्पनी का समस्त सैनिक तथा असैनिक प्रशासन अंग्रेजी सरकार के अधीन हो गया था। डाइरेक्टर्स के बोर्ड को अपने संरक्षण पर पूर्ण अधिकार था और उन्हें अपने पदाधिकारियों की पदोन्नति करने का भी पूर्ण अधिकार था। इस बोर्ड का अध्यक्ष आरम्भिक काल में एक राज्य सचिव होता था और उसे कोई विशेष वेतन नहीं मिलता था परन्तु 1793 के पश्चात् सवेतन अध्यक्ष नियुक्त हो गया और यह अधिकारी भारतीय शासन के लिए 1856 तक उत्तरदायी रहा जब इसके स्थापन पर भारत राज्य सचिव की नियुक्ति हो गई। इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि पिट के इण्डिया

नोट

ऐक्ट ने कम्पनी तथा भारतीय प्रशासन का 1858 तक चलने वाला मूलभूत आधार निश्चित कर दिया। दूसरे, इस अधिनियम के कार्यकारी पार्षदों की संख्या तीन रह गई जिनमें से मुख्य सेनापति एक था। बम्बई और मद्रास की परिषदों का गठन भी बंगाल के नमूने पर ही कर दिया गया।

परन्तु इस अधिनियम की सबसे महत्त्वपूर्ण धारा यह थी कि इसके द्वारा भारत में आक्रामक युद्धों को केवल समाप्त ही कर दिया गया अपितु जो प्रत्याभूति की सन्धियाँ कर्नाटक तथा अवध जैसे भारतीय राजाओं से की गई थीं उन्हें भी समाप्त किया गया और यह कहा गया कि "विजय की योजनाएँ तथा भारत में साम्राज्य का विस्तार इस राष्ट्र की इच्छा, सम्मान तथा नीति के विरुद्ध है।" परतु जैसा कि हम देखते हैं, इस आदेश का अनुसरण विपरीत दिशा में अधिक किया गया। वास्तव में यह अधिनियम बहुत ही दक्ष उपाय था, जिसमें राजनैतिक समझौते के सभी लक्षण थे। बर्क ने इस विषय में कहा था, "अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए एक ऐसा अच्छा तथा दक्ष उपाय है जैसा कि कोई मनुष्य बना सकता है।"

2.4 सारांश (Summary)

- लार्ड हेस्टिंग्ज के पश्चात् कम्पनी का रियासतों के आन्तरिक प्रशासन में प्रभाव बढ़ना आरम्भ हो गया। आरम्भ में ब्रिटिश रेजिडेन्ट कम्पनी और भारतीय रियासतों के बीच सम्पर्क का साधन था परन्तु शनैः शनैः उसका प्रभाव आन्तरिक प्रशासन में भी बढ़ने लगा। जैसे–जैसे कम्पनी की सर्वश्रेष्ठता बढ़ती चली गई उसके एजेंन्टों की शक्ति भी बढ़ती चली गई और वे एक विदेशी शक्ति के दूत के स्थान पर एक अधिक शक्तिशाली सरकार के नियन्त्रण अधिकारी के रूप में काम करने लगे।
- 833 के चार्टर ऐक्ट के अनुसार कम्पनी का स्वरूप ही बदल गया। कम्पनी को अपना व्यापार बन्द करने की आज्ञा हुई और अब उसे केवल राजनैतिक कार्य ही करना था। रियासतों के प्रति नीति में एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन यह किया गया कि उन्हें अब उत्तराधिकार के प्रश्नों पर कम्पनी की पूर्व आज्ञा प्राप्त करनी होती थी। तदनन्तर कम्पनी ने उनके मंत्रियों की नियुक्ति में भी हस्तक्षेप करना आरम्भ कर दिया।
- 1818 में कम्पनी की निर्विवाद रूप से सर्वश्रेष्ठता स्थापित हो जाने पर भी कम्पनी की रियासतों के प्रति नीति, पूर्णतया,"अव्यवस्थित, अस्पष्ट और प्राय– परस्पर विरोधी" ही थी।
- "कम्पनी को सन्धि की शर्तों से प्राप्त अधिकारों के अतिरिक्त, एक ओर अधिक शक्तिशाली और एक ओर अनमने मन से चुपचाप स्वीकृति देने वाली विनीत शक्तियां उभर रही थीं तथा उत्तराधिकार और आन्तरिक प्रशासन के मामलों में अस्तक्षेप करने के अनेक पूर्वोदाहरण आरम्भ कर दिए। यह सब का सम्मिश्रण ही कम्पनी की सर्वश्रेष्ठता थी; वह सर्वश्रेष्ठता जो कि अनिश्चित और अपरिभाष्य थी और जिसका राजनैतिक परिस्थितियों के शक्तिशाली दबाव के कारण सदैव प्रसार होता रहता था।"
- 1774 ई. में कलकत्ता में एक सुप्रीम कोर्ट की स्थापना की गई। इसका मुख्य न्यायाधीश इम्पे था। इसके तीन अन्य न्यायाधीश चैम्बर्स, लिमैस्टर एवं हाइट थे। इस प्रकार भारत में न्यायिक सेवा का जन्मदाता वॉरेन हेस्टिंग्स था।
- कार्नवालिस भारत में सिविल सेवा का जन्मदाता था। इस सेवा में 1953 ई. से प्रतियोगितात्मक परीक्षा होने लगी। यह प्रारम्भ में इंग्लैण्ड में होती थी लेकिन 1923 ई. से यह भारत में भी होने लगी 1863 ई. में प्रथम भारतीय आई.सी.एस. सत्येन्द्र नाथ टैगोर थे।
- भारत में ब्रिटिश प्रभुसत्ता लार्ड हेस्टिंग्स के समय में स्थापित हुई।
- चीतू को असीरगढ़ के जंगल में चीता ने खा लिया। वासिल मुहम्मद ने सिन्धिया के यहाँ शरण ली, इसे सिन्धिया ने अंग्रेजों को सौंप दिए। गाजीपुर की जेल में इसने आत्महत्या कर ली। करीम खाँ ने मैल्कम के समक्ष आत्म–समर्पण कर दिया। उसे गोरखपुर में गौस की जागीर प्रदान की गई। अमीर खाँ को भरतपुर में टोंक

नोट

की जागीर दी गई।

- 1806 ई. में उसने सैनिकों को माथे पर जातिय चिह्न लगाने और कानों में बालियाँ पहनने से मना कर दिया।
- 1835 ई. में बैंटिंक ने कलकत्ता में मेडिकल कॉलेज की नींव रखी।
- इस अधिनियम द्वारा कम्पनी के संविधान में इंग्लैण्ड तथा भारत दोनों में ही परिवर्तन लाए गए। इंग्लैण्ड में स्वामियों के अधिकरण में वोट देने का अधिकार केवल उन लोगों को दिया गया जो चुनाव से कम से कम एक वर्ष पूर्व एक हजार पौण्ड के शेयर के स्वामी रहे हों और यह निश्चय हुआ कि कोर्ट ऑफ डाइरेक्टर्स चार वर्ष के लिए चुना जाएगा और डाइरेक्टरों की संख्या 24 होगी जिसमें से 25 प्रतिशत प्रति वर्ष अवकाश प्राप्त करेंगे।
- बंगाल में एक प्रशासन मण्डल बनाया गया जिसमें गवर्नर–जनरल (अध्यक्ष के रूप में) तथा चार पार्षद नियुक्त किए गए। इस मण्डल में बहुमत से निर्णय होते थे और अध्यक्ष केवल मत बराबर होने की अवस्था में ही निर्णायक मत का प्रयोग कर सकता था। कोरम अथवा गणपूर्ति तीन का था। प्रथम गवर्नर–जनरल (वॉरेन हेस्टिंग्ज) तथा पार्षद (फिलिप फ्रांसिस, क्लेवरिंग, मॉनसन तथा बरवैल) का नाम तो अधिनियम में ही लिख दिया गया था। ये लोग पाँच वर्ष के लिए नियुक्त किए गए और केवल कोर्ट ऑफ डाइरेक्टर्स की सिफारिश पर केवल ब्रिटिश सम्राट द्वारा ही हटाये जा सकते थे। भावी नियुक्तियाँ कम्पनी द्वारा की जानी थीं।
- अधिनियम में इस बात की भी व्यवस्था थी कि क्राउन आज्ञापत्र द्वारा एक सर्वोच्च तथा तीन छोटे जजों वाले एक सर्वोच्च न्यायालय की स्थापना करे। इस सर्वोच्च न्यायालय को साम्य न्याय तथा देश विधि के न्यायालय, नौसेना विधि के न्यायालय तथा धार्मिक न्यायालय के रूप में काम करना था।
- अधिनियम ने गवर्नर–जनरल तो नियुक्त कर दिया परन्तु उस पर एक परिषद् लाद दी जिससे वह पूर्णतया असहाय हो गया, जैसा कि वारेन हेस्टिंग्ज के साथ (1774 से 1776 तक) अधिनियम ने न्यायालय तो स्थापित कर दिया परन्तु उसे कौन से कानून के अनुसार चलना है (भारतीय अथवा ब्रिटिश) यह निश्चित नहीं था और न ही परिषद् तथा न्यायालय का अधिकार क्षेत्र निश्चित किया गया।
- 1772 तथा 1781 में कम्पनी के मामलों की छानबीन करने के लिए दोनों, एक प्रवर समिति और एक गुप्त समिति नियुक्त की गई। प्रवर समिति ने उच्चतम न्यायालय तथा बंगाल परिषद् के आपसी सम्बन्धों के विषय में और गुप्त समिति ने मराठा युद्ध के कारणों की जांच की।
- जनवरी 1784 में पिट प्रधान मंत्री बना। उसने एक नया विधेयक प्रस्तुत किया। दूसरा पठन भी हो गया परन्तु शीघ्र ही मन्त्रिमण्डल टूट गया। नई संसद मई 1784 में गठित हुई। वही पुराना जनवरी की संसद वाला विधेयक कामन्स सभा में जुलाई 1784 में और लार्ड्स में अगस्त मास में पारित हुआ। फाक्स का यह कथन था कि उसका बिल अधिक उत्तम था। पिट ने एक और सावधानी प्रयोग की थी कि इस विधेयक के लिए कम्पनी की स्वीकृति पहले ले ली थी। और इस प्रकार विधेयक के विरोध को पहले ही समाप्त कर दिया था। वास्तव में फाक्स तथा पिट के विधेयक लगभग एक ही प्रकार के थे। भिन्नता केवल इस बात में थी कि फाक्स के बिल से कम्पनी संरक्षण को समाप्त कर दिया गया था परन्तु इसमें उसे जारी रखा गया।
- 1784 के अधिनियम से कम्पनी के लन्दन स्थित प्रशासन में परिवर्तन आया। इससे सरकार का कम्पनी के मामलों में नियंत्रण बढ़ गया यद्यपि कम्पनी के व्यापार को अछूता छोड़ दिया गया। परन्तु सभी असैनिक, सैनिक तथा राजस्व सम्बन्धी मामलों को एक नियंत्रण बोर्ड के अधीन कर दिया गया जिसमें एक चांसलर ऑफ एक्सचेकर, एक राज्य सचिव तथा उनके द्वारा नियुक्त किए चार प्रीवी काउंसिल के सदस्य होते थे। तीन डाइरेक्टरों की एक गुप्त समिति द्वारा बोर्ड के सभी मुख्य आदेश भारत को भेजे जाने थे। स्वामियों के अधि करण को यह अधिकार नहीं रहा कि डाइरेक्टरों का जो आदेश नियंत्रण बोर्ड द्वारा स्वीकार कर लिया हो, उसे वह रद्द, निलम्बित अथवा समाप्त कर सके।

नोट

- इस अधिनियम की सबसे महत्त्वपूर्ण धारा यह थी कि इसके द्वारा भारत में आक्रामक युद्धों को केवल समाप्त ही कर दिया गया अपितु जो प्रत्याभूति की सन्धियाँ कर्नाटक तथा अवध जैसे भारतीय राजाओं से की गई थीं उन्हें भी समाप्त किया गया और यह कहा गया कि "विजय की योजनाएँ तथा भारत में साम्राज्य का विस्तार इस राष्ट्र की इच्छा, सम्मान तथा नीति के विरुद्ध है।"

2.5 शब्दकोश (Keywords)

- तानाशाह – स्वेच्छाचारी, निरंकुश शासक
- अभिजनक – कुलीन, उच्चवंश
- वेधशाला – जहाँ नक्षत्रों का अध्ययन किया जाता है।
- भौंडा – कुरूप, अनगढ़, बेडौल

2.6 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. "1818 से 1843 तक का समय ब्रिटिश राज के सुदृढ़ीकरण का दौर था।" इस कथन की विवेचना कीजिए।
2. 1773 से 1863 के बीच ब्रिटिश शासन के अंतर्गत केन्द्रीय संरचना के विकास पर प्रकाश डालिए।
3. 1773 के रेग्यूलेटिंग ऐक्ट के प्रावधानों का समीक्षात्मक वर्णन कीजिए।
4. पिट्स इण्डिया ऐक्ट (1784) के प्रावधानों का वर्णन करते हुए स्पष्ट कीजिए कि यह रेग्यूलेटिंग से किस प्रकार भिन्न है।

उत्तर– स्व–मूल्यांकन (Answer: Self Assessment)

(1) (ख) (2) (क) (3) (ग) (4) (ख)

(5) (ख) (6) (क) (7) (ग) (8) (ग)

(9) (घ) (10) (क)

2.7 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. *स्वतंत्रता संग्राम*– विपिन चन्द्र, हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय दिल्ली विश्वविद्यालय।
2. *आधुनिक भारत*– एस.के. पाण्डे, प्रयाग एकेडमी, इलाहाबाद।

नोट

इकाई–3: सामाजिक-धार्मिक सुधार आन्दोलन (Socio-Religious Reforms Movement)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

3.1 ब्रह्म समाज (Brahmo Samaj)

3.2 आर्य समाज (Arya Samaj)

3.3 सिंह सभा आन्दोलन (Singh Sabha Movement)

3.4 सारांश (Summary)

3.5 शब्दकोश (Keywords)

3.6 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

3.7 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- ब्रह्म समाज द्वारा किये गये सामाजिक सुधारों का विवेचन करने में,
- आर्य समाज द्वारा हिन्दू धर्म में फैली भ्रांतियों व अंधविश्वासों को दूर करने के लिए किये गये सुधारों का विश्लेषण करने में,
- सिंह सभा आन्दोलन की व्याख्या करने में,

प्रस्तावना (Introduction)

ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज तथा सिंह सभा आन्दोलन जिन्होंने अपने-अपने क्षेत्र में सुधार का प्रयत्न किया। वह पुनर्नवीकरण आन्दोलन जैसा कि आर्य समाज, रामकृष्ण मिशन, तथा देवबन्द आन्दोलन जिनका मुख्य उद्देश्य अपने पक्ष का पुनरुद्धार करना था। दोनों प्रकार के आन्दोलन भिन्न-भिन्न सीमा तक अपने धर्म को सुधारने का प्रयत्न कर रहे थे और अपने प्राचीन पवित्र धर्म की दुहाई देते थे। दोनों में भेद केवल मात्रा का था जो अपनी-अपनी परम्परा, तर्क तथा अंतरात्मा पर निर्भर थी।

इन सुधार आन्दोलनों का एक अन्य पक्ष यह भी था कि वे ऐसे धार्मिक व सामाजिक सुधार चाहते थे, जिनके लिए प्राचीन विश्वासों व परम्पराओं को चुनौती देनी पड़ती थी। भारत में लगभग सभी सामाजिक कुरीतियां धार्मिक मान्यताओं पर आधारित थीं और इसीलिए धर्म को सुधारे बिना समाज-सुधार संभव नहीं था। एक अन्य कारण यह भी था कि भारतीय जीवन के भिन्न-भिन्न सुधार एक-दूसरे के बिना संभव नहीं थे और उन्होंने एक-दूसरे को प्रभावित भी किया। उदाहरण के रूप में समाज में स्त्री-उद्धार के साथ-साथ उसका धार्मिक कल्याण भी हुआ। सती, शाश्वत वैधव्य तथा देवदासी प्रथा के समाप्त हुए बिना उसका सामाजिक कल्याण संभव नहीं हुआ और इसी परिवर्तन के परिणामस्वरूप ही उसे मताधिकार मिला और वह देश के उच्चतम पद अर्थात् प्रधानमंत्री जैसे पद प्राप्त करने में सक्षम हुई।

नोट

3.1 ब्रह्म समाज (Brahmo Samaj)

हिन्दू धर्म में पहला सुधार आन्दोलन ब्रह्म समाज था जिस पर आधुनिक पाश्चात्य विचारधारा का बहुत प्रभाव पड़ा था। राजा राम मोहन राय (1774-1833) इसके प्रवर्तक थे। वह एक बहुत बड़े विद्वान थे जो अरबी, फारसी, संस्कृत जैसी प्राच्य भाषाएं और अंग्रेजी, फ्रांसीसी, लातीनी, यूनानी और इब्री भाषाएं जानते थे। इन सब के ज्ञान के फलस्वरूप उनका मन उन रूढ़ियों से हट गया था जो प्रायः एक बंगाली को बांधे रखती थी।

यद्यपि राजा राम मोहन राय बहुमुखी प्रतिभा के व्यक्ति थे परन्तु उन्हें धर्म सुधार से विशेष प्रेम था। जिस समय पाश्चात्य शिक्षा से प्रभावित हो तरुण बंगाली ईसाई धर्म की ओर आकर्षित हो रहे थे उस समय राजा राम मोहन राय हिन्दू धर्म के रक्षक के रूप में सामने आए। एक ओर उन्होंने पादरी प्रचारकों के विरुद्ध हिन्दू धर्म की रक्षा की दूसरी ओर हिन्दू धर्म में आए झूठ और अन्धविश्वासों को दूर करने का भी प्रयत्न किया। 15 वर्ष की अवस्था में ही उन्होंने मूर्तिपूजा की आलोचना की ओर अपने पक्ष को वेदोक्तियों से सिद्ध करने का प्रयत्न किया। उन्होंने हिन्दू धर्म के सिद्धान्तों की पुनर्व्याख्या की और अपनी मानव सेवा के लिए उपनिषदों से पर्याप्त मात्रा में आधार खोज निकाले। उन्होंने ईसाई मत को अस्वीकार कर दिया और महात्मा यशु के देवत्व को भी स्वीकार नहीं किया। परन्तु यूरोपीय मानववाद को अवश्य स्वीकार किया। आज भी लोग उन्हें आधुनिक भारत का अग्रदूत और देश का पथ-प्रदर्शक मानते हैं क्योंकि वह अन्वेषणा की भावना के ज्ञान-पिपासा के और मानववाद के प्रतीक थे जिनको वह भारतीय परिस्थितियों में ही प्राप्त करना चाहते थे। डॉक्टर मेक्निकोल के अनुसार वह एक नवीन युग के अग्रदूत थे और उनकी जलाई हुई ज्वाला आज तक जल रही है।

क्या आप जानते हैं राजा राम मोहन राय ने हिन्दू समाज की कुरीतियों, सती प्रथा, बहुपत्नी प्रथा, वेश्यागमन, जातिवाद इत्यादि का विरोध किया। इस प्रकार उन्होंने पूर्व और पश्चिम के बीच एक समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया।

1828 में उन्होंने ब्रह्म समाज की नींव डाली। 1830 में लिखे हुए प्रन्यासकरण पत्र में इस समाज का उद्देश्य शाश्वत, सर्वाधार, अपरिवर्त्य ईश्वर की पूजा है जो सारे विश्व का कर्त्ता और रक्षक है। एक नया भवन भी न्यास-मण्डल को दे दिया गया जिसमें मूर्तिपूजा तथा बलि देने की अनुमति नहीं थी। उनके उपदेशों का तात्पर्य भी सभी धर्मों में आपसी एकता के बन्धन को दृढ़ करना था। राजा साहिब स्वयं हिन्दू ही रहे और यज्ञोपवीत पहनते रहे परन्तु 1833 में उनकी इंग्लैण्ड में अकाल मृत्यु के कारण समाज का मार्गदर्शन नहीं रहा और शनैः शनैः उसमें शिथिलता आ गई।

इस संस्था में नया जीवन फूंकने और इसे एक ईश्वरवादी आन्दोलन के रूप में आगे बढ़ाने का श्रेय महर्षि देवेन्द्र नाथ टैगोर (1818-1905) को था। वह इस आन्दोलन में 1842 में सम्मिलित हुए और उन्होंने ब्रह्म धर्म अवलम्बियों को मूर्ति पूजा, तीर्थ यात्रा, कर्मकाण्ड और प्रायश्चित इत्यादि से रोका। उनके विचार में लकड़ी और पाषाण की मूर्तियों को ईश्वर कैसे माना जाए। ईश्वर को जिस रूप में चाहो पूजो अर्थात् कोई गायत्री मंत्र में भी पूजना चाहे अथवा किसी साधारण रीति से पूजना चाहे तो भी ठीक है। उन्होंने केशव चन्द्र सेन को बह्म समाज धर्म का आचार्य नियुक्त कर दिया। उनके प्रभाव के अधीन हिन्दू धर्म के सर्वोत्तम विश्वास और नैतिक आचरणों को बनाए रखा गया।

केशव चन्द्र सेन (1834-84) की शक्ति, वाक्पटुता और उदारवादी विचारों ने इस आन्दोलन को लोकप्रिय बना दिया और शीघ्र ही इसकी शाखाएं बंगाल से बाहर उत्तर प्रदेश, पंजाब और मद्रास में खोल दी गईं। 1865 में बंगाल में ही 54 शाखाएं थीं। परन्तु उनके उदारवाद के कारण शीघ्र ही ब्रह्म समाज में फूट पड़ गई। उन्होंने हिन्दू सामाजिक बुराइयों को भी दूर करने का प्रयत्न किया अर्थात् हम यह कह सकते है कि वह ब्रह्म समाज को हिन्दू धर्म सुधार आन्दोलन न मान कर एक नया धर्म सुधार आन्दोलन मानने लगे। देवेन्द्रनाथ टैगोर ने ब्रह्म समाज के एक मात्र प्रन्यासी

नोट

के रूप में 1865 में केशव चन्द्र सेन को आचार्य की पदवी से निकाल दिया। केशव चन्द्र ने एक नवीन ब्रह्म समाज का गठन कर लिया जिसे वह 'आदि ब्रह्म समाज कहने लगे। इसमें और सुधारों के अतिरिक्त स्त्रियों की मुक्ति, विद्या प्रसार, सस्ते साहित्य का बांटना, मद्य निषेध तथा दान देने पर अधिक बल था।

नोट्स केशव चन्द्र हिन्दू धर्म को संकीर्ण मानते थे और संस्कृत के मूलपाठों के प्रयोग को ठीक नहीं समझते थे। उन्होंने यज्ञोपवीत पहनने के विरुद्ध भी प्रचार किया। इसके पश्चात् सभी धर्मों (ईसाई, मुसलमान, पारसी और चीनी) की धर्म पुस्तकों का पाठ इनकी सभाओं में होने लगा।

1878 में इस समाज में एक और फूट पड़ी। केशव चन्द्र सेन इत्यादि, ब्रह्म समाजियों के लिए विवाह की न्यूनतम आयु का प्रचार करते थे। परन्तु 1878 में केशव चन्द्र सेन ने अपनी 13 वर्षीय पुत्री का विवाह कूच बिहार के अल्पवयस्क महाराजा से पूर्ण वैदिक कर्मकाण्ड से कर दिया। कहा यह गया कि यह सब "ईश्वर की आज्ञा है।" केशव चन्द्र सेन के अधिकतर अनुयायियों ने दुखी होकर एक नया ब्रह्म समाज 'साधारण ब्रह्म समाज' बना लिया। शीघ्र ही केशव चन्द्र सेन का समाज इतिहास के अंधकार की अस्पष्टता में खो गया।

ब्रह्म समाज ने भारतीय पुनर्जागरण में एक बहुत उत्तम भूमिका निभाई। जैसे एच.ई.सी. जकारियाज ने कहा है कि राजा राम मोहन राय और उनका ब्रह्म समाज, भारत में सभी सुधार आन्दोलनों–चाहे वह हिन्दू धर्म, समाज अथवा राजनीति के थे–सभी के आरम्भिक बिन्दु थे। ईसाई प्रचार से प्रभावित मन जो हिन्दू धर्म से अपने बन्धन लगभग तोड़ चुका था, उसने ब्रह्म समाज में शरण ली।

धर्म के क्षेत्र में ब्रह्म समाज का महत्त्व इस बात में नहीं था कि उसने किन प्राचीन परम्पराओं को बनाए रखा अपितु इस बात में था कि उसने किन परम्पराओं व विश्वासों को छोड़ दिया। मुख्य रूप से हम यह कह सकते हैं कि इसने अवतारवाद को छोड़ दिया। उसने यह भी कहा कि धर्म ग्रन्थों को मानवीय अन्तरात्मा तथा तर्क के ऊपर नहीं माना जा सकता; इसने बहुदेववाद तथा मूर्तिपूजा त्याग दी; वर्णव्यवस्था की अलोचना की; परन्तु कर्म सिद्धान्त तथा पुनर्जन्म के विषय में अपने निश्चित मत प्रकट न करके प्रत्येक ब्रह्म समाजी को मानने अथवा न मानने की अनुमति दे दी।

समाज सुधार के विषय में भी इसका हिन्दू समाज पर प्रभाव हुआ। इन्होंने बहुत से अन्धविश्वासों तथा हठधर्म को अस्वीकार कर दिया। विदेश यात्रा पर समकालीन प्रतिबन्धों को चुनौती दी, स्त्रियों की प्रतिष्ठा को बनाने के लिए प्रयत्न किया। बहु-विवाह, सती प्रथा, बाल-विवाह तथा पर्दा प्रथा को समाप्त करने के लिए तथा विधवा-विवाह और स्त्री शिक्षा के लिए प्रयत्न किया। इन्होंने जातिवाद तथा अस्पृश्यता को भी हटाने का प्रयत्न किया यद्यपि इसमें वे अधिक सफल नहीं हुए।

महाराष्ट्र में ब्रह्म विचार अथवा प्रार्थना समाजः ब्रह्म विचारधारा महाराष्ट्र में भी फैली और यहाँ 1849 में एक परमहंस सभा आरम्भ की गई। 1867 में केशव चन्द्र की प्रेरणा से बम्बई में एक प्रार्थना समाज स्थापित किया गया। परन्तु इन लोगों ने अपने आप को किसी नवीन धर्म का अथवा हिन्दू धर्म के बाहर अथवा साथ-साथ किसी नवीन मत के अनुयायी के रूप में नहीं माना अपितु केवल इस धर्म के अन्दर ही एक आन्दोलन के रूप में इसे स्वीकार किया। एक ईश्वरवाद के अतिरिक्त महाराष्ट्र में समाज सुधार, 'कार्य न कि विश्वास' पर ही बल दिया गया। उनका विश्वास था कि ईश्वर का सच्चा प्यार उसके मनुष्यों की सेवा में ही है। वे हिन्दू रूढ़िवादियों से टक्कर नहीं लेना चाहते थे अपितु शिक्षा तथा समझाने-बुझाने पर बल देते थे।

समाज सुधार में उनके चार प्रमुख उद्देश्य–(1) जाति-पांति का विरोध, (2) पुरुषों तथा स्त्रियों की विवाह की आयु का बढ़ाना, (3) विधवा पुनर्विवाह, (4) स्त्री शिक्षा। इस समाज के प्रमुख नेता न्यायमूर्ति महादेव गोविन्द रानाडे (1843-1902) और एन.जी. चन्द्रावरकर (1855-1923) थे। इसी समाज द्वारा स्थापित 'दलित जाति मण्डल', समाज सेवा संघ तथा दक्कन शिक्षा सभा ने प्रशंसनीय कार्य किया है। मद्रास में भी ब्रह्म समाज के कई केन्द्र खोले गए। पंजाब में दयाल सिंह प्रन्यास ने इस समाज के विचारों के प्रसार के लिए 1910 में दयाल सिंह कालिज खोला।

नोट

3.2 आर्य समाज (Arya Samaj)

आर्य समाज आन्दोलन का प्रसार प्राय: पाश्चात्य प्रभावों की प्रतिक्रिया के रूप में हुआ। यह स्मरण रहे कि न तो स्वामी दयानन्द ही और न उनके गुरु स्वामी विरजानन्द ही पाश्चात्य शिक्षा से प्रभावित हुए थे। ये दोनों ही शुद्ध वैदिक परम्परा में विश्वास करते थे और उन्होंने "पुन: वेद की ओर चलो" का नारा लगाया। उत्तर वैदिक काल से आज तक सभी अन्य मत मतान्तरों को उन्होंने पाखण्ड अथवा झूठे धर्म की संज्ञा दी।

मूल शंकर (1824-83) जो प्राय: दयानन्द के नाम से जाने जाते हैं, का जन्म 1824 में गुजरात की मौरवी रियासत के निवासी एक ब्राह्मण कुल में हुआ। उनके पिता जो स्वयं वेदों के महान विद्वान थे, उन्होंने उन्हें वैदिक वाङ्मय, न्याय-दर्शन इत्यादि पढ़ाया। दयानन्द की जिज्ञासा ने उन्हें योगाभ्यास इत्यादि करने पर बाध्य किया तथा उन्होंने गृह त्याग दिया। 15 वर्ष तक स्थान-स्थान पर घूमते रहे। 1860 में वे मथुरा पहुंचे और स्वामी विरजानन्द जी से वेदों के शुद्ध अर्थ तथा वैदिक धर्म के प्रति अगाध श्रद्धा प्राप्त की। 1863 में उन्होंने झूठे धर्मों का खण्डन करने के लिए "पाखण्ड खण्डिनी पाताका" लहराई। 1875 में उन्होंने बम्बई में आर्य समाज की स्थापना की जिसका मुख्य उद्देश्य प्राचीन वैदिक धर्म की शुद्ध रूप से पुन: स्थापना करना था। जो झूठे धार्मिक विश्वास तथा सामाजिक कुरीतियों कालान्तर में हिन्दू समाज में आ गई थीं उन्हें उन्होंने जड़ से फेंकने का प्रण किया। 1877 में आर्य समाज लाहौर की स्थापना हुई जिसके उपरान्त आर्य समाज का अधिक प्रचार हुआ। स्वामी दयानन्द का उद्देश्य था कि भारत को धार्मिक, सामाजिक तथा राष्ट्रीय रूप से एक कर दिया जाए। उनकी इच्छा थी कि आर्य धर्म ही देश का समान धर्म हो। उन्हें समकालीन हिन्दू धर्म तथा समाज में अनेक त्रुटियां देखने को मिलीं। उन्हेंने इन दोनों क्षेत्रों में जीवनपर्यन्त अनथक कार्य किया।

धार्मिक क्षेत्र में वह मूर्ति पूजा, बहुदेववाद, अवतारवाद, पशुबलि, श्राद्ध, जंत्र, मंत्र तथा तंत्र तथा झूठे कर्मकाण्ड को स्वीकार नहीं करते थे। वह वेद को ईश्वरीय ज्ञान मानते थे और उपनिषद् काल तक के साहित्य को स्वीकार करते थे। शेष को, विशेषकर पुराणों को, जिनमें ऊपर लिखे विश्वासों का विवरण मिलता है वह मनघडन्त कथाओं का समुच्चय मानते थे। परन्तु वेद के विषय में भी उनका तर्क यह था कि वेद की भाषा अत्यन्त प्राचीन है। अतएव इसके भाष्य जो समय-समय पर लिखे गए सब सत्य नहीं हैं। अपनी बुद्धि का प्रयोग करो और वैदिक मंत्रों के अर्थों को तर्क की कसौटी पर परखो और तब अपनाओ। वह संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित थे और उन्होंने स्थान-स्थान पर जाकर कट्टरपंथियों से शास्त्रार्थ किए और सिद्ध किया कि ऊपर लिखे विश्वासों का वेद में कोई आधार नहीं।

उन्होंने अद्वैतवाद को, कि संसार एक माया है, आत्मा-परमात्मा का ही भाग है, उसके अतिरिक्त सब झूठ है, संसार से पलायन ही जीवन का उद्देश्य है, इस दर्शन को उन्होंने शुद्ध वैदिक परम्परा के विपरीत बतलाया। उनके अनुसार प्रकृति सत् है, आत्मा सत् है तथा चित् है और परमात्मा सत्चित् और आनन्द है। ये तीनों ही अनादि तथा अनन्त हैं उनके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को शाश्वत मानव धर्म (ऋत्) के अनुसार आचरण करके मोक्ष की प्राप्ति करनी चाहिए। इस प्रकार उन्होंने कारणात्मक एकत्ववाद को ही नहीं अपितु नियति को भी अस्वीकार कर दिया। बल दिया मानव के कर्म करने पर। उनके अनुसार मानव भाग्य का खिलौना नहीं अपितु अपने भाग्य का निर्माता है। कोई भी कर्मफल से नहीं बच सकता। प्रत्येक व्यक्ति को संसार की कर्मभूमि में कार्य करते हुए मोक्ष की ओर अग्रसर होना होगा, अर्थात् हाथ पर हाथ रख कर न बैठ, कर्मशील बन, जीवन व्यतीत करना होगा। स्वामीजी की इसी शिक्षा को उनकी मृत्यु के वर्षों उपरान्त श्री अरविन्द घोष जैसे कर्मठ व्यक्तियों ने अपनाया और उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की। उनका नारा था 'पुन: वेद की ओर चलो' न कि वैदिक काल की ओर।

टास्क आर्य समाज की स्थापना कब और कहाँ की गई?

दयानन्द ने ब्राह्मण पुरोहित वर्ग के धार्मिक तथा सामाजिक पक्ष में सर्वोच्चता के दावे को भी चुनौती दी। उन्होंने ब्राह्मणों के इस कथन की, कि वे शेष मनुष्यों तथा ईश्वर के बीच एक मध्यस्थ हैं, खिल्ली उड़ाई। उनके अनुसार

नोट

प्रत्येक व्यक्ति को वेद के पढ़ने तथा उसे अपने तर्क के अनुसार निर्वचन करने का अधिकार है। सामाजिक क्षेत्र में उन्होंने छुआछूत, जन्मजात जाति, बाल विवाह तथा अन्य बुराइयों पर कुठाराघात किया। भारत के सामाजिक इतिहास में वह पहले सुधारक थे जिन्होंने शूद्र तथा स्त्री को वेद पढ़ने तथा ऊंची शिक्षा प्राप्त करने, यज्ञोपवीत धारण करने तथा अन्य सभी पक्षों से ऊंची जाति तथा पुरुषों के बराबर के अधिकार प्राप्त करने के लिए आन्दोलन किया। परन्तु सम्भवत: सबसे अधिक कार्य उन्होंने स्त्रियों की स्थिति सुधारने के लिए किया। उनके अनुसार पुत्र तथा स्त्रियां सान हैं। इसी प्रकार बाल-विवाह, शाश्वत वैधव्य, विधवा को हेय मानना, परदा, दहेज, बहु-विवाह, वेश्यागमन, देवदासियाँ इत्यादि ऐसी कोई भी सामाजिक बुराई नहीं थी जिसे उन्होंने स्वीकार किया हो। वे वर्ण व्यवस्था जन्म से नहीं मानते थे कर्म से मानते थे, अर्थात् केवल व्यवसाय के अनुसार ही कोई व्यक्ति, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र हो सकता है, परन्तु ये चारों वर्ण समान हैं और इनमें कोई अस्पृश्य नहीं। इस प्रकार स्वामी दयानन्द ने हिन्दू समाज में समानता की उस भावना को जाग्रत किया जो आज हमें अपने संविधान में देखने को मिलती है। सम्भवत: भारत के ज्ञात इतिहास में हिन्दू धर्म तथा समाज में इतना मूलभूत, दूरगामी, व्यापक तथा प्रभावशाली सुधारक अभी तक कोई नहीं हुआ। सम्भवत: अस्पृश्यता का त्याग तथा स्त्री को पुरुष के बराबर अधिकार जो हमारे संविधान का अंग है, उन्हीं के उपदेशों का परिणाम है।

उनके सभी विचार उनकी प्रसिद्ध पुस्तक 'सत्यार्थ प्रकाश' में वर्णित है। ब्रह्मसमाज तथा थिओसोफिकल सभा पाश्चात्य विद्या पढ़े लोगों को बहुत भाती थी। स्वामी दयानन्द की शिक्षा की मुख्य विशेषता यह थी कि उसमें उन्होंने पाश्चात्य दर्शन, शिक्षा तथा समाज से कुछ भी नहीं लिया। उन्होंने तो केवल यह कहा कि वेद और उपनिषद से परे कुछ नहीं और जिन-जिन रीति-रिवाजों, परम्पराओं, कर्मकाण्ड अथवा सामाजिक बुराइयों की वेद में अनुमति नहीं है तो वे सभी त्याज्य हैं।

उस समय तक, ईसाई, मुस्लिम, सिख धर्म प्रचारक हिन्दू धर्म की कुरीतियों तथा झूठे विश्वासों की खिल्ली उड़ाते थे। स्वामी दयानन्द ने उनके धर्मों में भी त्रुटियां निकालीं और स्थान-स्थान पर शास्त्रार्थ कर प्राचीन कट्टरपंथियों तथा अन्य धर्म-प्रचारकों को परास्त किया। फलस्वरूप हिन्दू धर्म के अनुयायियों में एक नया आत्म-विश्वास, आत्म-परीक्षण तथा आत्मशुद्धि (अर्थात् हिन्दू धर्म से झूठी परम्पराओं को निकालने) की भावना जागी। कुछ लोगों ने उनके इन विचारों को असहिष्णुता तथा तत्सीमित भावना का प्रतीक बताया है परन्तु वास्तव में दयानन्द की सार्वभौमिकता और उदारचित्त भावना प्राचीन हिन्दू धर्म की उदारवादी परम्पराओं के पूर्णतया अनुकूल थी। यद्यपि इस आन्दोलन का बाह्य स्परूप वैदिक परम्पराओं की पुन: स्थापना करता था परन्तु वस्तुत: आर्य समाज ने आधुनिक ज्ञान तथा तर्क को अपनाया।

आर्य समाज के कार्य का सब से अधिक प्रभाव विद्या तथा सामाजिक सुधार तथा सेवा के क्षेत्र में देखने को मिला। आर्य समाज के सामाजिक विचारों में अन्य बातों के अतिरिक्त जिन पर बल दिया गया वे थीं, एक ईश्वर का पितृत्व तथा सभी मनुष्यों का भ्रातृत्ववाद, स्त्री-पुरुष की समानता, मनुष्यों तथा जातियों के बीच पूर्ण न्याय तथा निष्पक्षता, तथा प्रेम तथा दान की भावना। आर्य समाज ने शिक्षा तथा ज्ञान के प्रसार पर बहुत बल दिया। उनके अनुयायियों ने विद्या के प्रसार तथा अन्धकार को समाप्त करने में विशेष कार्य किया। उनकी मृत्यु के पश्चात् 1886 में आरम्भ की गई दयानन्द ऐंग्लो-वैदिक संस्थाएं शीघ्र ही देश के कोने-कोने में फैल गईं। स्वामीजी के अनुयायी रूढ़िवादी तथा प्रतिक्रियावादी नहीं थे। उन्होंने अंग्रेजी भाषा तथा ज्ञान को भी अपनाया अर्थात् प्राच्य तथा पाश्चात्य ज्ञान का सर्वोत्तम समन्वय इनमें मिलता है। इन शिक्षा संस्थानों को भी आर्य समाज के दो दल तथा झूठे विश्वासों से निकलने के एक साधन के रूप में प्रयोग किया। 1892-93 में आर्य समाज के दो दल हो गए। एक पाश्चात्य शिक्षा का विरोधी था। उन्होंने 1902 में हरिद्वार में एक गुरुकुल स्थापित कर लिया जहां प्राचीन वैदिक शिक्षा प्राचीन पद्धति से दी जाती थी और उसी के नमूने पर कई अन्य स्थानों में गुरुकुल बनाए गए।

आर्य समाज के सिद्धान्त तथा नियम सबसे पूर्व बम्बई में गठित किए गए। पुन: उनको लाहौर में 1877 में सम्पादित किया गया तथा निश्चित रूप दिया गया और वे आज तक परिवर्तित नहीं किए गए। नियम यह है:-

1. सब सत्य विद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं उन सबका आदि मूल परमेश्वर है।

नोट

2. ईश्वर सच्चिदानन्द स्वरूप, निराकार सर्वशक्तिमान, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्ता है। उसी की उपासना करनी चाहिए।
3. वेद सब सत्य विद्याओं की पुस्तक है। वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परमधर्म है।
4. सत्य को ग्रहण करने और असत्य को त्यागने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिए।
5. सब काम धर्मानुसार अर्थात् सत्य और असत्य को विचार करके करने चाहिए।
6. संसार का उपकार करना आर्य समाज का मुख्य उद्देश्य है अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना।
7. सबसे प्रीतिपूर्वक, धार्मानुसार यथायोग्य बरतना चाहिए।
8. अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिए।
9. प्रत्येक को अपनी ही उन्नति में सन्तुष्ट नहीं रहना चाहिए। किन्तु सब की उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिए।
10. सब मनुष्यों को सामाजिक सर्वहितकारी नियम पालने में परतंत्र रहना चाहिए, और प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतंत्र हैं।

इतना ही नहीं आर्य समाज ने शुद्धि आन्दोलन भी आरम्भ किया जिसके अंतर्गत लोगों को अन्य धर्मों से हिन्दू धर्म में लाने का प्रयत्न किया गया। इसके अतिरिक्त, लगभग 60 हजार मलकाने राजपूतों को और उन हिन्दुओं को, जिन्हें माप्पिला विद्रोह के दिनों (1923) अथवा 1947 में भारत विभाजन के समय बलपूर्वक मुसलमान बना लिया गया था, उन्हें पुन: हिन्दू धर्म में लौटने का अवसर दिया। स्वामी दयानन्द के आर्थिक विचारों में स्वदेशी का विशेष महत्त्व था। राजनीतिक क्षेत्र में वह कहते थे कि बुरा देशी राज्य अच्छे से अच्छे विदेशी राज्य से अच्छा है अर्थात् उनकी शिक्षा के फलस्वरूप उनके अनुयायियों में स्वदेशी और देशभक्ति की भावना कूट-कूट कर भरी थी और भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन में ये लोग अग्रगामी रहे। वेलेन्टाइन शिरोल ने आर्य समाज को सत्य ही "भारतीय अशांति का जन्मदाता" कहा है। महात्मा हंसराज, पण्डित गुरुदत्त, लाला लाजपत राय और स्वामी श्रद्धानन्द इसके विशिष्ट कार्यकताओं में थे। आर्य समाज का प्रचार पंजाब, उत्तर प्रदेश, राजस्थान और बिहार में विशेष रूप से हुआ।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

सही विकल्प चुनिए- (Choose the correct options)

1. स्वामी दयानन्द सरस्वती के गुरु कौन थे?
   (क) स्वामी सहजानंद (ख) स्वामी वृजभूषण (ग) स्वामी विरजानंद (घ) स्वामी अड़गड़ानंद
2. दयानन्द का जन्म किस प्रदेश में हुआ था?
   (क) महाराष्ट्र (ख) उड़ीसा (ग) गुजरात (घ) बंगाल
3. आर्य समाज की स्थापना कब और कहाँ हुई?
   (क) 1871 महाराष्ट्र (ख) 1875 बम्बई (ग) 1873 गुजरात (घ) 1876 उड़ीसा
4. आर्य समाज लाहौर की स्थापना कब हुई?
   (क) 1870 (ख) 1875 (ग) 1872 (घ) 1877
5. गुरुकुल विद्यालय की स्थापना कब और कहाँ की गई?
   (क) हरिद्वार (1902) (ख) देहरादून (1902) (ग) हरिद्वार (1905) (घ) देहरादून (1905)

नोट

3.3 सिंह सभा आन्दोलन (Singh Sabha Movement)

निरंकारी, राधास्वामी और नामधारी आंदोलनों का सिख जन-सामान्य पर कुछ खास असर नहीं हुआ। निरंकारी आंदोलन उत्तर-पश्चिमी पंजाब के शहरी समाज तक सीमित रहा, जबकि राधास्वामी मूलत: ईश्वरीय मुद्दों से संबंधित। नामधारी आंदोलन का तो अस्तित्व ही मलेरकोटला के परेड-मैदान में अस्थायी तौर पर मिटा दिया गया। ये तीनों ही सिखों के विच्छेद से उभरी मंडलियाँ हैं, जो किसी विशेष गुरु के प्रति भक्तिभाव रखती हैं और अपने ही विशेष धार्मिक कर्मकांडों में विश्वास करती हैं। इन सबने समाज की जिन बुराइयों को दूर करने की ठानी थी वे आज भी धड़ल्ले से जारी हैं। नीची जाति के सिखों के साथ आज भी भेदभाव होता है। अमीर शराब और व्यभिचार के आगोश में जा पड़े। दूसरी तरफ, हिंदू धर्म का कारोबार पूर्ववत् चलता रहा; वही उनका ब्राह्मणवाद, देवी-देवताओं के उनके मंदिर और देवालय, संस्कृत मंत्रों के उच्चारण, ज्योतिषियों और भविष्यवक्ताओं में आस्था, जन्मपत्रियों पर आधारित जीवन। सिखों में भी; जो लोग इन उपर्युक्त पंथों की, दस गुरुओं के अतिरिक्त गुरुओं की अर्चना की आलोचना करते थे, वे भी गुरु नानक देव और गोबिंद सिंह के बेदी और सोढ़ी वंशजों के आगे दंडवत् करने में गुरेज नहीं करते थे और दूसरे साधु-संतों के प्रति भी ऐसी श्रद्धा जताते थे मानो वे गुरु ही हों।

सिखों के नैतिक स्तर में गिरावट के साथ ही साथ उनकी तादाद भी गिर रही थी। जब 'खालसा' चढ़त की ओर था, तो हिंदुओं ने बड़ी संख्या में केश-दाढ़ी बढ़ाना, सिख-गुरुओं का गुणगान करना शुरू कर दिया था। पंजाब के अंगेजों द्वारा अधिग्रहण के बाद ये मौकापरस्त लोग वापस हिंदू धर्म की शरण में लौट गए। सच्चे सिख परिवार भी, जिनका ऐसे हिंदुओं से करीबी नाता रहा, वे भी उन हिंदुओं के साथ-साथ दाढ़ी-केश मुँड़वाकर सहजधारी सिख बन गए। इन सिखों में ज्यादातर लोग तो ऐसे थे, जो दो-एक पीढ़ी पहले ही सिख बने थे और उन्होंने हिंदुओं के साथ सामाजिक संवाद तो इस बीच छोड़ा ही नहीं था। अब उनके पास एक ही रास्ता था कि वे हिंदू धर्म में पुन: जज़्ब हो जाएँ और एक अलग समुदाय के रूप में दिखने से बाज आएँ।[1]

सिख राजनिकाय की अंतर्निहित दुर्बलता तो सिखों के विघटन का एक कारण था ही; दरअसल इसके तीन और भी कारण मौजद थे–ईसाई मिशनरियों की गतिविधियाँ, आर्यसमाज नामक एक नए हिंदू संगठन की नवधर्मांतरण की मुहिम और वैज्ञानिक विचारधाराओं के आविर्भाव से उपजा 'युक्ति-संगतिकरण' (चीजों का औचित्यपूर्ण होना)।

1835 में, लुधियाना में अमेरिकी प्रेस्बिटेरियन (एक ईसाई धर्मव्यवस्था) मिशन की स्थापना हो चुकी थी। अधिग्रहण के तुरंत बाद इस मिशन ने अपनी गतिविधियाँ मालवा से लेकर माझा तक फैलानी शुरू कर दी। चर्च मिशनरी सोसायटी ने अमृतसर, लाहौर और पहाड़ी जिलों में अपने केंन्द्र खोल लिए। 'सोसायटी फॅार दि प्रापेगेशन ऑफ गॉस्पेल', 'साल्वेशन आर्मी', 'मेथॉडिस्ट', 'एपिस्कोपैलियन', 'मोरैवियन' और अनेक 'रोमन कैथोलिक' मिशन लोगों का धर्मांतरण करने के लिए एक-दूसरे से होड़ लगाने लगे। इन ईसाई मिशनरियों को अंग्रेज अफसरों का खूब प्रश्रय मिलता था।

ईसाई मिशनरियों की सबसे बड़ी जीत थी। सन् 1853 में महाराजा दलीप सिंह का धर्म-परिवर्तन करके उन्हें ईसाई बनाना, सिखों के लिए यह एक असहनीय झटका था। उसी साल अमृतसर में एक क्रिश्चियन मिशन स्कूल खोला गया। नव धर्मांतरित व्यक्ति के से उत्साह के साथ, देशनिर्वासित महाराजा ने इस ईसाई विद्यालय को सहायता का आश्वासन दिया।

महाराजा दलीप सिंह को छोड़कर शुरू-शुरू में ईसाई धर्म ग्रहण करने वाले सिखों में ज्यादातर अस्पृश्य जाति के सिख थे। कुछ ही समय के भीतर 'ईसाई अर्थात् क्रिश्चियन को निंदात्मक रूप में लिया जाने लगा और यह पंजाबी के शब्द 'चूहड़ा' का पर्याय बन गया। तभी नवधर्मांतरित लोगों को समझ में आने लगा कि न तो पादरी का संरक्षण और न ही 'सालो टोपी' जुड़ा गरिमा का अहसास उन्हें अस्पृश्यता के कलंक से निजात दिला सकता था। उसके बाद से, नीची जातियों के धर्मांतरण की गति कुछ धीमी हुई। ईसाई मिशनरियों ने अब अपना रुख खाते-पीते जट्टों और खत्री जाति के लोगों की तरफ मोड़ा। कितने ही जाने-माने सिख परिवारों ने ईसाई धर्म[2] को स्वीकार कर लिया। पढ़े-लिखे और आभिजात्य परिवारों के सिखों द्वारा ईसाइयत को अपनाने से सिख नेताओं को जितना धक्का लगा, उतना अस्पृश्य भाइयों को ईसाई बन जाने से नहीं लगा था।

नोट

बहरहाल, ईसाई मिशनरियों के कार्यकलापों से ज्यादा गंभीर तो सुधारवादी हिंदुत्व की चुनौतियाँ थीं, खासकर आर्य समाज की।

आर्यसमाज (Arya Samaj)

आर्यसमाज के प्रवर्तक थे–स्वामी दयानंद सरस्वती[1], जिनका आदर्श-वाक्य था–'वेदों की ओर वापसी।' उनके अनुसार वेदों से एक सर्वविद्यमान, किंतु अदृश्य परमात्मा तथा मानव मात्र की समानता में विश्वास पैदा होता है। अत: वे मूर्तिपूजा और जाति-प्रथा के विरोधी थे। दयानंद सरस्वती एक ओजस्वी वक्ता थे। कुछ ही सालों के भीतर उनकी आवाज पूरे हिंदुस्तान में गूँजने लगी। उनका मूर्तिभंजक एकेश्वरवाद और भेदभावहीनता सिखों को बड़े रास आ रहे थे।

1877 की गर्मियों में स्वामी दयानंद सरस्वती पंजाब आए, जाएँ हिंदुओं और सिखों ने उनका भव्य स्वागत किया। उन्होंने लाहौर में आर्य समाज की एक शाखा खोली। धर्मांतरण (शुद्धि) उसकी गतिविधियों का महत्त्वपूर्ण हिस्सा था और उन्हीं दिनों बहुत से हिंदू और सिख 'आर्य समाजी' बने।

कट्टर सिखों को यह समझते देर नहीं लगी कि वेदों की तथ्यात्मकता को लेकर स्वामी दयानंद सरस्वती की धारणाएँ उतनी ही दुराग्रही थीं, जितनी कुरान को लेकर मुसलमानों[2] की।

उनकी दृष्टि में 'गुरु ग्रंथ साहिब' एक गौण महत्त्व की रचना थी और सिख गुरु अल्प-ज्ञानी थे। उन्होंने गुरु नानक देव को 'दभी' कहकर निंदा की। दयानंद सरस्वती, सिख धर्मज्ञों को संस्कृत ज्ञान न होने कारण भी निंदनीय मानते थे। जो कोई भी उनके 'मानकों' पर खरा नहीं था, उसे वह महामूर्ख कहते थे। दयानंद ने दिशा दे दी थी और उनके उत्साही अनुयायियों ने उसे गति दी। नतीजा यह हुआ कि सिखों ने दयानंद सरस्वती की ओर से मुँह मोड़ लिया। इतना ही नहीं, मुसलमानों और ईसाईयों के साथ मिलकर उन्होंने उनकी पुस्तक 'सत्यार्थ प्रकाश'[3] पर प्रतिबंध लगाने की भी माँग की क्योंकि इसमें इन तीनों धर्मों के धर्मगुरुओं की प्रतिष्ठा पर आक्षेप किए गए थे।

ईसाई मिशनरियों और आर्यसमाज की गतिविधियों के अतिक्ति प्रांत में परिवर्तन की और भी लहरें चल रही थीं। पंजाब में बंगाली बुद्धिजीवियों का आना भी शुरू हो गया था, जो अपने साथ राजा राममोहन राय (1771–1833) और ब्रह्मसमाज जैसे उदारवादी हिंदुत्व का संदेश लेकर आए थे। उन्होंने 1864 में लाहौर में इसकी एक शाखा खोली और दयाल सिंह मजीठिया[4] जैसे जाने-माने व्यक्ति ने ब्रह्मसमाज में दीक्षा ले ली। पंजाब पर अध्यात्मवादियों (थियोसॉफिस्ट) का भी काफी असर पड़ा, जिनमें से कइयों (डॉ. एनी बेसेंट) ने यहाँ भाषण भी दिए। मैक्समूलर, सर एडविन अर्नाल्ड और डॉ. मोनियर विलियम्स की पुस्तकों के प्रकाशन ने हिंदुत्व और हिंदू धर्म के बारे में लोगों की रुचि जगाई। उसके बाद तो पंजाब पर कई पुस्तकें प्रकशित हुईं।[1] सिख अपने ग्रंथ के यूरोपीय रूपांतरण को लेकर भी खुशकिस्मत नहीं रहे। 'गुरु ग्रंथ साहिब' को अंग्रेजी में अनुदित करने के लिए इंडिया ऑफिस में एक जर्मन भाषाविज्ञानी डॉ. अर्नेस्ट ट्रंप को तैनात किया गया। ट्रंप ने ग्रंथ के कुछेक पृष्ठों का अनुवाद करने की कोशिश की, लेकिन अनुवाद को बीच में ही छोड़ दिया क्योंकि इसकी भाषा संस्कृत व्याकरण के नियमों के अनुसार नहीं थी और सिख-अध्यात्मवादियों ने भी उसकी मदद करने से मना कर दिया। जब ट्रंप की यह महत्त्वहीन-सी रचना प्रकाशित हुई, सिखों को काफी निराशा हुई। उसकी भूमिका में ही 'गुरु ग्रंथ साहिब' की विषय-वस्तु को लेकर बड़ी कुरुचिपूर्ण टिप्पणियाँ थीं। उसका अनुवाद भी गलत, फीका और अकाव्यात्मक था। लेकिन सिख लोग अपने सिवाय और किसको दोष देते?

साहित्यिक और शैक्षणिक आंदोलनों की बयार तेजी से बहने लगी थी। 1870 और 1880 के दशकों में पंजाब में एक ओरिएंटल कॉलेज, एक यूनिवर्सिटी लाइब्रेरी, स्कूल ऑफ आर्ट्स, संग्रहालय, साइंस इंस्टीच्यूट और एक मेडिकल कॉलेज खोले गए। हिंदुओं और मुसलमानों ने पंजाब में अपने-अपने स्कूल और कॉलेज खोलने शुरू कर दिए थे, सिर्फ सिख लोग ही पीछे रह गए थे।[2]

नोट

अमृतसर और लाहौर की सिंह सभाएँ: आर्य समाज के प्रवर्तन से चार साल पहले, एक हिंदू वक्ता के सिख गुरुओं के लिए की गई निंदात्मक टिप्पणियों को लेकर, अमृतसर के सिखों ने एक मीटिंग बुलाई। ये विरोध प्रदर्शन करने वाली सभाएँ, जिस संस्था द्वारा आयोजित की जाती थीं, वह अपने आप को 'सिंह सभा' कहती थीं। सिंह सभा को पंजाब के अमीरों, जमींदारों और रुढ़िवादी सिखों[3] का सहयोग मिल रहा था। इस सोसायटी के उद्देश्यों में थे–गुरुओं के उपदेशों की पुनर्प्रतिष्ठा, पंजाबी में धार्मिक साहित्य की रचना और निरक्षरता के विरुद्ध अभियान। इसके प्रवर्तक यह भी चाहते थे कि उच्च पदस्थ अंग्रेजों को आकृष्ट किया जाए और सिंह सभा के शैक्षणिक कार्यक्रमों में उनका योगदान लिया जाए। सरकारी संरक्षण सुनिश्चित करने के लिए सिंह सभा ने तय किया कि ब्रिटिश राजतंत्र के प्रति अपनी वफादारी जताई जाए। ठक्कर सिंह[4] संधावालिया इसके अध्यक्ष और ज्ञानी ज्ञान सिंह 'अमृतसर श्री गुरु सिंह सभा' के सचिव थे। सरकार ने इस संस्था के शैक्षणिक कार्यक्रम[1] को अपने संरक्षण के दायरे में ले लिया था।

1879 में लाहौर में एक और सिंह सभा का गठन हुआ। इस सिंह सभा के नेता मध्यवर्ग[2] के कुछ पढ़े-लिखे और ऊर्जावान नौजवान थे। पंजाब के गवर्नर सर रॉबर्ट इगर्टन ने इसका संरक्षक बनना स्वीकार कर लिया था और वायसराय लॉर्ड लैंसडाउन को भी इसे मदद देने के लिए तैयार कर लिया गया था। लाहौर सिंह सभा[3] ने कई शहरों में अपनी शाखाएँ खोलीं, गाँवों में मिशनरी भेजे, सिख गुटों के साथ तारतम्य बनाया और पंजाबी में पत्र-पत्रिकाएँ निकालनी शुरू कीं।

1883 में लाहौर और अमृतसर की सिंह सभाओं का आपस में विलय हो गया। लेकिन उनका यह संगठन असफल रहा। अमृतसर सिंह सभा का गठन खेम सिंह बेदी द्वारा नियंत्रित सौम्य प्रवृत्ति के रूढ़िवादी लोगों से हुआ था। गुरु नानक के वंशज होने के नाते खेम सिंह सभा बेदी गुरु को मिलने वाले चढ़ावे स्वीकार करने के अभ्यस्त थे। लाहौर सिंह सभा के लोग 'प्रगतिवादी' विचारधारा के थे और 'गुरु' प्रथा के घोर विरोधी थे। दोनों दलों में अछूतों के सिख-गुरुद्वारों में आकर प्रार्थना करने के अधिकार को लेकर खटपट हो गई। प्रतिक्रियावादी अथवा रूढ़िवादी दल गुरुद्वारों के ग्रंथियों की इस बात से सहमत था कि अछूत सिखों को एक निश्चित समय पर ही गुरुद्वारों में आने की अनुमति होगी और उन्हें चढ़ावे चढ़ाने का अधिकार नहीं होगा। दोनों सिंह सभाओं के लोगों का आपसी तर्क–वितर्क आपसी कलह में बदल गया। रूढ़िवादी दल ने अपने आप को आंदोलन से विलग कर लिया और खुले तौर पर अपनी[4] प्रतिद्वंद्विता प्रकट करने लगे।

आर्य समाज[5] के त्वरित फैलाव और इसके अनेक नेताओं की सिख-विरोधी मतांधता ने सिंह सभा आंदोलन के सामने चुनौती खड़ी कर दी थी। इससे आर्य समाज और इसके कुछ सिख-समर्थकों के बीच अलगाव भी अंतिम चरण तक पहुँच गया।

दोनों सिंह सभाओं में पुन: सुलह हो गई और दोनों ने मिलकर अपना एक कॉलेज खोलने की ठान ली। लाहौर में भारी तादाद में जुटे लोगों की एक सभा में, एक योजना बनाई गई और स्वर्णमंदिर की ओर से एक 'हुक्मनामा' जारी किया गया, जिसमें सिखों से कहा गया कि वे सब इस प्रस्तावित कॉलेज की इमारत[1] बनाने के लिए अपनी आमदनी का दसवांश दान में दें। अंग्रेज शुभचिंतकों ने इंग्लैंड में धन इकट्ठा करने के लिए, लंदन में एक समिति का गठन किया। वायसराय और कमांडर-इन-चीफ के प्रोत्साहन पर सिख राजों-महाराजों ने भारी मात्रा में दान दिए और 'एंग्लो इंडियन सिविल एवं मिलिट्री गजट' ने बड़े उत्साह के साथ इस मुहिम का समर्थन किया। प्रांत के कोने-कोने से धन की वर्षा होने लगी। 5 मार्च, 1892 को इस मुहिम में निजी रूप से रुचि लेने वाले लेफ्टिनेंट गवर्नर सर जेम्स ल्याल ने अमृतसर[2] में 'खालसा कॉलेज' की नींव रखी।

यह तो अवश्यंभावी ही था कि इतनी विविध गतिविधियों वाली संस्था सिंह सभा की कालांतर में अपनी कोई न कोई राजनीति विकसित होगी ही। सन् 1902 में चीफ खालसा दीवान' के गठन के साथ इसने मूर्तरूप ले लिया। 'चीफ खालसा दीवान' अन्य समुदायों के सापेक्ष सिखों के अधिकारों की सुरक्षा, ब्रिटिश राजतंत्र के प्रति वफादारी पैदा करवाने और सरकारी सेवाओं, विशेषकर, सेना में सिखों के समुचित प्रतिनिधित्व के लिए लड़ने आदि की मुहिमों के लिए वचनबद्ध था। लगभग इसके प्रवर्तन से ही, इसके सर्वाधिक प्रभावी नेता थे–सुंदर सिंह मजीठिया।

नोट

सिंह सभा आंदोलन के सबसे महत्त्वपूर्ण पक्ष शैक्षणिक और साक्षरता संबंधी ही थे। सन् 1902 के बाद से, बाद से हर साल एक शिक्षा-सम्मेलन आयोजित किया जाने लगा ताकि सिख समुदाय में साक्षरता की प्रगति का लेखा-जोखा तैयार किया जा सके तथा और स्कूल बनाने के लिए धन एकत्रित किया जा सके। इन खालसा स्कूलों[4] में गुरुमुखी और सिख धर्मग्रंथों की शिक्षा अनिवार्य थी।

शिक्षा को प्रोत्साहन देने की मुहिम ने पुस्तकों[5] पत्रिकाओं, पुस्तिकाओं एवं अखबारों[6] के प्रकाशन को बढ़ावा दिया।

पंजाबी पत्रकारिता में पूँजी-निवेश का सबसे पहला उद्यम था–'खालसा अखबार' नामक साप्ताहिक। सन् 1899 में 'खालसा समाचार' की शुरूआत हुई और शीघ्र ही यह सिख समुदाय का एक अग्रणी धार्मिक पत्र बन गया। भाई वीर सिंह के संपादन काल में इसकी प्रसार संख्या काफी बढ़ी। भाई वीर सिंह उपन्यासकार, कवि और धार्मिक ग्रंथों के टिप्पणीकार के रूप में मशहूर हुए। भाई वीर सिंह ने 'खालसा पुस्तिका सोसायटी' की शुरूआत की और सिख इतिहास तथा धर्म के विभिन्न पक्षों से जुड़े साहित्य का प्रकाशन किया।

सिख धर्म पर अचानक ही गुरुमुखी और अंग्रेजी में अनेक पुस्तकों का प्रकाशन हुआ। गुरुमुखी की किताबों में ज्ञानी ज्ञान सिंह की पुस्तकें–'पथ प्रकाश' और 'तवारीख गुरु खालसा' और काहन सिंह कृत सिख साहित्य का भारी-भरकम ज्ञान-कोश 'गुरुशब्द रत्नाकर महाकोश' चिरस्थायी महत्त्व की रचनाएँ थीं। इन्हीं दिनों एम.ए. मैकॉलिफ कृत सिख गुरुओं के जीवन और उपदेशों[1] पर आधारित वृहद् ग्रंथ प्रकाशित हुआ।

सिंह सभा आंदोलन ने न सिर्फ सिखों की हिंदुत्व में वापसी को रोका, वरन् हिंदू खेमों में धर्मांतरण की गतिविधियाँ जारी कर उनसे बदला भी लिया। पश्चिमी पंजाब और सिंध के हिंदू बड़ी तादाद में 'सहजधारी सिख' बन गए और फिर सहजधारियों को 'खालसा'[2] बनाया गया।

पंजाबी में आर्य समाज के उत्थान और विस्तार का हिंदू–सिख संबंधों की दिशा पर निर्णायक प्रभाव पड़ा और इसी ने प्रांत में ब्रिटिश–विरोधी राजनीतिक आंदोलनों की रूपरेखा तय की। सिखों ने आर्यसमाज द्वारा चलाई गई 'शुद्धि' की मुहिम का डटकर विरोध किया। आर्य समाजी जितना ही दावा करते कि सिख धर्म भी हिंदू धर्म की ही एक शाखा हैं, उतना ही सिख लोग आग्रह करते कि वे एक अलग और विशिष्ट समुदाय थे। इस क्रिया और प्रतिक्रिया ने दो सह–समुदायों के बीच के करीबी सामाजिक रिश्तों को चकनाचूर कर दिया। इसकी अभिव्यक्ति एक पुस्तिका 'हम हिंदू नहीं हैं। के प्रकाशन में हुई। इसे नाभा के तत्कालीन मुख्यमंत्री विद्वान् काहन सिंह ने लिखा था। यद्यपि 'सिंह सभा' आंदोलन 1920 के दशक में खत्म हो गया, इसने सिखों में हिंदुत्व के खिलाफ एक चिरस्थायी रक्षात्मक रवैया ठूँस दिया।

स्वामी दयानंद के उपदेशों में एक तीव्र राजनीतिक स्वर था। हिंदुत्व को, वैदिक काल के बाद से इसमें आ जुड़े अवांछित तत्त्वों से शुद्ध करने की अपनी इच्छा की घोषणा करते हुए, स्वामी दयानंद सरस्वती, दरअसल, हिंदू समाज को गैर-हिंदू लोगों के वर्चस्व से मुक्त करना चाहते थे। इस्लाम और ईसाई धर्म की आलोचना करते हुए, वे वास्तव में तो, हिंदुस्तानी मुसलमानों और अंग्रेजों पर ही प्रहार कर रहे थे। परिणामत: आर्य समाज द्वारा लाए गए हिंदुत्व के पुनरुस्थान में एक तीव्र मुस्लिम विरोधी और ब्रिटिश-विरोधी मतांधता थी, जो अक्सर पंजाबी हिंदू राष्ट्रवादियों के वक्तव्यों में साफ झलकती थी। इन पंजाबी हिंदू राष्ट्रवादियों में बड़ी तादाद में आर्य समाज थे, उदाहरण के लिए–लाला लाजपत राय,[3] अजीत सिंह लाला हंसराज और अनेक पंजाबी हिंदू क्रांतिकारी। 'भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस' पर आर्य समाजियों के नियंत्रण ने स्वतंत्रता आंदोलन को हिंदू पुनर्जागरण के एक पक्ष का ही रूप दे दिया था और यही मुख्य रूप से मुसलमानों और सिखों[1] के इससे अलग–थलग रहने के लिए जिम्मेदार था।

3.4 सारांश (Summary)

- हिन्दू धर्म में पहला सुधार आन्दोलन ब्रह्म समाज था जिस पर आधुनिक पाश्चात्य विचारधारा का बहुत प्रभाव पड़ा था। राजा राम मोहन राय (1774-1833) इसके प्रवर्तक थे। वह एक बहुत बड़े विद्वान थे जो अरबी, फारसी, संस्कृत जैसी प्राच्य भाषाएं और अंग्रेजी, फ्रांसीसी, लातीनी, यूनानी और इब्री भाषाएं जानते थे।

नोट

- जिस समय पाश्चात्य शिक्षा से प्रभावित हो तरुण बंगाली ईसाई धर्म की ओर आकर्षित हो रहे थे उस समय राजा राम मोहन राय हिन्दू धर्म के रक्षक के रूप में सामने आए। एक ओर उन्होंने पादरी प्रचारकों के विरुद्ध हिन्दू धर्म की रक्षा की दूसरी ओर हिन्दू धर्म में आए झूठ और अन्धविश्वासों को दूर करने का भी प्रयत्न किया।
- इस संस्था में नया जीवन फूंकने और इसे एक ईश्वरवादी आन्दोलन के रूप में आगे बढ़ाने का श्रेय महर्षि देवेन्द्र नाथ टैगोर (1818-1905) को था। वह इस आन्दोलन में 1842 में सम्मिलित हुए और उन्होंने ब्रह्म धर्मावलम्बियों को मूर्ति पूजा, तीर्थ यात्रा, कर्मकाण्ड और प्रायश्चित इत्यादि से रोका।
- केशव चन्द्र सेन इत्यादि, ब्रह्म समाजियों के लिए विवाह की न्यूनतम आयु का प्रचार करते थे। परन्तु 1878 में केशव चन्द्र सेन ने अपनी 13 वर्षीय पुत्री का विवाह कूच बिहार के अल्पवयस्क महाराजा से पूर्ण वैदिक कर्मकाण्ड से कर दिया। कहा यह गया कि यह सब "ईश्वर की आज्ञा है।" केशव चन्द्र सेन के अधिकतर अनुयायियों ने दुखी होकर एक नया ब्रह्म समाज 'साधारण ब्रह्म समाज' बना लिया। शीघ्र ही केशव चन्द्र सेन का समाज इतिहास के अंधकार की अस्पष्टता में खो गया।
- 1867 में केशव चन्द्र की प्रेरणा से बम्बई में एक प्रार्थना समाज स्थापित किया गया। परन्तु इन लोगों ने अपने आप को किसी नवीन धर्म का अथवा हिन्दू धर्म के बाहर अथवा साथ-साथ किसी नवीन मत के अनुयायी के रूप में नहीं माना अपितु केवल इस धर्म के अन्दर ही एक आन्दोलन के रूप में इसे स्वीकार किया। एक ईश्वरवाद के अतिरिक्त महाराष्ट्र में समाज सुधार, 'कार्य न कि विश्वास' पर ही बल दिया गया। उनका विश्वास था कि ईश्वर का सच्चा प्यार उसके मनुष्यों की सेवा में ही है।
- मूल शंकर (1824-83) जो प्राय: दयानन्द के नाम से जाने जाते हैं, का जन्म 1824 में गुजरात की मौरवी रियासत के निवासी एक ब्राह्मण कुल में हुआ। उनके पिता जो स्वयं वेदों के महान विद्वान थे, उन्होंने उन्हें वैदिक वाङ्मय, न्याय-दर्शन इत्यादि पढ़ाया। दयानन्द की जिज्ञासा ने उन्हें योगाभ्यास इत्यादि करने पर बाध्य किया
- 1875 में उन्होंने बम्बई में आर्य समाज की स्थापना की जिसका मुख्य उद्देश्य प्राचीन वैदिक धर्म की शुद्ध रूप से पुन: स्थापना करना था। जो झूठे धार्मिक विश्वास तथा सामाजिक कुरीतियों कालान्तर में हिन्दू समाज में आ गई थीं उन्हें उन्होंने जड़ से फेंकने का प्रण किया। 1877 में आर्य समाज लाहौर की स्थापना हुई जिसके उपरान्त आर्य समाज का अधिक प्रचार हुआ। स्वामी दयानन्द का उद्देश्य था कि भारत को धार्मिक, सामाजिक तथा राष्ट्रीय रूप से एक कर दिया जाए। उनकी इच्छा थी कि आर्य धर्म ही देश का समान धर्म हो। उन्हें समकालीन हिन्दू धर्म तथा समाज में अनेक त्रुटियां देखने को मिलीं। उन्हेंने इन दोनों क्षेत्रों में जीवनपर्यन्त अनथक कार्य किया।
- उन्होंने अद्वैतवाद को, कि संसार एक माया है, आत्मा-परमात्मा का ही भाग है, उसके अतिरिक्त सब झूठ है, संसार से पलायन ही जीवन का उद्देश्य है, इस दर्शन को उन्होंने शुद्ध वैदिक परम्परा के विपरीत बतलाया। उनके अनुसार प्रकृति सत् है, आत्मा सत् है तथा चित् है और परमात्मा सत्चित् और आनन्द है।
- उनका नारा था 'पुन: वेद की ओर चलो' न कि वैदिक काल की ओर।
- उनके सभी विचार उनकी प्रसिद्ध पुस्तक 'सत्यार्थ प्रकाश' में वर्णित है। ब्रह्मसमाज तथा थिओसोफिकल सभा पाश्चात्य विद्या पढ़े लोगों को बहुत भाती थी। स्वामी दयानन्द की शिक्षा की मुख्य विशेषता यह थी कि उसमें उन्होंने पाश्चात्य दर्शन, शिक्षा तथा समाज से कुछ भी नहीं लिया। उन्होंने तो केवल यह कहा कि वेद और उपनिषद से परे कुछ नहीं और जिन-जिन रीति-रिवाजों, परम्पराओं, कर्मकाण्ड अथवा सामाजिक बुराइयों की वेद में अनुमति नहीं है तो वे सभी त्याज्य हैं।
- उनकी मृत्यु के पश्चात् 1886 में आरम्भ की गई दयानन्द ऐंग्लो-वैदिक संस्थाएं शीघ्र ही देश के कोने-कोने में फैल गईं। स्वामीजी के अनुयायी रूढ़िवादी तथा प्रतिक्रियावादी नहीं थे। उन्होंने अंग्रेजी भाषा तथा ज्ञान को भी अपनाया अर्थात् प्राच्य तथा पाश्चात्य ज्ञान का सर्वोत्तम समन्वय इनमें मिलता है। इन शिक्षा संस्थानों को

नोट

भी आर्य समाज के दो दल तथा झूठे विश्वासों से निकलने के एक साधन के रूप में प्रयोग किया। 1892-93 में आर्य समाज के दो दल हो गए। एक पाश्चात्य शिक्षा का विरोधी था। उन्होंने 1902 में हरिद्वार में एक गुरुकुल स्थापित कर लिया जहां प्राचीन वैदिक शिक्षा प्राचीन पद्धति से दी जाती थी और उसी के नमूने पर कई अन्य स्थानों में गुरुकुल बनाए गए।

- अमृतसर में सिंह सभा आन्दोलन आरम्भ हुआ। इससे संलग्न एक अन्य संस्था थी मुख्य खालसा दीवान। इन संस्थाओं ने पंजाब में बहुत से गुरुद्वारे स्थापित किए तथा विद्यालय और कॉलेज खोले। सिंह सभा का ही एक छोटा आन्दोलन 'अकाली लहर' थी।
- 1921 में अकालियों ने गुरुद्वारों के उद्धार के लिए इन महन्तों के विरुद्व अहिंसात्मक असहयोग सत्याग्रह आन्दोलन आरम्भ किया।

3.5 शब्दकोश (Keywords)

- आत्म-परीक्षण: स्वमूल्यांकन
- असहिष्णुता : अनुदार, रूढ
- कुठाराघात : तीव्र प्रहार, कठोर वैचारिक प्रहार

3.6 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. ब्रह्म समाज की स्थापना किसने की और क्यों? क्या यह संगठन अपने सामाजिक सुधार के उद्देश्यों में सफल रहा? मूल्यांकन कीजिए।
2. आर्य समाज के उद्देश्यों को स्पष्ट करते हुए स्वतंत्रता आन्दोलन में इस संगठन की भूमिका को रेखांकित कीजिए।
3 सिंह सभा आन्दोलन का संक्षिप्त वर्णन कीजिए।
4. आर्य समाज के संस्थापक स्वामी दयानंद सरस्वती को भारत का मार्टिन लूथर कहा जाता है, क्यों? स्पष्ट कीजिए।

उत्तर: स्व-मूल्यांकन (Answer: Self Assessment)

(1) (ख) (2) (ख) (3) (ग) (4) (घ)

(5) (क)

3.7 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. *आधुनिक भारत*– एस.के. पाण्डे, प्रयाग एकेडमी, इलाहाबाद।
2. *स्वतंत्रता का इतिहास*– बी.एल. ग्रोवर एवं यशपाल, एस.चन्द एण्ड कम्पनी लि., दिल्ली।
3. *स्वतंत्रता संग्राम*– विपिन चन्द्र, हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय दिल्ली विश्वविद्यालय।

नोट

इकाई–4: कॉर्नवालिस के सुधार (Reforms of Cornwallis)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

4.1 कॉर्नवालिस के सुधार: लोक सेवाएँ, न्यायिक और पुलिस सुधार (Reforms of Cornwallis: Public Services, Judicial and Police reforms)

4.2 सारांश (Summary)

4.3 शब्दकोश (Keywords)

4.4 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

4.5 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- कॉर्नवालिस द्वारा किये गये सुधारों को समझने में,

प्रस्तावना (Introduction)

1786 में कम्पनी ने एक उच्चवंश तथा कुलीन वृत्ति के व्यक्ति को पिट्स इण्डिया ऐक्ट के अंतर्गत रेखांकित शान्ति स्थापना तथा शासन के पुनर्गठन के हेतु, गवर्नर-जनरल नियुक्त कर भारत भेजा। उसे विशेषकर एक सन्तोषजनक भूमि कर व्यवस्था स्थापित करना, एक ईमानदार तथा कार्यक्षम न्याय व्यवस्थाा बनाना तथा कम्पनी के व्यापार विभाग का पुनर्गठन करना था। उसने वॉरेन हेस्टिंग्ज के स्थापित किए हुए ढांचे पर ही अतिरिक्त शासन व्यवस्था का गठन किया जो 1858 तक चलता रहा।

4.1 कॉर्नवालिस के सुधार: लोक सेवाएँ, न्यायिक और पुलिस सुधार (Reforms of Cornwallis: Public Services, Judicial and Police Reforms)

सिविल सेवा अथवा लोक सेवा: कॉर्नवालिस भारत में सिविल सेवा का जन्मदाता था। इस सेवा में 1853 ई. से प्रतियोगितात्मक परीक्षा होने लगी। प्रारम्भ में यह इंग्लैण्ड में होती थी लेकिन 1923 से यह भारत में आयोजित की जाने लगी। सुरेन्द्र नाथ बनर्जी जब असम के कलक्टर थे तब उन्हें निलम्बित कर दिया गया था जबकि सुभाष चन्द्र बोस ने परीक्षा पास करने के बावजूद त्यागपत्र दे दिया था। प्रारम्भ में इस परीक्षा की आयु 23 वर्ष थी, जिसे लिटन ने घटाकर 19 वर्ष कर दिया।

सिविल सर्विस का गठन (Organization of the Civil Services)

एक कुशल प्रशासनिक सेवा का गठन, जो वह निश्चित नियमों के अनुसार काम करती थी, अंग्रेजी ईस्ट इण्डिया कम्पनी का एक अन्य महत्त्वपूर्ण कार्य था। यह अंग्रेजों के पूर्व परिस्थिति से पूर्णतया भिन्न था जिस में स्थानीय अथवा व्यक्ति विशेष की व्यक्तिगत अभिरूचि के अनुसार ही प्रशासक कार्य करते थे।

कम्पनी के प्रारम्भिक दिनों में कम्पनी के अधिकारी अथवा लिपिकार जिन्हें प्रवर तथा कनिष्ठ व्यापारी अभिकर्ता तथा लिपिकर कहते थे, मिलकर समस्त व्यापारिक और प्रशासनिक कार्य करते थे। निदेशकों के अधिकरण अपने प्रश्रय

नोट

का प्रयोग करते और अपने मित्रों, कभी-कभी पुत्रों को ही भारत में प्रशासनिक सेवा के लिए भारत भेज देते थे। कभी-कभी यह नियुक्तियां मोल भी बेची जाती थीं। वेतन प्राय: बहुत कम होते थे। अतएव प्राय: यह लोग घूस लेते थे। वॉरेन हेस्टिंगज ने पदों के वेतन अत्यधिक बढ़ा दिए ताकि मिथ्याचार कम हो सके। प्रशासन का व्यय अत्यधिक हो गया परनतु उस से न ही कुशलता आई और न ही भ्रष्टता कम हुई। लॉर्ड कॉर्नवालिस ने बड़े-बड़े पदों का यूरोपीयकरण किया ओर प्राशसनिक सेवाओं में वेतन और भी अधिक कर दिए परन्तु उसने न तो इन नियुक्तियों के लिए चयन का और न ही उन के प्रशिक्षण का ठीक-ठीक प्रबन्ध किया। लॉर्ड वैल्जली ने पहली बार प्रशासनिक सेवकों के प्रशिक्षण के लिए नवंबर 1800 में कलकत्ता में फोर्ट विलियम कॉलेज खोला। यहां कम्पनी के पदाधिकारियों को साहित्य, विज्ञान और भारतीय भाषाओं का ज्ञान दिया जाता था। निदेशकों के प्राधिकरण को यह जंचा नीं यद्यपि यह कॉलेज पदाधिकारियों के लिए भारतीय भाषाओं का ज्ञान देने के लिए 1854 तक कार्य करता रहा। परन्तु निदेशकों ने यह ठीक समझा कि इंग्लैण्ड में ही भारतीय प्रशासकों के प्रशिक्षण के लिए एक कॉलेज खोला जाए और हेलीबरी के स्थान पर एक ईस्ट इण्डिया कॉलेज 1806 में खोला गया। यहां भारत में नियुक्ति से पूर्व इन तरुण पदाधिाकारियों को 2 वर्ष तक प्रशिक्षण लेना होता था।

कम्पनी के पदाधिकारियों की नियुक्ति के लिए भारतीयों के लिए द्वार पूर्णतया बन्द थे। यह ठीक है कि 1833 के चार्टर एक्ट में धारा 87 के अनुसार य प्रावधान था कि कम्पनी की प्रशासनिक सेवा के लिए रंग का भेदभाव नहीं होगा। परन्तु यह कहने की बात थी। वास्तविकता भिन्न थी। उच्च प्रशासनिक सेवा में किसी भारतीय की नियुक्ति नहीं हुई। यहां तक कि सम्राज्ञी विक्टोरिया की 1858 की घोषणा में भी यह आश्वासन दिया गया था कि "हमारी प्रजा, चाहे किसी भी धर्म अथवा जाति से हो, मुक्त और भेदभाव रहित रूप से किसी भी पद के लिए जिस के वह योग्य हो, चुनी जा सकती है।" परन्तु इस कथन का भी कोई प्रभाव नहीं हुआ और ऊँचे प्रशासनिक पद केवल श्वेत लोगों के लिए ही संरक्षित रहे। भारतीय जनता को बहलाने के लिए और जातीय समानता दिखलाने के लिए उन्होंने डिप्टी कलेक्टर और डिप्टी मैजिस्ट्रेटों के पद गठित किए और कुछ भारतीयों को लगा कि वे इन पदों तक पहुंच सकते हैं।

न्यायिक सुधार: कॉर्नवालिस का प्रथम कार्य जिले की समस्त शक्ति को कलक्टरों के हाथों में केन्द्रित करना था और यह उन आदेशों के अनुकूल था जो डाइरेक्टरों ने उसे दिए थे तथा जिसके मुख्य तत्व मितव्ययता तथा सरलता थे। 1787 में जिलों में कार्यवाह कलक्टरों को दीवानी आदालतों के दीवानी न्यायाधीश भी नियुक्त कर दिया गया तथा इसके अतिरिक्त उन्हें फौजदारी शक्तियां और सीमित मामलों में फौजदारी न्याय करने का भी अधिकार दे दिया गया था।

1790 और 1792 के बीच फौजदारी न्याय में कुछ परिवर्तन भी किए गए। भारतीय न्यायाधीशों वाली जिला फौजदारी अदालतें समाप्त कर उनके स्थान पर 4 भ्रमण करने वाले न्यायालय, 3 बंगाल के लिए तथा 1 बिहार के लिए नियुक्त किए गए। इन न्यायालयों के अध्यक्ष अनुबद्ध यूरोपीय ही होते थे तथा काजी और मुफ्ती उनकी सहायता करते थे। ये न्यायालय जिलों का दौरा करने तथा नगर दण्डनायकों द्वारा निर्देशित फौजदारी मामलों का निर्णय करते थे। इसी प्रकार मुर्शिदाबाद में स्थित सदर निजामत अदालत के स्थान पर एक ऐसा ही न्यायालय कलकत्ता में स्थापित कर दिया गया जिसमें गवर्नर-जनरल तथा उसकी परिषद् के सदस्य सम्मिलित थे तथा जिसकी सहायता के लिए मुख्य काजी तथा मुख्य मुफ्ती होते थे।

कॉर्नवालिस संहिता (Cornwallis Code): उसने अपने न्यायिक सुधारों को 1793 तक अन्तिम रूप देकर कॉर्नवालिस संहिता के रूप में प्रस्तुत किया। यह सुधार प्रसिद्ध "शक्तियों के पृथकीकरण" पर आधारित था। उसने कर तथा न्याय प्रशासनों को पृथक् कर दिया। उस समय तक जिले में कलक्टरों के पास भूमि कर विभाग, तथा विस्तृत न्यायिक तथा दण्डनायक शक्तियाँ होती थीं। कॉर्नवालिस ने अनुभव किया कि कलक्टर के रूप में किए गए अन्याय का निर्णय कोई स्वयं न्यायाधीश के रूप में कैसे कर सकता है। जमींदार तथा कृषक को इस न्याय में विश्वास नहीं होगा। अतएव कॉर्नवालिस संहिता द्वारा कलक्टर की न्यायिक तथा फौजदारी शक्तियाँ ले ली गईं तथा उसके पास केवल एक सम्बन्धी शक्तियाँ ही रह गईं। जिला दीवानी न्यायालयों में कार्य के लिए एक नए अधिकारियों की श्रेणी जिला न्यायाधीशों की गठित की गई। इनको फौजदारी तथा पुलिस के कार्य भी दिए गए।

नोट

दीवानी अदालतों की एक क्रमिक लड़ी स्थापित की गई। कर तथा दीवानी मामलों का भेद समाप्त कर इन अदालतों को समस्त दीवानी मामलों को सुनने का अधिकार दे दिया गया। इस प्रकार मुंसिफ की अदालत को 50 ₹ तक के मामले सुनने का अधिकार था जिसका अध्यक्ष एक भारतीय अधिकरी होता था। उसके ऊपर रजिस्ट्रार की अदालत थी जिसे 200 ₹ तक के मामले सुनने का अधिकार था। यह न्यायाधीश यूरोपीय होता था। इन दोनों न्यायालयों से अपील नगर अथवा जिला अदालतों में हो सकती थी। जिला न्यायालयों के ऊपर चार प्रान्तीय न्यायालय थे जहाँ जिला न्यायालयों से अपीलें हो सकती थीं। ये अदालतें कलकत्ता, मुर्शिदाबाद, ढाका तथा पटना में स्थित थीं। इन्हें जिला न्यायालयों के कार्य का निरीक्षण भी करना होता था तथा उनके कहने पर सदर दीवानी अदालत किसी जिला न्यायाधीश को निलम्बित भी कर सकती थी। कुछ मामलों में यह न्यायालय प्रथम अधिकार-क्षेत्र न्यायालय के रूप में भी कार्य सुन सकते थे। इससे ऊपर कलकत्ता में स्थित सदर दीवानी अदालत होती थी। जिसके सदस्य गवर्नर-जनरल तथा उसके पार्षद होते थे। यह न्यायालय 1,000 ₹ से अधिक के मामालें की अपील सुन सकता था। 5,000 से अधिक के मूल्य के मामले की अपील सपरिषद् सम्राट के पास हो सकती थी। इन अदालतों में कार्यविधि के नियम बना दिये गये तथा जो भारतीय अधिकारी इन न्यायालयों से सम्बन्धित होते थे उनकी योग्यताएं भी निर्धारित की गईं। हिन्दुओं पर हिन्दू तथ मुसलमानों पर मुस्लिम विधि लागू होती थी।

इन जिलों में रहने वाले यूरोपीय लोग भी इन्हीं दीवानी अदालतों के अधीन कर दिए गए। कलकत्ता से दूर रहने वाले यूरोपीयों को वहां रहने की अनुमति तभी मिलती यदि वे इन अदालतों की अधीनता स्वीकार कर लें। इसी प्रकार सरकारी अधिकारियों को भी अपने सरकारी कार्य के लिए इन्हीं न्यायालयों के सम्मुख उत्तरदायी होना पड़ता था। इस प्रकार कॉर्नवालिस ने कानून की विशिष्टता का नियम, जो इससे पूर्व नहीं था, भारत में लागू कर दिया।

फौजदारी न्याय व्यवस्था में भी अनेक परिवर्तन किये गये। भारतीय अधिकारियों के अधीन कार्य करने वाले जिला फौजदारी न्यायालय समाप्त कर दिए गए। जिला न्यायाधीश को अपराधियों अथवा व्यवस्था भंग करने वालों को बन्दी बनाने की आज्ञा देने का अधिकार दे दिया गया। छोटे-छोटे मामलों का वह स्वयं फैसला करता था तथा अधिक गम्भीर मामले उसे भ्रमण करने वाली अदालतों के सम्मुख पेश करने होते थे।

क्या आप जानते हैं

प्रान्तीय भ्रमण करने वाली अदालतें जो दीवानी अपीलें भी सुनती थीं, फौजदारी भ्रमण करने वाली अदालतों के रूप में भी कार्य करती थीं। इनमें भारतीय काजी तथा मुफ्ती होते थे। इन्हें मृत्यु दण्ड देने की अनुमति थी परन्तु उनकी पुष्टि सदर निजामत अदालत द्वारा आवश्यक थी जो कि फौजदारी मामलों में उच्चतम न्यायालय का कार्य करती थी। गवर्नर-जनरल को क्षमादान अथवा लघुकरण की अनुमति थी।

न्यायिक संगठन (Judicial Organization)

अंग्रेजी ईस्ट इंडिया कम्पनी ने भारतीय प्रदेश भिन्न-भिन्न प्रक्रिया से प्राप्त किए। बम्बई को पुर्तगाल के राजा ने अपनी बेटी के दहेज में चार्लस द्वितीय को पूर्ण सत्ता समेत दिया और उसने कम्पनी को 1668 में थोड़ा सा किराया लेकर दे दिया। अर्थात् कम्पनी पूर्ण रूप से स्वामी थी। चोलमण्डल तट पर मद्रास तथा आस-पास का क्षेत्र कर्नाटक ने नवाब के स्थायी तथा अटल रूप से कम्पनी को दे दिया। बंगाल में स्थिति अनिश्चित सी थी क्योंकि वहां कम्पनी को सत्ता दोहरी प्रणाली से प्राप्त हुई थी। 1765 में मुगल सम्राट शाह आलम द्वितीय ने अपनी पराजय के उपरान्त कम्पनी को बंगाल, बिहार तथा उड़ीसा की दीवानी दे दी थी। इसलिए अब कम्पनी बंगाल के समस्त दीवानी कार्य के लिए उत्तरदायीय थी जिस में दीवानी न्याय भी सम्मिलित था। दूसरी ओर निजामत अर्थात् कानून और व्यवस्था बंगाल के नवाब के पास ही रही। यह कार्य मुहम्मद रजा खां नायब नवाब को संभालना था क्योंकि मुगल प्रशासन में प्रान्तों का भार दो व्यक्तियों के कन्धों पर होता था, सूबेदार और दीवान। कानून और व्यवस्था तथा फौजदारी न्याय इत्यादि का कार्य नवाब देखता था और भूमि तथा अन्य कर जिस में दीवानी मुकद्दमे भी सम्मिलित होते थे, इनका कार्य

नोट

दीवान देखता था।

बम्बई में 1668 में सत्ता प्राप्त करने के उपरान्त कम्पनी वहां दीवानी और फौजदारी न्याय भी देती थी। जनसंख्या कम थी अतएव यह दोनों समस्याएं भी कम थीं। कम्पनी ने फौजदारी न्याय में धार्मिक सहिष्णुता और ज्यूरी द्वारा फैसला करने की पद्धति अपनाई जैसा कि इंग्लैण्ड में प्रथा थी। एक न्याय का प्राधिकरण स्थापित किया गया। 1718 में ज्यूरी प्रथा समाप्त कर दी गई और अदालतों से अपील की व्यवस्था स्थापित की गई। गवर्नर तथा उसकी परिषद् यह अपील सुनते थे। इस में हिन्दू, एक मुसलमान, एक पारसी न्यायाधीश, एक पुर्तगाली और एक कम्पनी का प्रतिनिधि भी होता था। 1726 में कम्पनी के निदेशकों ने अंग्रेजी सम्राट से अनुमति मांगी कि नगर में एक महापौर की अदालत बनाने की अनुमति दी जाए। इसके फलस्वरूप, कलकत्ता, मद्रास तथा बम्बई में नौ वृद्धों वाली महापौर की अदालतें स्थापित की गईं जिन का मुख्य कार्य इन तीनों नगरों में रहने वाले यूरोपीय लोगों में न्याय करना था।

प्रारम्भिक दिनों में कम्पनी ने देखा कि देश के भिन्न-भिन्न भागों में भिन्न-भिन्न न्याय प्रणाली प्रचलित है। न केवल हिन्दू और मुसलमान न्यायप्रणालियां अलग-अलग न्याय देती हैं अपितु अन्य प्रदेशों में हिन्दू और मुस्लिम न्याय भी अलग-अलग हैं। मोटे तौर पर हम कह सकते हैं कि अंग्रेजों से पूर्व दिनों में न्यायिक पद्धति हिन्दू, ुस्लिम, स्थानीय रीति रिवाजों तथा प्रशासकों की अपनी अभिरूचि का सम्मिश्रण सी थी। यूरोपीय व्यापारिक कम्पनियां जिन्होंने यह बस्तियां बसाई थीं सरलता से इस न्याय को स्वीकार करने को उद्यत नहीं थीं। विशेषकर मुस्लिम कुरान के कानून को जिसमें अंग विच्छेद करना, अथवा अपराधी को पत्थरों से मार डालने का, अथवा एक काफिर की साक्षी को मुसलमान की साक्षी से गौण समझा जाता था। यह भी स्वीकार्य नहीं था कि ब्राह्मण के लिए भिन्न कानून हो और शूद्र के लिए भिन्न। यूरोप में राष्ट्रीय राज्यों के उत्थान के साथ राष्ट्रीय कानूनों का भी उदय हुआ और इन विदेशियों ने अपने अधीन भारतीयों पर एक जैसा कानून लागू करने का प्रयत्न किया।

यह वॉरेन हेस्टिंगज था जिसने सर्वप्रथम न्यायालयों का एक ढांचा सा तैयार किया और जिला दीवानी तथा फौजदारी अदालतें गठित कीं जहां से अपील कलकत्ता स्थित सदर दीवानी और सदर फौजदारी अदालत में की जा सकती थी। परन्तु वास्तव में यह लॉर्ड कॉर्नवालिस ही था जिसने विधिवत दीवानी तथा फौजदारी अदालतों की शृंखलाबद्ध रूप से स्थापना की। जिलों में सब से नीचे स्तर की मुनसिफ की अदालत होती थी जिस में न्यायाधीश भारतीय होते थे और जिन्हें 50 ₹ तक के मुकद्दमों की सुरवाई करने का अधिकार था। इस से ऊपर रजिस्ट्रार की अदालत होती थी जिसमें यूरोपीय न्यायधीश होते थे और उन्हें 200 ₹ तक के मामले सुनने का अधिकार था। इन से अपील जिला अथवा नगर अदालतों में होती थी। जिला अदालतों से अपील चार प्रान्तीय अदालतों में हो सकती थी। इन सब से ऊपर सदर दीवानी और सदर निजामत अदालत होती थी जो कलकत्ता में स्थित थी। कुछ मामलों में अपील इंग्लैण्ड में स्थित प्रिवी काउंसिल में सीधे भी हो सकती थी। 1793 की कॉर्नवालिस संहिता ने इस समस्त न्यायिक व्यवस्था को सूचारू रूप दिया और यह व्यवस्था अपरिवर्तित रूप से बहुत देर तक चलती रही।

नोट्स जिला न्यायाधीश सभी दीवानी मामले सुन सकते थे तथा उनकी सहायता के लिए भारतीय विधिवेत्ता होते थे।

फौजदारी कानून में सुधार: वॉरेन हेस्टिंग्ज ने तो केवल सरकार के कानूनी मामलों में हस्तक्षेप करने के अधिकार पर ही बल दिया था परन्तु कॉर्नवालिस ने यह भी कहा कि सरकार को फौजदारी कानून में सुधार करने का अधिकार है। मुसलमानों का यह कहना था कि फौजदारी कानून दैव निर्दिष्ट हैं।

1790-93 के बीच कार्नवालिस ने फौजदारी कानून में कुछ परिवर्तन किये जिन्हें अंग्रेजी संसद ने एक अधिनियम द्वारा 1797 में प्रमाणित कर दिया । दिसम्बर 1790 में मुसलमान न्यायाधिकारियों के मार्गदर्शन के लिए एक नियम बनाया गया जिसके अनुसार हत्या के मामलों में हत्यारे की भावना पर अधिक बल दिया गया न कि हत्या के अस्त्र

नोट

अथवा ढंग पर। इसी प्रकार मामले की गम्भीरता के अनुसार अंग विच्छेदन के स्थान पर कड़ी कैद की सजा की आज्ञा दी गई। इसी प्रकार 1793 में यह निश्चय किया गया कि साक्षी के "धर्म विशेष" का मामले पर कोई प्रभाव नहीं होगा। मुस्लिम कानून के अनुसार मुसलमानों की हत्या के मामले में अन्य धर्म वाले साक्षी नहीं दे सकते थे।

टास्क कॉर्नवालिस संहिता से आप क्या समझते हैं?

न्यायिक सुधारों पर सिंहावलोकनः कॉर्नवालिस की न्याय प्रणाली पश्चिम की न्यायिक धारणाओं और निष्पक्षता पर आधारित थी। राजा अथवा उसके कार्यकर्त्ताओं के निजी कानून अथवा धार्मिक कानून का स्थान एक धर्मनिरपेक्ष कानून ने ले लिया। विधि की विशिष्टता स्थापित हो गई। परन्तु इस कॉर्नवालिस संहिता के तात्कालिक परिणाम बहुत अच्छे नहीं थे। यह नया कानून इतना जटिल, नवीन तथा अपरिचित सा था कि जनसाधारण इससे लाभ नहीं उठा सकते थे। यह न्याय इतना महंगा तथा धीमी गति से चलने वाला था कि एक धनाढ्य व्यक्ति एक अशिक्षित तथा निर्धन व्यक्ति को सरलता से हरा अथवा थका सकता था। झूठे साक्षी बना लिए जाते थे। झूठ तथा बेईमानी का बोलबाला था। मूकद्दमेबाजी बढ़ गई। न्यायालयों में काम अधिक होने के कारण फैसलों में देरी होने लगी। परन्तु प्रमुख बात यह थी कि परम्परागत न्याय प्रणाली, पंचायत जमींदार, काजी, फौजदार तथा नाजिम इत्यादि के स्थान पर यूरोपीय न्यायाधीश आ गए जो भारतीय रीति-रिवाजों तथा परम्पराओं से अनभिज्ञ थे। 1817 में मनरो ने भी इन यूरोपीय न्यायाधीशों की अनभिज्ञता की खिल्ली उड़ाई थी।

पुलिस सुधारः न्यायिक सुधारों को लागू करने तथा अनुपूरण करने के लिए पुलिस प्रशासन में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किये गये। कलकत्ता में गुण्डों तथा दुश्चरित्र लोगों का ही राज्य बन गया था। कुछ बाजारों से तो लोग सूर्यास्त के पश्चात् गुजरते ही नहीं थे। पुलिस अधीक्षक भी प्रायः भ्रष्ट थे। पुलिस के कर्मचारियों में तत्परता तथा ईमानदारी लाने के लिए, कॉर्नवालिस ने उनके वेतन बढ़ा दिये तथा चोरों तथा हत्यारों को पकड़ने पर पुरस्कार देने का प्रस्ताव किया।

ग्रामीण क्षेत्रों में जमींदारों के पुलिस अधिकार समाप्त कर दिए गए तथा वे अपने प्रदेशों में डकैती तथा हत्या के लिए उत्तरदायी नहीं रहे। अंग्रेज दण्डनायकों को जिले की पुलिस का भार दिया गया। जिलों को 400 वर्ग मील के क्षेत्रों में विभाजित कर दिया गया तथा प्रत्येक क्षेत्र में एक दारोगा तथा उसकी सहायता के लिए पुलिस कर्मचारी नियुक्त कर दिये गये।

पुनर्वेक्षण (Overview)

विधि का शासनः अंग्रेजों की इस बात के लिए प्रशेसा करनी होगी कि उन्होंने भारत में पहली बार विधि के शासन जैसी आधुनिक परिकल्पना स्थापित की। इस का अर्थ यह था कि भारत में इस से पहले चल रही प्रायः मनमाने ढंग की व्यवस्था समाप्त हो गई। अब प्रत्येक व्यक्ति को अपने अधिकार अथवा विशेषाधिकार का ज्ञान मिल सकता था। नियम लिपि बद्ध हो गए। यद्यपि यह ठीक है कि कई बार व्यक्ति के अधिकारों का अतिक्रमण हो जाता था और उसे न्याय नहीं मिलता था परन्तु फिर भी यह मानना होगा कि कम से कम ऐसा अवसर तो मिलता था कि दोषी पदाधिकारियों को अदालतों में ला कर खड़ा तो कर दिया जाता था।

कानून के सम्मुख बराबरीः कानून के सम्मुख सभी लोग, चाहे उनका धर्म, वर्ण, जाति अथवा वर्ग कोई भी क्यों न हो, सभी को बराबर माना जाता था। इसका अर्थ यह हुआ कि इससे पूर्व की न्यायिक प्रथा जिससे ब्राह्मण और शुद्र जमींदार और कृषक के लिए भिन्न-भिन्न कानून होते थे अब समाप्त हो गई। मुस्लिम कानून भी जो स्त्री और पुरुष में भेद भाव करता था, का भी अब अन्त हो गया। यह एक अलग बात है कि वास्तविकता थोड़ी भिन्न थी। निधर्न कृषकों तथा साधारण जनता को वकील नियुक्त करने पड़ते थे जो मोटी-मोटी राशियां फीस के रूप में लेते थे और धनवान लोग पुलिस तथा न्यायपालिका को भ्रष्ट रीतियां अपनाकर निर्धन लोगों को न्याय से वंचित कर सकते थे।

नोट

व्यक्तिगत दीवानी कानून स्वीकृत: अंग्रेजों से पूर्व भी किसी शासक ने भारत के भिन्न-भिन्न धर्मावलम्बियों पर तथा भिन्न-भिन्न समुदायों पर एक ही दीवानी कानून लादने का प्रयत्न नहीं किया था। वह प्रथा अब भी अंग्रेजों ने स्वीकार कर ली अर्थात् भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों तथा समुदायों के लोगों पर उनके अपने-अपने कानून लागू रहे और वे उन्हीं के अधीन बने रहे, विशेषकर, विवाह, संयुक्त परिवार प्रथा, गोद लेना तथा उत्तराधिकार के कानून इत्यादि के मामलों में।

प्रशिक्षित न्यायिक पदाधिकारियों तथा व्यावसायिक वकीलों का विकास: अंग्रेजों से पूर्व, भूपति और प्रशासक, न्यायिक मामलों के निर्णय में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते थे। कम्पनी के अधीन अब कानून लिखित तथा अधिक संहिताबद्ध बन गया था। जिस के फलस्वरूप पढ़े-लिखे ऐसे लोगों का वर्ग सामने आया जो इन कानूनों की भाषा को समझ सके और न्यायपालिका के सम्मुख रख सके। यह था व्यवसायिक वकीलों का वर्ग जो अपने मुवक्किलों के अधिकारों की रक्षा ओर उनका पक्ष प्रस्तुत करने में अधिक सक्षम थे। यह था आधुनिक न्यायिक प्रणाली का उत्थान और विकास। यह ठीक है कि इस पद्धति की सीमाएँ हैं और इस में कुछ त्रुटियां भी हैं; विशेषकर न्याय प्राप्त करने में देरी। परन्तु इसमें अन्याय की सम्भावना कम होती थी।

कम्पनी की यह न्यायिक प्रणाली अत्यन्त सराहनीय थी क्योंकि इस में कानून की सर्वोच्चता तथा प्रभुसत्ता स्वीकार हो गई थी, कानून को संहिता बद्ध किया गया था और यह पश्चिमी न्यायिक प्रणाली तथा मानवता के अनुरूप था। यह ठीक है कि इस के कुछ परिणाम अवांछनीय भी थे। यह नई अपरिचित विस्तृत तथा महंगी प्रणाली जनता को बहुत अच्छी नहीं लगी। मुकद्दमें प्राय: इतने लम्बे हो जाते थे कि लोग निराश हो जाते थे। लोग सस्ता, तथा शीघ्र मिलने वाला न्याय चाहते हैं। इस प्रणाली में असत्य, चालाकी, धोखाधड़ी तथा पैसे का बोलबाला था। मुकद्दमेंबाजी बढ़ी और व्यवसायिक बकीलों ने जनता को खूब लूटा और यही लोग समाज के मुखिया बन गए। इसमें बड़ी मुसीबत यह थी कि न्यायधीश प्राय: अंग्रेज होते थे जो स्थानीय रीति रिवाजें, परिस्थितियों तथा भाषा के सूक्ष्म भेदों से अनभिज्ञ होते थे। इसके अतिरिक्त यह विदेशी न्यायाधीश जिन्हें विदेशियों के प्रति पूर्वाग्रह भी होता था। विदेशियों और भारतीयों के बीच के विवादों में भारतीयों को न्याय नहीं देते थे। इसी प्रकार ये प्राय: ईसाइयों के प्रति अधिक सहानुभूत होते थे। पीछे हिन्दू मुस्लिम झगड़ों में भी उन्होंने प्राय: पक्षपात पूर्ण रुख अपनाया।

परन्तु जो भी हो इस से कम्पनी का मनतव्य पूर्ण होता था। यह भूमि की तथा अन्य करों के संग्रहण में लाभकारी सिद्ध हुई तथा कानून और व्यवस्थाा में सुधार आया।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए। (Fill in the blanks)

1. कॉर्नवालिस द्वारा 1790 और ..... के बीच फौजदारी न्याय में कुछ परिवर्तन किए गए।
2. कॉर्नवालिस ने 1793 में अपने न्यायिक सुधारों को अंतिम रूप देकर ..... के रूप में प्रस्तुत किया।
3. कॉर्नवालिस को भारत में ..... का जन्मदाता कहा जाता है।
4. प्रारम्भ में सिविल सेवा परीक्षा की आयु 23 वर्ष थी जिसे लिटन ने घटाकर .... कर दिया।
5. ..... में यह निश्चय किया गया कि साक्षी के "धर्म विशेष" मामले पर कोई प्रभाव नहीं होगा।

4.2 सारांश (Summary)

- कॉर्नवालिस का प्रथम कार्य जिले की समसस्त शक्ति को कलक्टरों के हाथों में केन्द्रित करना था और यह उन आदेशों के अनुकूल था जो डाइरेक्टरों ने उसे दिए थे तथा जिसके मुख्य तत्व मितव्ययता तथा सरलता थे। 1787 में जिलों में कार्यवाह कलक्टरों को दीवानी आदालतों के दीवानी न्यायाधीश भी नियुक्त कर दिया गया तथा इसके अतिरिक्त उन्हें फौजदारी शक्तियां और सीमित मामलों में फौजदारी न्याय करने का भी अधिकार दे दिया गया था।

नोट

- 1790 और 1792 के बीच फौजदारी न्याय में कुछ परिवर्तन भी किए गए। भारतीय न्यायाधीशों वाली जिला फौजदारी अदालतें समाप्त कर उनके स्थान पर 4 भ्रमण करने वाले न्यायालय, 3 बंगाल के लिए तथा 1 बिहार के लिए नियुक्त किए गए।
- उसने अपने न्यायिक सुधारों को 1793 तक अन्तिम रूप देकर कॉर्नवालिस संहिता के रूप में प्रस्तुत किया। यह सुधार प्रसिद्ध "शक्तियों के पृथकीकरण" पर आधारित था।
- इस प्रकार मुंसिफ की अदालत को 50 ₹ तक के मामले सुनने का अधिकार था जिसका अध्यक्ष एक भारतीय अधिकरी होता था। उसके ऊपर रजिस्ट्रार की अदालत थी जिसे 200 ₹ तक के मामले सुनने का अधिकार था। यह न्यायाधीश यूरोपीय होता था। इन दोनों न्यायालयों से अपील नगर अथवा जिला अदालतों में हो सकती थी।
- 1790-93 के बीच कार्नवालिस ने फौजदारी कानून में कुछ परिवर्तन किये जिन्हें अंग्रेजी संसद ने एक अधि नियम द्वारा 1797 में प्रमाणित कर दिया । दिसम्बर 1790 में मुसलमान न्यायाधिकारियों के मार्गदर्शन के लिए एक नियम बनाया गया जिसके अनुसार हत्या के मामलों में हत्यारे की भावना पर अधिक बल दिया गया न कि हत्या के अस्त्र अथवा ढंग पर। इसी प्रकार मामले की गम्भीरता के अनुसार अंग विच्छेदन के स्थान पर कड़ी कैद की सजा की आज्ञा दी गई।
- निस्सन्देह बैंटिंक ने सती और शिशुवध जैसी सामाजिक कुरीतियों को समाप्त करने के लिए प्रभावकारी प्रयत्न किये, देश में ठगी समाप्त कर शांति और व्यवस्था स्थापित की, भारतीयों को छोटे-छोटे पदों में अधिक भाग दिया, समाचार-पत्रों की स्वतंत्रता के विषय में श्रेष्ठ भावनाएं प्रकट कीं और भारतीय विद्या पद्धति के लिए महत्त्वपूर्ण निर्णय किये परन्तु उसने शासन को उदारवादी बनाने का अथवा भारत में राजनैतिक स्वतंत्रता को बढ़ावा देने का कोई ऐसा प्रयत्न नहीं किया जिससे मैकाले द्वारा कहे शब्दों का वह सच्चा अधिकारी बन सके। कम्पनी का शासन पूर्ववत् ही निरंकुश रहा। पी.ई. राबर्ट्स का यह कथन सत्य है कि "मैकाले का प्रसिद्ध कथन गवर्नर-जनरल की पवित्र मनोकामनाओं और उसकी नीति की अन्तिम मनोवृत्ति को दर्शाता है न कि उसकी सफलता का प्रतिनिधित्व करता है।"
- कॉर्नवालिस, मिन्टो और लॉर्ड हेस्टिंग्ज जैसे आरम्भिक गवर्नर-जनरलों ने बल-प्रयोग, मादक वस्तुओं का प्रयोग, अल्पवयस्क विधवाओं तथा गर्भवती स्त्रियों के सती होने पर रोक लगाई थी परन्तु बहुत सफल नहीं हुए।

4.3 शब्दकोश (Keywords)

- पूर्वाग्रह : दुराग्रह, कपटपूर्ण व्यवहार करना
- धर्मावलम्बियों : किसी भी धर्म विशेष को मानने वाले लोग

4.4 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. कॉर्नवालिस को लोक सेवाओं का जन्मदाता कहा जाता है, क्यों? उसके द्वारा किये गये न्यायिक एवं पुलिस सुधारों की व्याख्या कीजिए।
2. कार्नवालिस द्वारा लोक सेवा में किये गये सुधारों का वर्णन कीजिए।
3. कॉर्नवालिस के न्यायिक सुधारों की व्याख्या कीजिए।
4. कॉर्नवालिस द्वारा पुलिस व्यवस्था में क्या सुधार किये गये?

उत्तर: स्व-मूल्यांकन (Answer: Self Assessment)

(1) 1792 (2) कॉर्नवालिस संहिता (3) सिविल सेवा (4) 19 वर्ष

(5) 1793

4.5 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

नोट

पुस्तकें

1. *स्वतंत्रता संगाम*– विपिन चन्द्र, हिन्दी माध्यम कार्यान्वय, निदेशालय दिल्ली विश्वविद्यालय।
2. *आधुनिक भारत*– एस. के. पाण्डे, प्रयाग एकेडमी इलाहाबाद।
3. *स्वतंत्रता का इतिहास*– बी.एल. गोवर एवं यशपाल, एस. चन्द एण्ड कम्पनी लि., दिल्ली।

नोट

इकाई–5: विलियम बैंटिंक के सुधार (Reforms of William Bentinck)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

5.1 विलियम बैंटिंक के सुधार: वित्तीय, न्यायिक, प्रशासनिक एवं शैक्षिक सुधार (Reforms of William Bentinck: Financial, Judicial, Administrative, Educational Reforms)

5.2 सारांश (Summary)

5.3 शब्दकोश (Keywords)

5.4 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

5.5 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- विलियम बैंटिंक के वित्तीय, न्यायिक, प्रशासनिक सुधारों को समझने में, एवं व्याख्या करने में।

प्रस्तावना (Introduction)

लॉर्ड एमहर्स्ट के पश्चात् विलियम केवेंडिश बैंटिंक भारत में गवर्नर-जनरल बन कर आया और जुलाई 1828 में उसने कार्यभार संभाला। उसने अपना जीवन सेना में एक ऐनसाइन से आरम्भ किया और शीघ्र ही लेफ्टिनेंट-कर्नल तक पहुँच गया। 1796 में वह संसद का सदस्य बन गया। वह नेपोलियन के विरुद्ध उत्तर इटली में लड़ा। सैनिक अनुभव के कारण उसे 1803 में मद्रास का गवर्नर नियुक्त किया गया। 1806 में उसने सैनिकों को माथे पर जातीय चिह्न लगाने और कानों में बालियां पहनने से मना कर दिया जिससे वैलोर में सैनिक विद्रोह हो गया। विद्रोह तो दबा दिया गया परन्तु कोर्ट ऑफ डाइरेक्टर्स ने सहसा ही उसे वापिस बुला लिया।

1828 में उसे एमहर्स्ट का उत्तराधिकारी नियुक्त किया गया। बैंटिंक एक कट्टर ह्विग (उदारवादी) था, और वह उन्हीं आदर्शों से प्रेरित हुआ था जिनसे इंग्लैण्ड में सुधारों के युग का सूत्रपात हुआ। जब वह 1812 में सिसिली में अंग्रेजी सेना की कमान कर रहा था तो उसने सिसिली निवासियों को अंग्रेजी नमूने पर संवैधानिक सरकार बनाने की प्रेरणा दी थी। लॉर्ड मैकाले के प्रशंसात्मक शब्दों में–जो कलकत्ते में उसकी प्रतिमा पर खुदे थे: बैंटिंक ने प्राच्य स्वेच्छाचारिता में अंग्रेजी स्वतंत्रता की भावना को भर दिया। वह यह नहीं भूला कि सरकार का उद्देश्य शासितों का कल्याण है। उसने क्रूर रीति-रिवाजों को बन्द किया, अपमानजनक भेदभावों को समाप्त किया, जनता को अपने विचार प्रकट करने की स्वतंत्रता दी। उसकी निरन्तर भावना यह थी कि उसको सौंपे गए लोगों के नैतिक और बौद्धिक चरित्र का विकास हो।

नोट

5.1 विलियम बैंटिंक के सुधार: वित्तीय, न्यायिक, प्रशासनिक एवं शैक्षिक सुधार (Reforms of William Bentick: Financial, Judicial, Administrative, Educational Reforms)

प्रशासनिक सुधार: निस्सन्देह बैंटिंक ने सती और शिशुवध जैसी सामाजिक कुरीतियों को समाप्त करने के लिए प्रभावकारी प्रयत्न किये, देश में ठगी समाप्त कर शांति और व्यवस्था स्थापित की, भारतीयों को छोटे-छोटे पदों में अधिक भाग दिया, समाचार-पत्रों की स्वतंत्रता के विषय में श्रेष्ठ भावनाएं प्रकट कीं और भारतीय विद्या पद्धति के लिए महत्त्वपूर्ण निर्णय किये परन्तु उसने शासन को उदारवादी बनाने का अथवा भारत में राजनैतिक स्वतंत्रता को बढ़ावा देने का कोई ऐसा प्रयत्न नहीं किया जिससे मैकाले द्वारा कहे शब्दों का वह सच्चा अधिकारी बन सके। कम्पनी का शासन पूर्ववत् ही निरंकुश रहा।

नोट्स पी.ई. राबर्ट्स का यह कथन सत्य है कि "मैकाले का प्रसिद्ध कथन गवर्नर-जनरल की पवित्र मनोकामनाओं और उसकी नीति की अन्तिम मनोवृत्ति को दर्शाता है न कि उसकी सफलता का प्रतिनिधित्व करता है।"

सती तथा अन्य क्रूर प्रथाओं का बन्द करना: उससे पहले किसी अन्य गवर्नर-जनरल ने सामाजिक प्रश्नों को इतने साहसपूर्वक ढंग से निपटने का प्रयत्न नहीं किया था। इसने हिन्दू समाज में सती तथा शिशुवध जैसी क्रूर प्रथाएं बन्द करके, सुधारने का प्रयत्न किया। ठगी समाप्त करके उसने शांतिमय जीवन व्यतीत करना सम्भव बनाया।

सती शब्द का अर्थ है एक "पवित्र और सच्चरित्र नारी।" हिन्दू परम्परा में विवाह एक संस्कार माना जाता है अर्थात् आत्माओं का सम्बन्ध। स्त्री और पुरुष का बन्धन शाश्वत और जन्म-जन्मान्तर में रहने वाला है अर्थात् यह माना जाने लगा कि स्त्री को अपने पति के साथ ही मर जाना चाहिए और उसके शरीर के साथ ही अपने शरीर को भस्म कर देना चाहिए। बहुत सी प्राचीन जन-जातियों में पुरुष के साथ उसके लिए खाने का सामान, शराब का प्याला, कुत्ते और सर्वप्रिय स्त्रियां इत्यादि भी दफना दिये जाते थे। ऐसा विश्वास किया जाता है कि भारत में यह परम्परा शक लोग लाए। रामायण और महाभारत के अतिरिक्त इसका वर्णन प्राय: अन्य साहित्य में नहीं मिलता। अठारहवीं शताब्दी तक ब्राह्मणों ने यह कहना आरम्भ कर दिया था कि स्त्री के सती होने से उसके पति के कुल की सात पीढ़ियों तक लोग स्वर्ग को प्राप्त कर लेते हैं। ऊंचे कुल के ब्राह्मणों, क्षत्रियों और राजपूतों में यह परम्परा बहुत प्रचलित थी। परन्तु इसका घृणित पक्ष यह था कि विधवा को सती होने पर बाध्य किया जाता था। कई बार उसे मादक द्रव्य पिलाकर अचेत कर दिया जाता था और बलपूर्वक पति की चिता में फेंक दिया जाता था।

कुछ प्रबुद्ध भारतीय राजाओं ने इस क्रूर परम्परा को बन्द करने का प्रयत्न किया था। अकबर ने भी इसे बन्द करने का प्रयत्न किया था। मराठों ने अपने प्रदेशों में इसे बन्द कर दिया था। गोआ में पुर्तगालियों ने और फ्रांसीसियों ने चन्द्रनगर में इसको बन्द करने के लिए कुछ उपाय किये थे। लगभग 1800 ईसवी के पश्चात् कम्पनी ने भारतीय धार्मिक और सामाजिक रीति-रिवाजों में हस्तक्षेप न करने की नीति अपनाई थी। कॉर्नवालिस, मिन्टो और लॉर्ड हेस्टिंग्ज जैसे आरम्भिक गवर्नर-जनरलों ने बल-प्रयोग, मादक वस्तुओं का प्रयोग, अल्पवयस्क विधवाओं तथा गर्भवती स्त्रियों के सती होने पर रोक लगाई थी परन्तु बहुत सफल नहीं हुए।

राजा राममोहन राय जैसे प्रबुद्ध भारतीय सुधारकों ने विलियम बैंटिंक को इस रीति को अवैध घोषित करने की प्रेरणाा दी। अपनी भावज के सती होने के दु:ख ने उन्हें प्रेरणा दी। उन्होंने कई लेख और पुस्तिकाएं लिखीं। बहुत से समकालीन प्रगतिशील समाचार-पत्रों ने इनका समर्थन किया और विलियम बैंटिंक ने आवश्यक कानून बना दिया। उसने सती से सम्बन्धित प्रासंगिक तथ्यों को एकत्रित किया, सैनिक अधिकारियों के, न्यायाधीशों के, पुलिस अधीक्षकों इत्यादि के विचार लिए और इस निर्णय पर पहुंचा कि विद्रोह की कोई सम्भावना नहीं है। दिसम्बर 1829

नोट

के नियम 17 द्वारा विधवाओं को जलाना अवैध घोषित कर दिया गया। प्रेरणा देने वाले लोग मानव हत्या के अपराधी माने जाएंगे। आरम्भ में यह कानून केवल बंगाल प्रेजीडेन्सी में लागू किया गया और 1830 में यह नियम बम्बई और मद्रास प्रेजिडेंसियों में भी लागू करा दिया गया।

इस कानून के बनने पर कोई अव्यवस्था नहीं फैली। कुछ रूढ़िवादियों ने इसके विरुद्ध प्रिवी काउंसिल में अपील की। दूसरी ओर राजा राममोहन राय और देवेन्द्रनाथ टैगोर जैसे लोगों ने बैंटिंक के प्रति आभार प्रकट किया और अंग्रेज सम्राट को पत्र लिखा।

इसी प्रकार देवी-देवताओं के सम्मुख नर-बलि को बन्द किया गया और राजपूतों में लड़कियों की शिशु हत्या को भी बन्द कर दिया।

टास्क सती प्रथा से आप क्या समझते हैं?

ठगी को समाप्त करना: ठग शब्द का प्रयोग आज प्राय: उन व्यक्तियों के लिए किया जाता है जो धोखे से रुपया छीन लेते थे परन्तु उस समय में ठग, डाकुओं और हत्यारों का एक समूह था जो निर्दोष तथा अरक्षित व्यक्तियों को लूट कर निर्वाह करते थे। सम्भवत: उनके लिए अधिक उचित शब्द 'फांसीगर' था। इस शब्द की व्युत्पत्ति, रूमाल के फंदे, जिससे वे अपने शिकार का गला घोंट देते थे, से हुई है।

वास्तव में मुगल साम्राज्य के पतन के समय जब पुलिस व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो गई तो उस समय इनको अपने कार्यक्षेत्र बढ़ाने का अवसर मिल गया। मार्ग असुरक्षित हो गए। ठग लोग दलों में गठित हो गए तथा इनकी संख्या बढ़ गई। छोटी-छोटी रियासतों के पदाधिकारी इन से निपटने में असफल रहे और प्राय: इन्हीं के साथ मिल गए। ये लोग विशेषकर अवध से हैदराबाद तक, राजपूताना तथा बुन्देलखण्ड के समस्त क्षेत्र में सक्रिय थे।

ठगों में हिन्दू तथा मुसलमान दोनों धर्मों के अनुयायी सम्मिलित थे। परन्तु वास्तव में ये लोग काली, दुर्गा अथवा भवानी की पूजा करते थे तथा प्राय: अपने शिकार का सिर काट कर देवी के चरणों में बलि के रूप में चढ़ाते थे। उन्हें विश्वास था कि यह धन्धा विधि का विधान है तथा उनके शिकार की मृत्यु उनके भाग्य में उसी प्रकार लिखी होती थी।

ठगों के दल पूर्णरूपेण संगठित थे। कुछ लोग भेदिए का कार्य करते थे, कुछ गला घोंटने में निपुण थे, तथा कुछ कबरें खोद कर मृतकों को तुरन्त ठिकाने लगा देते थे। उनके अपने पारिभाषिक शब्द तथा संकेत होते थे। नौसिखियों के लिए नियमबद्ध शिक्षा होती थी तथा पर्याप्त अनुभव के पश्चात प्रवीण होने पर एक निश्चित कर्मकाण्ड द्वारा उन्हें शिक्षा दी जाती थी। ठगों का अनुशासन इतना सफल तथा कठोर था कि असफल प्रयत्न का एक भी मामला सरकार के सन्मुख कभी नहीं आया।

ठगों के दलों की सदस्य संख्या कई बार 400 तक पहुंच जाती थी तथा हत्यारे एक-एक दर्जन व्यक्तियों की एक ही समय हत्या कर देते थे। सती के प्रश्न पर तो कुछ मतभेद था भी परन्तु ठगी के विषय में समस्त जनता ने सरकार को समर्थन दिया। कर्नल स्लीमन को ठगों के विरुद्ध कार्यवाही करने के लिए नियुक्त किया गया। स्थानीय रियासतों को भी इस अभियान में सम्मिलित होने के लिए आमंत्रित किया गया। उसने 1500 के लगभग ठगों को बन्दी बनना लिया। अनेक ठगों को फांसी दे दी गई। शेष को आजीवन निर्वासित कर दिया गया। 1837 के पश्चात् संगठित रूप में ठगों का अन्त हो गया, यद्यपि इक्के-दुक्के दुश्चरित्र लोग यह कार्य करते रहे।

सरकारी सेवाओं में भेदभाव का अन्त: सरकारी सेवाओं में लॉर्ड कॉर्नवालिस के काल से चली आ रही भेदभाव की नीति को इसने समाप्त कर दिया। 1833 के चार्टर ऐक्ट की धारा 87 के अनुसार योग्यता ही सेवा का आधार स्वीकार की गई तथा कम्पनी के अधीनस्थ किसी भी भारतीय नागरिक को "उसके धर्म, जन्मस्थान, जाति अथवा

नोट

रंग" के आधार पर किसी पद से वंचित नहीं रखा जा सकेगा। विश्वास किया जाता है कि यह धारा बैंटिंक के आग्रह पर ही इस चार्टर में सम्मिलित की गई थी। यद्यपि इसका तात्कालिक प्रभाव बहुत कम हुआ परन्तु सिद्धान्त रूप में इसका बहुत महत्त्व था।

समाचारपत्रों के प्रति उदार नीति: समाचारपत्रों के प्रति बैंटिंक की नीति उदार थी। वह इसे असन्तोष से रक्षा का अभिद्वार मानता था। उसके भत्ता बन्द करने तथा उसके अन्य वित्तीय सुधारों पर समाचारपत्रों में कड़ी प्रतिक्रिया हुई। इस पर भी वह उनकी स्वतंत्रता के पक्ष में ही रहा। उसने इस विषय में एक पत्र लंदन को लिखा जिसमें उसने मद्रास में हुए सैनिक विद्रोह का उल्लेख करते हुए बताया कि कलकत्ता तथा मद्रास दोनों जगह स्थिति एक जैसी थी परन्तु मद्रास में विद्रोह इसलिए हुआ क्योंकि वहां समाचारपत्रों की स्वतंत्रता नहीं थी। उसे पूर्ण विश्वास था कि सेना की की भावनाओं सार्वजनिक रूप से व्यक्त करने से लाभ अधिक हुआ हानि कम। जनता की भावनाएं प्रकट हुईं तथा तथ्य सामने आ गए। सरकार के विचारों की पुष्टि हुई तथा कोई अप्रिय घटना नहीं हुई।

परन्तु वह वाद-विवाद तथ अन्तिम निर्णय में भेद स्वीकार करता था अत: उसने भत्ता बन्द करने के पश्चात् उसकी आलोचना करने पर रोक लगा दी। जब भारतीय तथा यूरोपीय पत्रकारों ने पूर्ण स्वतंत्रता की मांग की तो उसने अभ्यर्थियों को आश्वासन दिया कि इस विषय में सन्तोषजनक कानून बनाने का प्रस्ताव पहले ही उनके विचाराधीन है तथा आशा है कि शीघ्र ही ऐसी पद्धति बन जाएगी जिससे प्रत्येक व्यक्ति को जो निष्पक्ष सार्वजनिक विवेचना में लगा है, संरक्षण मिलेगा। इस के अतिरिक्त सरकार राजद्रोह से तथा जनता झूठे दोषों से बची रहेगी। मार्च 1835 में विलियम बैंटिंक को अस्वस्थता के कारण त्यागपत्र देना पड़ा और समाचारपत्रों से सभी नियंत्रण हटाने का श्रेय उसके उत्तराधिकारी सर चार्ल्स मैटकाफ को ही प्राप्त हुआ।

नैतिक तथा बौद्धिक विकास के लिए शैक्षणिक सुधार: सम्भवत: बैंटिंक का सबसे महत्त्वपूर्ण निर्णय शिक्षा से सम्बन्धित था। एल्फिन्स्टन ने 1825 में ही कहा था कि सामाजिक सुधार का सबसे प्रभावशाली मार्ग शिक्षा है। मैकॉले की शैक्षणिक पद्धति ने भारत के नैतिक तथा बौद्धिक जीवन को महत्त्वपूर्ण ढंग से प्रभावित किया।

बैंटिंक ने शिक्षा का उद्देश्य तथा माध्यम दोनों पर विचार किया। शिक्षा के लिए अनुदान का प्रयोग कैसे किया जाए, यह भी एक प्रश्न था। क्या यह अनुदान पूर्वी भाषाओं तथा भारतीय साहित्य के प्रसार के लिए दिया जाए अथवा पाश्चात्य विज्ञान तथा साहित्य के अंग्रेजी के माध्यम द्वारा प्रसार के लिए। सार्वजनिक शिक्षा समिति के सदस्य बराबर-बराबर संख्या में बंटे थे। प्राच्य विद्या के समर्थकों के नेता विल्सन तथा प्रिंसेप बन्धु थे। पाश्चात्य अथवा आंग्ल विद्या के समर्थकों के नेता ट्रेविलियन थे और उन्हें राजा राममोहन राय जैसे उदारवादियों का समर्थन प्राप्त था। बैंटिंक ने मैकॉले को इस समिति का अध्यक्ष नियुक्त कर दिया। उसने अपने विचारों को 2 फरवरी, 1835 के अपने सुप्रसिद्ध स्मरणपत्र में प्रतिपादित किया। उसमें उसने भारत के आयुर्वेद विज्ञान, गणित, ज्योतिष, इतिहास तथा भूगोल की खिल्ली उड़ाई और कहा कि "क्या हमें यह मिथ्या धर्म से सम्बन्धित इतिहास, गणित, ज्योतिष और आयुर्वेद पढ़ाना है?" उसका तर्क यह था कि भारतीय भाषाओं में न तो कोई साहित्यिक तत्त्व है तथा न ही वैज्ञानिक जानकारी है। एक अच्छे पाश्चात्य पुस्तकालय की एक आलमारी भारत तथा अरब के समस्त साहित्य के बराबर है। उसने अपने पिता को एक पत्र में यह भी आशा व्यक्त की थी कि "यदि हमारी शिक्षा योजनाओं का अनुसरण किया गया तो बंगाल के प्रतिष्ठित वर्ग में आने वाले 30 वर्षों में एक भी मूर्तिपूजक नहीं रहेगा।"

क्या आप जानते हैं मैकॉले की योजना यह थी कि "एक ऐसा वर्ग बनाया जाए जो रंग तथा रक्त से तो भारतीय हो, परन्तु प्रवृत्ति, विचार, नैतिकता तथा बुद्धि से अंग्रेज हो।"

मैकॉले के विचार 7 मार्च, 1835 को एक प्रस्ताव द्वारा अनुमोदित कर दिए गए जिसमें यह निश्चय हुआ कि उच्च स्तरीय प्रशासन की भाषा अंग्रेजी होगी। उस समय से अंग्रेजी भाषा, साहित्य, राजनैतिक विचार तथा प्राकृतिक विज्ञान

नोट

हमारी उच्च शिक्ष नीति का आधार रहे हैं। 1835 में ही बैंटिंक ने कलकत्ता कॉलेज की नींव रखी।

भारत को इस निर्णय से जो लाभ हुए हैं उनका वर्णन करना कठिन है। यह आज भी हमारी सरकारी भाषा है तथा इसने राष्ट्रीय एकता में भी विशेष योगदान किया है।

वित्तीय सुधार: बर्मा युद्ध ने कम्पनी का कोष रिक्त कर दिया था। 1828 में व्यय आय से अधिक था। मैटकाफ के अनुसार शांति काल में जो सरकार ऐसा करती है उसे दण्ड मिलना चाहिए। गृह सरकार ने बैंटिंक को शान्ति तथा सार्वजनिक व्यय में मितव्ययता के आदेश दिए।

बैंटिंक ने दो समितियाँ नियुक्त कीं, एक सैनिक, दूसरी असैनिक, ताकि वह बचत के सुझाव दे। कोर्ट ऑफ डाइरेक्टर्ज की विशेष आज्ञा से उसने सैनिक भत्ता कम कर दिया। अब से कलकत्ते के 400 मील की परिधि में नियुक्त होने पर भत्ता आधा कर दिया गया। इसे 1,20,000 पौण्ड वार्षिक की बचत हुई। इसी प्रकार असैनिक भत्ते भी कम कर दिए गए।

बंगाल में भूमि कर संग्रहण के लिए प्रभावशाली प्रयत्न किए गए। पश्चिमोत्तर प्रान्त (आधुनिक उत्तर प्रदेश) में राबर्ट मर्टिन्स बर्ड की देखरेख में की गई भूमि की व्यवस्था से अधिक कर उपलब्ध होने लगा। इसी प्रकार मलक्का जलडमरू उपनिवेश का व्यय भी कम किया गया। उसने यथासम्भव भारतीयों को अच्छा वेतन पाने वाले अंग्रेजों के स्थान पर नियुक्त करके भी व्यय को कम किया।

अफीम के व्यापार को नियमित तथा अनुपत्रित करके केवल बम्बई बन्दरगाह से ही निर्यात करने की आज्ञा दी गई जिससे कम्पनी को निर्यात कर का भाग भी मिलने लगा।

इन बचत योजनाओं के फलस्वरूप कम्पनी का एक करोड़ वार्षिक का घाटा 2 करोड़ वार्षिक लाभ में परिवर्तित हो गया। उसने लोहे तथा कोयले के उत्पादन को, चाय तथा कॉफी के बगीचों तथा नहरों की परियोजनाओं को भी प्रोत्साहन दिया।

न्यायिक सुधार: कॉर्नवालिस द्वारा निर्मित प्रान्तीय अपीलीय तथा सरकिट न्यायालयों में काम बढ़ जाने के कारण शेष कार्य बहुत सा एकत्रित हो गया था। यहां कार्यविधि ठीक न होने के कारण न्याय में प्राय: विलम्ब हो जाता था। बैंटिंक ने ये न्यायालय बन्द कर दिए तथा इनका कार्य दण्डनायकों तथा कलक्टरों को दे दिया जो कि राजस्व तथा भ्रमणकारी आयुक्तों के अधीन होते थे। दिल्ली तथा आधुनिक उत्तर प्रदेश के लिए पृथक सदर दीवानी तथा सदर निजामत अदालत इलाहाबाद में स्थापित कर दी गई। अब इनके निवासियों को अपील के लिए कलकत्ते नहीं जाना पड़ता था।

इस समय तक न्यायालयों की भाषा फारसी थी परन्तु अब यहां स्थानीय भाषाएं फारसी के विकल्प के रूप में प्रयोग करने की अनुमति दे दी गई तथा ऊंचे न्यायालयों में अंग्रेजी का प्रयोग किया जाने लगा। योग्यता-प्राप्त भारतीयों को मुंसिफ नियुक्त किया गया तथा ये लोग सदर अमीन के पद तक पहुंच सकते थे।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए। (Fill in the blanks)

1. सती प्रथा और शिशु वध जैसी सामाजिक कुरीतियों को ..... ने समाप्त किया।
2. दिसम्बर 1829 के ..... द्वारा विधवाओं को जलाना अवैध घोषित कर दिया गया।
3. सम्भवत: ठगों के लिए प्रयोग में आने वाला अधिक उचित शब्द ..... था।
4. ठगों के विरुद्ध कार्यवाही करने के लिए ..... को नियुक्त किया गया।
5. सरकारी सेवाओं में भेदभाव को 1833 के चार्टर ऐक्ट की धारा ..... से समाप्त किया गया।

नोट

5.2 सारांश (Summary)

- राजा राममोहन राय जैसे प्रबुद्ध भारतीय सुधारकों ने विलियम बैंटिंक को इस रीति को अवैध घोषित करने की प्रेरणाा दी।
- दिसम्बर 1829 के नियम 17 द्वारा विधवाओं को जलाना अवैध घोषित कर दिया गया। प्रेरणा देने वाले लोग मानव हत्या के अपराधी माने जाएंगे। आरम्भ में यह कानून केवल बंगाल प्रेजीडेन्सी में लागू किया गया और 1830 में यह नियम बम्बई और मद्रास प्रेजिडेंसियों में भी लागू करा दिया गया।
- ठग शब्द का प्रयोग आज प्राय: उन व्यक्तियों के लिए किया जाता है जो धोखे से रुपया छीन लेते थे परन्तु उस समय में ठग, डाकुओं और हत्यारों का एक समूह था जो निर्दोष तथा अरक्षित व्यक्तियों को लूट कर निर्वाह करते थे। सम्भवत: उनके लिए अधिक उचित शब्द 'फांसीगर' था।
- ठगों के दलों की सदस्य संख्या कई बार 400 तक पहुंच जाती थी तथा हत्यारे एक-एक दर्जन व्यक्तियों की एक ही समय हत्या कर देते थे। सती के प्रश्न पर तो कुछ मतभेद था भी परन्तु ठगी के विषय में समस्त जनता ने सरकार को समर्थन दिया। कर्नल स्लीमन को ठगों के विरुद्ध कार्यवाही करने के लिए नियुक्त किया गया।
- सरकारी सेवाओं में लॉर्ड कॉर्नवालिस के काल से चली आ रही भेदभाव की नीति को इसने समाप्त कर दिया। 1833 के चार्टर ऐक्ट की धारा 87 के अनुसार योग्यता ही सेवा का आधार स्वीकार की गई तथा कम्पनी के अधीनस्थ किसी भी भारतीय नागरिक को "उसके धर्म, जन्मस्थान, जाति अथवा रंग" के आधार पर किसी पद से वंचित नहीं रखा जा सकेगा।
- उसका तर्क यह था कि भारतीय भाषाओं में न तो कोई साहित्यिक तत्त्व है तथा न ही वैज्ञानिक जानकारी है। एक अच्छे पाश्चात्य पुस्तकालय की एक आलमारी भारत तथा अरब के समस्त साहित्य के बराबर है।

5.3 शब्दकोश (Keywords)

- मितव्ययता : कम खर्च करना।
- सती : एक "पवित्र और सच्चरित्र नारी"।

5.4 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. विलियम बैंटिंक के वित्तीय सुधारों का विवेचन कीजिए।
2. विलियम बैंटिंक के न्यायिक सुधारों की समीक्षा कीजिए।
3. विलियम बैंटिंक की प्रशासनिक एवं शैक्षिक सुधारों की व्याख्या कीजिए।

उत्तर: स्व-मूल्यांकन (Answer: Self Assessment)

1. विलियम बैंटिंक 2. नियम 17 3. फॉसीगर 4. कर्नल स्लीमैन
5. 87

5.5 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. *स्वतंत्रता संगाम*– विपिन चन्द्र, हिन्दी माध्यम कार्यान्वय, निदेशालय दिल्ली विश्वविद्यालय।
2. *आधुनिक भारत*– एस. के. पाण्डे, प्रयाग एकेडमी इलाहाबाद।
3. *स्वतंत्रता का इतिहास*– बी.एल. गोवर एवं यशपाल, एस. चन्द एण्ड कम्पनी लि., दिल्ली।

नोट

इकाई–6: लॉर्ड डलहौजी के सुधार (Reforms of Lord Dalhousie)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

6.1 लॉर्ड डलहौजी के सुधार: व्यपगत का सिद्धान्त, प्रशासनिक सुधार, विद्रोह में इसका उत्तरदायित्व (Reforms of Lord Dalhousie: Doctrine of Lapse, Administrative Reforms, his responsibility in the munity)

6.2 सारांश (Summary)

6.3 शब्दकोश (Keywords)

6.4 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

6.5 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- लॉर्ड डलहौजी के व्यपगत सिद्धांत एवं प्रशासनिक सुधारों की व्याख्या करने में,
- विद्रोह के लिए डलहौजी के उत्तरदायित्व का विश्लेषण करने में,

प्रस्तावना (Introduction)

भारतीय इतिहास में डलहौजी को महान गवर्नर-जनरलों में से एक माना जाता है। भारत में अंग्रेजी साम्राज्य के बनाने में उसका बहुत योगदान था। भारत की किसी भी रियासत के विलय करने के अवसर को उसने नहीं जाने दिया। इन्नज के अनुसार, "उसके पूर्ववर्ती गवर्नर-जनरल प्राय: किसी रियासत के विलय को यदि वे टाल सकते तो टाल जाते परन्तु डलहौजी बिलकुल विपरीत प्रकृति का व्यक्ति था अर्थात् यदि उसे कोई उचित बहाना मिलता तो वह राज्य को अंग्रेजी साम्राज्य में विलय कर लेता।" उसके विलय, शक्ति द्वारा और शांतिमय दोनों प्रकार के थे। युद्ध से उसने पंजाब और पीगू (बर्मा) जीता और शान्ति के प्रयोग से उसने व्यपगत के सिद्धान्त द्वारा अवध, सतारा, जैतपुर, झांसी और नागपुर प्राप्त कर लिये। सामाजिक और जन-साधारण के हित में किये गये सुधारों में भी उसका बहुत-सा योगदान था और हम यह कह सकते हैं कि आधुनिक भारत के भवन की आधारशिला उसी ने रखी थी।

6.1 लॉर्ड डलहौजी के सुधार: व्यपगत का सिद्धान्त, प्रशासनिक सुधार, विद्रोह में इसका उत्तरदायित्व (Reforms of Lord Dalhousie: Doctrine of Lapse, Administrative Reforms, his Responsibility in the Munity)

व्यपगत का सिद्धान्त (Doctrine of Lapse)- डलहौजी के कार्य का विवरण व्यपगत के सिद्धान्त की चर्चा के बिना अधूरा रह जाता है। इस सिद्धान्त के द्वारा कुछ महत्त्वपूर्ण रियासतें साम्राज्य में विलय कर ली गईं। डलहौजी के इस विश्वास की कि "झूठे रजवाड़ों" और "कृत्रिम मध्यस्थ शक्तियों" द्वारा प्रशासन की पुरानी पद्धति से प्रजा

नोट

की मुसीबतें बढ़ती हैं और यह सब गलत है, ध्यान में रख कर ही, उसके व्यपगत के सिद्धान्त को अधिक अच्छी प्रकार समझा जा सकता है वास्तव में उसकी स्पष्ट और सीधी स्काटिश मनोवृत्ति यह चाहती थी कि "मुगल सर्वशक्ति के मुखौटे को तोड़ दिया जाए और जो भारतीय राजे मुगलों के उत्तराधिकारी होने का दावा करते हैं उन्हें समाप्त कर दिया जाए।"

उनके अनुसार भारत में तीन प्रकार की रियासतें थीं:–

1. वे रियासतें जो कभी भी उच्चतर शक्ति के अधीन नहीं थीं और न ही कर देती थीं।
2. वे भारतीय रियासतें जो मुगल सम्राट अथवा पेशवा के अधीन थीं और उन्हें कर देती थीं परन्तु अब वे अंग्रेजों की अधीनस्थ थीं।
3. वे रियासतें जो अंग्रेजों ने सनदों द्वारा स्थापित की थीं पुनर्जीवित की गई थीं।

मुगल साम्राज्य के पतन और मराठा संघ की हार के पश्चात कम्पनी ही भारत में सर्वश्रेष्ठ बन गई थी। डलहौजी का विचार था कि "स्वस्थ और बुद्धिमत्तापूर्वक नीति के अनुसार कम्पनी का कर्त्तव्य है कि वह अधिक राजस्व को और प्रदेशों को प्राप्त करने का कोई भी अवसर, जो समय-समय पर उसे मिले, हाथ से न जाने दे, चाहे वह अवसर स्वाभाविक उत्तराधिकारी की मृत्यु से प्राप्त हो अथवा किसी अन्य प्रकार के कारणों द्वारा उत्तराधिकारियों के न होने से प्राप्त हो जहां कि हिन्दू कानून के अनुसार गोद लेने की प्रथा में सरकार की स्वीकृति आवश्यक है।"

डलहौजी यह स्वीकार करता था कि राजाओं की निजी सम्पत्ति के उत्तराधिकार के लिए उसके दत्तक पुत्र को अनुमति है परन्तु गद्दी पर अधिकार के लिए उसे अनुमति नहीं है। उसके लिए सरकार की अनुमति परमावश्यक है। सरकार दूसरी और तीसरी श्रेणी के लिए गोद लिए पुत्र को गद्दी पर बैठने की अनुमति नहीं देगी और वे रियासतें 'व्यपगत' हो जाएंगी।

उन अवस्थाओं में गोद लेने के अधिकार के स्थान पर सर्वश्रेष्ठ शक्ति द्वारा व्यपगत का अधिकार स्थापित किया गया क्योंकि जो शक्ति अधिकार देती है वह ले भी सकती है।

डलहौजी ने यह सिद्धान्त नया नहीं बनाया था। 1834 में भी कोर्ट ऑफ डाइरेक्टर्ज ने यह कहा था कि पुत्र के न होने पर दत्तक पुत्र लेने का अधिकार हमारी ओर से एक अनुग्रह है और एक विशेष अनुकम्पा तथा स्वीकृति है जो एक अपवाद के रूप में देनी चाहिए। गृह सरकार ने 1841 में ही लिखा था कि सब के लिए एक जैसी नीति अपनानी चाहिए और गवर्नर-जनरल को आज्ञा दी थी कि "कोई भी सीधा और स्पष्ट मानपूर्वक अवसर, नए करों को अथवा प्रदेशों को प्राप्त करने का नहीं खोना चाहिए और इसके अतिरिक्त शेष सभी स्थाई अधिकारों का हमें असन्दिग्ध रूप से पालन करना चाहिए।" इन्हीं आज्ञाओं का पालन करते हुए 1839 में माण्डवी राज्य; 1840 में कोलाबा और जालौर राज्य और 1842 में सूरत की नवाबी समाप्त की गई थी।

डलहौजी का ध्येय था कि इस आज्ञा का अक्षरश: पालन किया जाए और कम्पनी को प्रदेशों को प्राप्त करने का कोई अवसर नहीं खोना चाहिए। इन्नज के अनुसार, "उसके पूर्वाधिकारी यथासम्भव विलय नहीं करते थे और डलहौजी की यह नीति थी कि यथासम्भव विलय का कोई अवसर खोना नहीं चाहिए।" परन्तु हम यह कह सकते हैं कि इस अत्यधिक उत्साही गवर्नर-जनरल ने कुछ ऐसी रियासतों को भी जो 'संरक्षित मित्र' थीं, एक आश्रित राज्य अथवा अधीनस्थ राज्य मान लिया और इसीलिए राजपूत राज्य करौली के मामले में डलहौजी के निर्णय को डाइरेक्टरों ने अस्वीकार कर दिया।

जो राज्य व्यपगत के सिद्धान्त के अनुसार विलय किए गए वे थे सतारा (1848), जैतपुर ओर सम्भलपुर (1849), बघाट (1850), ऊदेपुर (1852), झांसी (1853) और नागपुर (1854)।

नोट

नोट्स अपनी नीति का 1854 में पुनरावलोकन करते हुए डलहौजी ने कहा था, "प्रथम श्रेणी की रियासतों के गोद लेने के मामलों में हमें हस्तक्षेप का अधिकार नहीं है। दूसरी श्रेणी के गोद लेने के लिए रियासतों को हमारी अनुमति परमावश्यक है। हम मनाही कर सकते हैं। परन्तु प्राय: हम अनुमति दे देंगे। परन्तु तीसरी श्रेणी की रियासतों में मेरा विश्वास है कि उत्तराधिकार में गोद लेने की आज्ञा दी ही नहीं जानी चाहिए।"

सातारा- यह इस सिद्धान्त के अनुसार विलय किया गया प्रथम राज्य था। राजा अप्पा साहिब के कोई पुत्र नहीं था। उन्होंने मृत्यु के कुछ दिन पहले कम्पनी की अनुमति के बिना एक 'दत्तक पुत्र' बना लिया। लॉर्ड हेस्टिंग्ज ने 1818 में मराठा शक्ति को समाप्त कर के शिवाजी के वंशज प्रतापसिंह को सतारा का राज्य "उसको, उसके बेटों और उत्तराधिकारियों को दे दिया था।" 1839 में राजा प्रतापसिंह को गद्दी से उतार कर राज्य उसके भाई अप्पा साहिब को दे दिया गया था। बम्बई परिषद् के प्रमुख सर जार्ज क्लार्क ने इस विलय के विरुद्ध परामर्श दिया था। डलहौजी ने इसे "आश्रित राज्य" घोषित करके इसका विलय कर लिया। डाइरेक्टरों ने इसका समर्थन किया और कहा कि "हम पूर्णतया सहमत हैं कि भारतीय सामान्य कानून तथा प्रथा के अनुसार सतारा जैसे 'अधीनस्थ राज्यों' को कम्पनी की स्वीकृति के बिना दत्तक पुत्र लेने का अधिकार नहीं है।" कामन्स सभा में जोसेफ ह्यूम ने इस विलय की "जिसकी लाठी, उसकी भैंस" से तुलना की थी परन्तु सभा ने अनुमति दे दी थी।

सम्भलपुर- राज्य के राजा नारायण सिंह के पुत्र नहीं था और वह कोई दत्तक पुत्र भी नहीं बना सके। राज्य 1849 में विलय कर लिया गया।

झांसी: झांसी का राजा पेशवा के अधीन होता था। बाजीराव द्वितीय की हार के पश्चात् लॉर्ड हेस्टिंग्ज ने राव रामचन्द्र से एक सन्धि की जिसके अनुसार "उसे, उसके पुत्र और उत्तराधिकारियों" को यह राज्य "अधीनस्थ सहयोग" की शर्तों पर दे दिया था। राजा की 1835 में मृत्यु हो गई परन्तु कम्पनी ने राजा के वंशज गंगाधर राव को उत्तराधिकारी स्वीकार कर लिया। नवम्बर 1853 में यह राजा भी पुत्र के बिना ही स्वर्ग सिधार गए। राज्य को कम्पनी ने विलय कर लिया। दत्तक पुत्र का अधिकार स्वीकार नहीं किया गया।

नागपुर- इस मराठा राज्य का क्षेत्रफल 80,000 वर्ग मील था। 1817 में लॉर्ड हेस्टिंग्ज ने भोंसले परिवार से एक शिशु राघूजी तृतीय को उत्तराधिकारी स्वीकार कर लिया था। सर रिचर्ड जैनकिन्स ने 1830 तक उसके संरक्षक के रूप में कार्य किया और वयस्कता को प्राप्त होने पर शासन उसको सौंप दिया। 1853 में राजा का बिना दत्तक पुत्र गोद लिए ही स्वर्गवास हो गया। परन्तु उसने रानी को पुत्र गोद लेने को कह दिया था। जब रानी ने पुत्र गोद लेने का प्रस्ताव किया तो कम्पनी ने स्वीकार नहीं किया और राज्य विलय कर लिया गया। सबसे महत्त्पूर्ण बात यह थी कि राजा की निजी सम्पत्ति भी कम्पनी ने यह कह कर ले ली कि यह तो राज्य की आय से ही मोल ली गई थी। भोंसले के महल को एक प्रकार से लूटा गया। रानियों के आभूषण और राजप्रसाद का सामान बेचकर लगभग 2 लाख पौण्ड प्राप्त किए गए।

व्यपगत के सिद्धान्त की समीक्षा- जब से कम्पनी ने भारत में राज्य विस्तार करना आरम्भ किया था तब से कम्पनी ने बार-बार भारतीयों के अधिकारों और विशेषाधिकारों की ही नहीं वरन् उनके जातीय कानून और धार्मिक तथा सामाजिक प्रथाओं तथा पूर्वाग्रहों इत्यादि की रक्षा करने और उनका सम्मान करने का आश्वासन दिया था। हिन्दुओं में पुत्र गोद लेने की प्रथा बहुत प्राचीन थी और वह बड़ी धूमधाम से और धार्मिक कर्मकाण्ड के अनुसार ही मनाई जाती थी। मुगलों और पेशवाओं के अधीन उत्तराधिकारी को स्वीकृति के लिए केवल नजराना ही देना होता था। लॉर्ड डलहौजी ने एक मृतप्राय रिवाज को पुनर्जीवित किया और उसका साम्राज्यवादी उद्देश्यों के लिए प्रयोग किया। "व्यपगत का सिद्धान्त" चार्ल्स प्रथम के व्यक्तिगत शासन के दिनों में सामन्तशाही के करों को पुन: लागू करने के समान न्याय के नाम पर लूटमार का एक साधन मात्र ही था।

नोट

आश्रित रियासतों और संरक्षित मित्र रियासतों का भेद एक काल्पनिक था और केवल बाल की खाल उतारने वाली बात थी। झगड़े वाले मामलों में कम्पनी अथवा कोर्ट ऑफ डाइरेक्टर्ज द्वारा अर्थ ही निर्णायक माने जाते थे। कोई उच्चतम न्यायालय तो था जो इन प्रश्नों पर निष्पक्ष निर्णय दे सके।

लॉर्ड डलहौजी ने प्राय: परम्पराओं को तोड़ा और बहुत से अवसरों पर साम्राज्यवादी भावना को ही उसने अपना पथप्रदर्शक माना। ली वार्नर जैसे व्यक्ति भी यह स्वीकार करते हैं कि सतारा और नागपुर के मामले में वह साम्राज्यवादी भावनाओं द्वारा ही प्रेरित हुआ, क्योंकि ये दोनों रियासतें बम्बई-मद्रास और मद्रास-कलकत्ता के बीच संचार व्यवस्था में रुकावट डालती थीं।

कोर्ट ऑफ डाइरेक्टर्ज ने करौली के विलय की आज्ञा नहीं दी और इसी प्रकार लॉर्ड कैनिंग ने बघाट और ऊदेपुर राज्य वापिस कर दिए थे।

1856 में अवध का कुशासन के दोष में विलय कर लिया गया।

डलहौजी के विलय से लगभग 3 ऋ गुणा प्रदेश कम्पनी के साम्राज्य में सम्मिलित हुए। उत्तर-पश्चिमी प्रदेश में अंग्रेज दर्रों के संरक्षक बन गए। उत्तर में अंग्रेजी साम्राज्य की सीमाएं तिब्बत तथा चीनी साम्राज्य को छूने लगीं तथा दक्षिण-पूर्व में अंग्रेजों ने बंगाल की खाड़ी के तटों पर अपना अधिकार बना लिया। भारतीय उपमहाद्वीप में अंग्रेजी साम्राज्य प्राकृतिक सीमाओं को छूने लगा तथा समुद्र तथा पर्वत उसकी सीमाएं बन गईं।

डलहौजी विलयवादी था। उसने व्यपगत का सिद्धान्त आक्रामक उद्देश्यों के लिए किया। यदि अवध जैसे प्रदेशों में व्यपगत का सिद्धान्त लागू नहीं हो सका तो उसने 'अच्छे प्रशासन' की आड़ लेकर प्रदेश का विलय कर लिया। देशी राजाओं का विचार था कि उनके प्रदेश व्यपगत के सिद्धान्त के कारण विलय किए गए अपतु 'नैतिक व्यपगत' के कारण। पी.ई. राबर्ट्स के कथनानुसार, "कारण कुछ भी रहे हों स्थानीय राजे तक विश्वास करने लगे थे कि सभी राज्यों का अस्तित्व खतरे में है" और उनका विलय हो जाना केवल समय का ही प्रश्न है। डलहौली के कार्यों से उसकी नीति का आभास ही नहीं मिला अपितु उन्होंने यह सिद्ध भी कर दिया था। व्यपगत का सिद्धान्त डलहौजी के साम्राज्यवाद को और 'जिसकी लाठी, उसकी भैंस' के कथन को सिद्ध करता था।

उपाधियों और पेन्शनों को बन्द करना- 1801 से ही कर्नाटक का नवाब नाममात्र सा व्यक्ति था। 1853 में कर्नाटक के नवाब की मृत्यु पर मद्रास सरकार के सुझाव से सहमत होकर उसके उत्तराधिकारी को मान्यता नहीं दी गई और इस प्रकार इस प्रपंच को समाप्त कर दिया गया परन्तु 1867 में गवर्नर-जनरल का यह निर्णय कुछ सीमा तक बदल दिया गया। 1855 में तंजोर के राजा की मृत्यु हो गई। उसके पश्चात् उसकी सोलह विधवाएं और दो बेटियां रह गई थीं। इस उपाधि को भी समाप्त कर दिया गया। इसी प्रकार डलहौजी की यह योजना थी कि मुगल सम्राट की उपाधि भी समाप्त कर दी जाए परन्तु डाइरेक्टर्ज ने इस सुझाव को स्वीकार नहीं किया। पेशवा बाजीराव द्वितीय को 8 लाख ₹ वार्षिक की पेन्शन मिलती थी। 1853 में उसकी मृत्यु पर यह पेन्शन उसके दत्तक पुत्र नाना साहिब को नहीं दी गई क्योंकि यह पेन्शन निजी रूप से बाजीराव को दी गई थी न कि पेशवा को।

बराड का विलय, 1853- हैदराबाद के निजाम की ओर बहुत सी धनराशि जो उसे सहायक सेना के भरण-पोषण के लिए देनी थी, शेष थी। उसे 1853 में उस धन के बदले बराड़ प्रदेश देने पर बाध्य किया गया। यह अनुमान लगाया गया है कि वह समस्त उर्वर प्रदेश जो विलय किया गया, लगभग 50 लाख ₹ वार्षिक कर देता था।

अवध का विलय, 1856- यद्यपि बक्सर के युद्ध (1764) में अवध का नवाब पराजित हो गया और अंग्रेज चाहते तो अवध को उसी समय अपने अधीन कर सकते थे परन्तु उन्होंने यही उचित समझा कि अवध का नवाब केवल कारा और इलाहाबाद के जिले अंग्रेजों को दे दे। 1801 में वैलेजली ने नवाब को एक अन्य सन्धि पर हस्ताक्षर करने पर बाध्य किया और लोअर दोआब और रुहेलखण्ड के जिले ले लिए। इसके पश्चात् अवध के नवाब अपने देश की आन्तरिक शान्ति और बाहरी सुरक्षा के लिए कम्पनी पर दिन प्रतिदिन अधिक से अधिक निर्भर करने लगे। देश के कल्याण की ओर से आंखें मूंद लीं और प्रजा कम्पनी और नवाब के कुप्रशासन और वित्तीय बोझ के नीचे पिसने लगी।

नोट

विलियम बैंटिंक ने नवाब को कड़ी चेतावती दी। एक समय कम्पनी के डाइरेक्टरों ने बैंटिंक को यह अनुमति दे दी कि वह अवध का विलय कर ले परन्तु फिर भी बैंटिंक ने ऐसा नहीं किया।

उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक अंग्रेज अवध के विलय के पक्ष में हो गए थे। वास्तव में मध्य विक्टोरिया युग के साम्राज्यवादी यह विश्वास करने लग गए थे कि अंग्रेज ही अच्छा प्रशासन देने के योग्य हैं, भारतीयों का उनके शासन के अधीन रहना तथा अवध का विलय परम आवश्यक है। लंदन टाइम्ज ने इसी प्रकार की भावना के अन्तर्गत कहा था कि "भारतीय जाति बहुत तुच्छ सी जाति है तथा पृथ्वी के दूसरे छोर से एक महान जाति उन पर राज्य करने के लिए पहुंच गई है।" इसलिए इस विलय के कार्य में डलहौजी को न तो किसी सन्धि का ध्यान था और न ही वह भावुकता से प्रेरित हुआ।

अवध के विलय का मुख्य कारण केवल वहां का कुशासन ही था। इस बात पर ध्यान नहीं दिया गया कि इस कुशासन का मुख्य कारण अंग्रेज स्वयं ही थे। समकालीन अनेक लेखकों ने बार-बार यह कहा है कि उस देश में अंग्रेज हस्तक्षेप ने वहां की राजव्यवस्था को ऐसा बना दिया है कि यह अंग्रेजों के नाम पर बड़ा भारी कलंक है। कुशाासन विलय का एक सुगम सा कारण था। प्रोफेसर के.के. दत्ता के कथनानुसार, "भारत में शीघ्रता से फैलते हुए अंग्रेजी साम्राज्य के मध्य में अवध जैसे कुप्रशासन वाले राज्य का होना, अंग्रेजी साम्राज्य के निर्माताओं के लिए एक बड़ा भारी और सर्वथा अवांछनीय तथ्य था और जितना शीघ्र इसे समाप्त किया जा सके उतना ही अच्छा था।"

डलहौजी ने इस प्रदेश के विलय की योजना बहुत दक्षतापूर्ण बनाई। उसने अपने अधिकारी वहां के शासन की जांच करने के लिए भेजे जिन्होंने एक विस्तृत विवरण वहां के कुशासन के विषय में उसको भेजा, जिसे लंदन भेजकर उसने अवध के विलय के गृह सरकार की अनुमति प्राप्त कर ली। गृह सरकार और ब्रिटिश जनमत तैयार करने के पश्चात् डलहौजी ने बहुत तत्परता से कार्य किया।

1848 में कर्नल सलीमन को लखनऊ में रेजीडेन्ट के रूप में भेजा गया। सलीमन ने कुशासन के विस्तृत विवरण भेजे। परन्तु सलीमन विलय के पक्ष में नहीं था। वह चाहता था कि प्रशासन का अधिक से अधिक कार्य अंग्रेजों द्वारा ही चलाया जाए। उसका विचार था, "यदि हम अवध का विलय कर लेते हैं तो हमारे नाम पर कलंक लग जाएगा और हमारा नाम हमें एक दर्जन अवधों से भी अधिक प्रिय है। हम एक देव के समान हैं और यदि हम अपनी शक्ति का देव के रूप में प्रयोग करेंगे तो सारे भारत की दृष्टि में गिर जाएंगे।" 1854 में सलीमन के स्थान पर आउट्रम आया। उसने भी यही कहा कि अवध का प्रशासन बहुत दूषित है और लोगों की अवस्था बहुत शोचनीय है।

गवर्नर-जनरल की परिषद् में तीन तत्वों पर बहस हुई:

1. नवाब को गद्दी छोड़ने पर बाध्य किया जाए और अवध का विलय किया जाए।
2. नवाब नाममात्र को रहे परन्तु समस्त शासन अंग्रेजों के हाथ में हो।
3. लखनऊ का रेजीडेन्ट कुछ सीमित काल के लिए कार्यभार संभाल ले।

परिषद् की साधारण राय तो विलय के ही पक्ष में थी। सारे कार्य को डलहौजी ने ऐसे आयोजित किया कि कोर्ट ऑफ डाइरेक्टर्ज ने विलय के पक्ष में अपना निर्णय दे दिया और उसे कहा कि अपना कार्य भार छोड़ने से पहले वह इस कार्य को पूर्ण कर दे। परन्तु डलहौजी ने नवाब वाजिद अली शाह को सिंहासन छोड़ने को कहा। जब उसने इन्कार किया तो 13 फरवरी, 1856 की घोषणा के अनुसार रियासत का विलय कर लिया गया। डलहौजी ने इसको इन शब्दों में उचित ठहराया, "यदि अंग्रेज सरकार इस प्रकार के कुशासन को जिसमें करोड़ों लोग पिस रहे हैं अधिक समय तक चलाने में सहायता देती है तो मानव और ईश्वर दोनों की दृष्टि में दोषी होगी।" कम्पनी के कुछ रुढ़िवादी डाइरेक्टर इस नीति के पक्ष में नहीं थे। ईस्ट इण्डिया कम्पनी की साधारण सभा में इस कार्य को अनुचित ठहराने के लिए एक निन्दा प्रस्ताव भी रखा गया कि यह विलय अंग्रेजों के भारतीय राज्य के इतिहास में सबसे निन्दनीय कार्य है। कम्पनी के एक डाइरेक्टर जान शेपर्ड ने टिप्पणी की कि "यह विलय भारतीयों की स्वतंत्रताओं को बढ़ावा देने में उतना ही सफल होगा जितना उनके अधिकारों और हितों की रक्षा करने में।" भारतीयों के अनुसार अवध का विलय एक "वास्तविक विश्वास की महान अवहेलना है," जिसकी अन्तर्राष्ट्रीय कानून आज्ञा नहीं देता। कुछ लेखकों ने इसे एक "महान डकैती" बतलाया।

नोट

टास्क व्यपगत के सिद्धांत से आप क्या समझते हैं?

प्रशासनिक सुधार- लॉर्ड डलहौजी ने लगभग प्रशासन के सभी विभागों में सुधार किए। इस महान साम्राज्यवादी ने कम्पनी की उपलब्धियों को संगठित किया। गवर्नर-जनरल के कार्यभार को कम करने के उद्देश्य से बंगाल में एक लेफ्टिनेन्ट-गवर्नर नियुक्त किया गया। जो नवीन प्रदेश कम्पनी के अधीन आए थे उनके लिए सीधा प्रशासन आरम्भ किया गया। इसको "नॉन रेग्यूलेशन पद्धति" कहा जाता है। इसके अनुसार प्रत्येक नए प्रदेश के लिए एक कमिश्नर नियुक्त किया जाता था जो सीधे गवर्नर-जनरल के प्रति उत्तरदायी था।

सैनिक सुधार-डलहौजी के साम्राज्य-विस्तार के कारण अंग्रेजी राज्य की सीमाएँ पूर्व में बंगाल से पश्चिम में सिन्ध और पंजाब तक फैल गईं। एशिया के साम्राज्य का स्वप्न पूरा हो गया था। इतने विस्तृत प्रदेश पर अधिकार के कारण यह आवश्यक था कि सेनाओं का अधिक अच्छा वितरण किया जाए। बंगाल-तोपखाने के मुख्य कार्यालय कलकत्ता के स्थान पर मेरठ में ले जाए गए और सेना के मुख्य कार्यालय शिमला में बना दिए गए और यह कार्य 1865 तक पूरा हो गया। शिमले का महत्त्व बढ़ गया और वर्ष के आधे से अधिक भाग के लिए यह स्थान सरकार का मुख्य कार्यालय बन गया।

डलहौजी ने यह अनुभव किया कि भारतीय सेना में भारतीयों की संख्या जो उस समय (1856 में) 2,38,000 थी, 45,000 अंग्रेजों की अपेक्षा कुछ अधिक थी। अतएव उसने यह योजना बनाई कि यह संख्या कम की जाए। उसने इस ओर ध्यान दिलाया कि अंग्रेजों की संख्या बढ़ाई जाए ताकि अंग्रेज और भारतीय सैनिकों का अनुपात बहुत अधिक न रहे। उसके अनुसार भारत में अंग्रेज सेना "हमारी शक्ति का आवश्यक अंग है।" सेना में तीन रेजिमेंटें और बनाई गईं। उसने दो अंग्रेजी रेजिमेंटों को चीन और फारस में भेजने का विरोध किया।

पंजाब में एक नई अनियमित सेना का गठन किया गया जो सीधे पंजाब प्रशासन के अधीन थी और जिसकी परिपाटी और अनुशासन भिन्न था। गोरखा रेजिमेंटों की संख्या बढ़ाई गई और उनके सैनिकों की संख्या भी बढ़ाई गई। इन नई रेजिमेंटों ने 1857-58 के विद्रोह में बहुत महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई।

शिक्षा सम्बन्धी सुधार-लॉर्ड डलहौजी के कार्य काल में शिक्षा में बहुत से महत्त्वपूर्ण सुधार किए गए। 1853 में टामसन की व्यवस्था के अनुसार समस्त उत्तर पश्चिमी प्रांत (आधुनिक उत्तर प्रदेश), लोअर बंगाल और पंजाब में स्थानीय परिस्थितियों के अनुसार भारतीय भाषाओं में शिक्षा का प्रस्ताव स्वीकार किया गया। ऐसी ही आज्ञाएँ मद्रास तथा बम्बई में भी जारी की गईं।

जुलाई 1854 में सर चार्ल्स वुड जो बोर्ड ऑफ कंट्रोल के प्रधान थे, ने भारतीय सरकार को एक नई योजना भेजी जिसे वुड का निर्देश-पत्र कहा जाता है। इसके अनुसार "प्राथमिक शिक्षा से लेकर विश्वविद्यालय स्तर की शिक्षा के लिए एक व्यापक योजना" बनाई गई। यह योजना बहुत विस्तृत और व्यापक थी और "इसमें कुछ अभीष्ट शेष नहीं रह गया था।" आधुनिक शिक्षा प्रणाली की यह आधारशिला है। इसके अनुसार जिलों में ऐंग्लो-वर्नेक्यूलर स्कूलों, प्रमुख नगरों में सरकारी कालिजों, और तीनों प्रेजिडेन्सी नगरों में एक-एक विश्वविद्यालय की स्थापना का प्रस्ताव था। "अन्तः प्रवेश का सिद्धान्त" को त्याग दिया गया था। विद्या के प्रसार में स्वयंसेवी संस्थाओं को अनुदान सहायता दी जानी थी। इनके लिए कुछ नियम बनाए गए और सरकारी निरीक्षण के अधीन ही यह अनुदान राशि दी जाती थी। प्रत्येक प्रांत में एक सार्वजनिक शिक्षा निदेशक नियुक्त होता था जिसकी सहायता के लिए निरीक्षक होते थे और इनका कार्य प्राथमिक स्तर से विश्वविद्यालय स्तर तक शिक्षा प्रणाली का गठन और नियंत्रण करना था।

लंदन विश्वविद्यालय के आदर्श पर परीक्षा लेने वाले विश्वविद्यालय तीन प्रेजिडेन्सी नगरों, कलकत्ता, मद्रास और बम्बई में स्थापित किए जाने थे। इन विश्वविद्यालयों को परीक्षा लेकर प्रमाण-पत्र देने का अधिकार दिया गया था। कानून और सिविल इंजीनियरिंग की शिक्षा की भी व्यवस्था की गई। स्थानीय भाषाओं और अंग्रेजी के पढ़ाने को प्रोत्साहन देना था परन्तु यह अनुभव किया गया कि पाश्चात्य दर्शन और विज्ञान के अध्ययन के लिए अंग्रेजी ही सबसे अच्छा माध्यम है।

नोट

रेलवे विभाग-इंग्लैण्ड में रेलवे लाइनें 1825 के पश्चात् बिछाई जा रही थी। डलहौजी के काल में भारत में 1853 में प्रथम रेलवे लाइन बम्बई से थाना तक बिछाई गई और शीघ्र ही समस्त भारतीय साम्राज्य रेलवे लाइनों के सूत्र में बांध कर एक कर दिया गया। भारतीय सुरक्षा के लिए और आंतरिक संचार व्यवस्था को बढ़ाने के लिए सामरिक महत्त्व की लाइनें बनाई गईं। इस परियोजना की विस्तृत रूपरेखा लॉर्ड डालहौनी द्वारा अपने प्रसिद्ध 'रेलवे पत्र' में दी गई है और भारत में रेलवे के भावी प्रसार का यही आधार बना रहा। अगले ही वर्ष कलकत्ता में रानीगंज कोयला क्षेत्र तक एक लाइन बिछा दी गई। इसी प्रकार मद्रास प्रेजिडेंसी में भी कुछ लाइनें बिछाई गईं। 1856 तक कई लाइनों का सर्वेक्षण हो चुका था और कुछ बनाई जा रही थीं।

ये रेलवे लाइनें भारतीय सरकार के कोष से नहीं बनाई जा रही थीं अपितु निजी प्रयत्नों के अधीन बनाई जा रही थीं। इससे सरकारी कोष पर बहुत भार नहीं पड़ा और अंग्रेजी जनता को भारत में पूंजी लगाने का अवसर मिला। कालान्तर में भारत में रेलवे लाइनें निजी कम्पनियों द्वारा 'सरकारी प्रत्याभूति' के अधीन निश्चित योजनाओं के अनुसार, जिन्हें लॉर्ड डलहौजी ने निदेशित किया था, ही बनाई गईं।

इस रेलवे प्रणाली ने व्यापार को लाभ पहुंचाया, दूरी समाप्त हुई, तथा भारत देश को एकता प्रदान हुई। 1865 में भी सर एडविन आर्नल्ड ने लिखा था, "रेलवे भारत में वह कार्य करने में समर्थ होगी जो बड़े-बड़े वंशों ने नहीं किया, न ही टीपू अपने अत्याचार द्वारा करने में सफल हुआ–यह भारत को एक राष्ट्र बना देगी।"

विद्युत तार (Electric Telegraph)-डलहौजी को भारत में विद्युत तार का प्रारम्भकर्त्ता कहा जा सकता है। 1852 में ओ,शैंघनेसी को विद्युत तार विभाग का अधीक्षक नियुक्त किया गया। यद्यपि बाधाएं बहुत थीं फिर भी उसके अथक परिश्रम के कारण लगभग 4000 मील लम्बी तार लाइनें बिछा दी गईं। जिससे कलकत्ता से पेशावर, बम्बई और मद्रास तक देश के भिन्न-भिन्न भागों को तार द्वारा मिला दिया गया। बर्मा में भी रंगून से माण्डले तक यह लाइन बिछा दी गई। 1857-58 के विद्रोह के दिनों में इस विभाग ने अंग्रेजों की बहुत सहायता की। एक विद्रोही ने मरते हुए कहा था कि "इस तार ने हमारा गला घोंट दिया है।"

डाक सुधार-एक विशेषज्ञ आयोग की अन्वेषणाओं पर आधारित 1854 में एक नया पोस्ट ऑफिस ऐक्ट पारित किया गया। इसके अधीन तीनों प्रेजिडेन्सियों में स्थित डाकघरों की देखरेख के लिए एक महानिदेशक नियुक्त किया गया। सारे देश में दूरी से असम्बन्धित कहीं भी 2 पैसे की दर पर पत्र भेजा जा सकता था, और देश में पहली बार डाक टिकटों का प्रचलन आरम्भ हुआ। इन सुधारों के कारण डाक विभाग जो कि अब तक सरकार पर बोझ बना हुआ था, अब आय का एक स्रोत बन गया। इस प्रणाली के सुधार के फलस्वरूप भारत में सामाजिक, प्रशासनिक, वित्तीय और शिक्षा के क्षेत्रों में जो विकास हुआ है व सब डलहौजी की सृजनात्मक प्रतिभा का द्योतक है और भारत की सारभूत उन्नति के लिए उसकी इच्छा को प्रदर्शित करता है।

क्या आप जानते हैं आधुनिक काल की डाक व्यवस्था का आधार भी डलहौजी के काल में ही निश्चित किया गया था।

सार्वजनिक निर्माण विभाग-डलहौजी से पूर्व सार्वजनिक निर्माण का कार्य एक सैनिक बोर्ड पर था। पहली बार एक अलग सार्वजनिक निर्माण विभाग बनाया गया और सार्वजनिक उपयोग के कार्य के लिए बहुत सा धन व्यय किया जाने लगा। सिंचाई कार्यों की विस्तृत योजना बनाई गई। गंग-नहर का कार्य पूरा किया गया और 8 अप्रैल, 1854 को वह खोल दी गई। गंग-नहर के निर्माण को 'सभ्य जातियों के प्रयत्नों में अद्वितीय और महत्त्वपूर्ण कार्य माना गया।' पंजाब में बारा दोआब नहर का निर्माण कार्य आरम्भ किया गया। बहुत से पुलों का निर्माण किया गया और ग्राण्ड ट्रंक रोड के निर्माण का कार्य भी बड़ी तीव्र गति से और उत्साहपूर्वक आरम्भ कर दिया गया।

वाणिज्य सम्बन्धी सुधार-भारत के बन्दरगाहों को अंतर्राष्ट्रीय वाणिज्य के लिए खोल दिया गया। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक अंग्रेज लोग 'मुक्त व्यापार' की प्रणाली के प्रशंसक बन चुके थे। कराची, बम्बई और कलकत्ता की बन्दरगाहों का विकास किया गया और बहुत से प्रकाश-स्तम्भों का निर्माण किया गया।

नोट

भारतीय कृषि की ओर भी विशेष ध्यान दिया गया। नहरों का बनना, रेलवे का विकास और अन्य भिन्न-भिन्न सार्वजनिक हित के कार्यों से भारतीय वाणिज्य में एक नवीन युग का सूत्रपात हुआ। लंकाशायर और मानचेस्टर के कारखाने के लिए भारतीय कच्चा माल विशेषकर कपास, पटुआ और चाय इत्यादि बड़ी मात्रा में भेजा जाने लगा और उसके बदले वहां से सस्ता निर्मित माल आकर भारत में अधिक बिकने लगा।

1857 के विद्रोह के लिए डलहौजी का उत्तरदायित्व-भारत में कुछ समय से एक उफान एकत्रित हो रहा था। डलहौजी के जाने के एक वर्ष के भीतर ही वह फूट पड़ा। डलहौजी की नीति चाहे कितनी भी न्यायपूर्ण और उचित क्यों न थी, उसका प्रभाव बहुत अच्छा नहीं था। भारतीय राजाओं में असंतोष फैल गया। जैसा कि वी.ए. स्मिथ ने कहा है कि "भारतीय राजा 'अधीनस्थ' और 'आश्रित' रियासतों के सूक्ष्म भेद को नहीं समझ सकते थे। उन्होंने केवल यह देखा कि एक राज्य के पश्चात् दूसरा राज्य, साम्राज्य में किसी-न-किसी कारण से विलय होता जा रहा था और अब कोई भी राज्य सुरक्षित नहीं रहा था...गति बहुत तीव्र थी और इसके संचित प्रभाव ने अत्यन्त अस्थिरता की स्थिति उत्पन्न कर दी।" व्यपगत के सिद्धान्त ने भारतीय लोगों के पारम्परिक रीति रिवाजों की अवहेलना की और प्राचीन और अप्रचलित सिद्धान्तों के नए अर्थ निकाले गए।

स्मिथ महोदय लॉर्ड डलहौजी को अदूरदर्शिता के लिए दोषी मानते हैं। वह लिखते हैं, कि "बहिर्गामी गवर्नर-जनरल ने उस तूफान के लिए जो अगले वर्ष मई मास में फूट पड़ने वाला था, कोई भी व्यवस्था नहीं की थी और न ही उसे दमन करने के लिए कोई साधन जुटाए थे। वह अपने पूर्वजों के साथ उस निन्दा का साझीदार है जो कि उन्होंने ऐसी भयानक अवस्था को बने रहने की अनुमति दी। उसने दिल्ली में इतने बड़े गोले बारूद के भण्डार की रक्षा की उचित व्यवस्था नहीं की जो कि भारतीय सेना के हाथ में रह गया अथवा इलाहाबाद के सामरिक महत्त्वपूर्ण स्थान को भी प्राप्त करने का कोई प्रयत्न नहीं किया। भारत में जो भी सैनिक तैयारी की गई वह केवल पंजाब में ही थी। शेष सब स्थानों पर सेना का वितरण अनियमित रूप से चलता रहा और किसी भी सैनिक अथवा असैनिक पदाधिकारी ने स्पष्ट भयों की गरिमा को नहीं समझा।" दूसरी ओर टी.आर. होम्ज का विश्वास है कि "अवध में विद्रोह फूटा, इसलिए नहीं कि उस प्रदेश का विलय किया गया अपितु इसलिये कि तालुकदारों के साथ बहुत कठोर व्यवहार किया गया।" इसी प्रकार वह डलहौजी को सैनिक कमजोरी के लिए उत्तरदायी नहीं मानता अपितु समकालीन कमाण्डर-इन-चीफ को सेना में अनुशासनहीनता को समाप्त करने और दिल्ली और इलाहाबाद की रक्षा की उपेक्षा करने के लिए उत्तरदायी मानता है। इसी प्रकार वह समझता है कि झांसी में हुए अत्याचारों के लिए हेवेलॉक के रेजिडेंसी की रक्षा के लिए प्रारम्भिक प्रयत्नों का विफल होना बहुत बड़ा कारण था। उसके अनुसार, "यह केवल डलहौजी के निर्माण कार्य (सड़कें और तार) ही थे अथवा जो उसने पंजाब में प्रशासन स्थापित किया था, उन्हीं के कारण अन्त में विद्रोह शान्त हो सका।"

परन्तु यह स्वीकार करना पड़ेगा कि डलहौजी के प्रदेशों के विलय करने से अवस्था बिगड़ गई। उसकी गति बहुत तेज थी और वह सीमा से कुछ अधिक आगे चला गया। उसकी विवेक और दयाहीन नीति के कारण ही झांसी की रानी, नाना साहिब और तांत्या टोपे जैसे नेताओं ने इस समकालीन असन्तोष की भावना को एक दिशा दी और 1857 के आन्दोलन में विद्रोह आरम्भ होने के पश्चात् एक मस्तिष्क का कार्य किया। 1857-58 के विद्रोह का उत्तरदायित्व डलहौजी का ही है।

डलहौजी का मूल्यांकन-सर रिचर्ड टेम्पल का कथन है, "एक साम्राज्यवादी प्रशासक के रूप में जो योग्य व्यक्ति इंग्लैण्ड ने भारत भेजे, उनमें से किसी ने भी कदाचित ही उसकी समानता की है, अतिक्रमण तो कभी नहीं किया।" मार्शमैन लिखता है, "आधुनिक और प्राचीन इतिहास में वह सर्वश्रेष्ठ उदाहरण प्रस्तुत करता है कि एक प्रबुद्ध निरंकुश प्रशासक, एक बड़े क्षेत्र में मानवता के कल्याण के लिए क्या कुछ कर सकता है।"

सर विलियम विलसन हन्टर ने डलहौजी के कार्य का निचोड़ तीन शब्दों में बतलाया है–विजय, संगठन और विकास। उसके विलय ने वर्तमान भारत के मानचित्र को बनाया। पंजाब को अंग्रेजी राज्य में सम्मिलित करने से कम्पनी का राज्य पश्चिमोत्तर सीमा के पहाड़ों तक पहुंच गया और अंग्रेजी अधिकारी वहां के दर्रों के प्रहरी बन गए। सिक्किम के विलय से भारतीय सीमाएं तिब्बत और चीन की सीमाओं को छूने लगीं और लोअर बर्मा के विलय से पूर्व चटगांव से रंगून तक के समुद्री तट पर अंग्रेजों का अधिकार हो गया। बहुत सी भातरीय रियासतों के विलय से आन्तरिक

नोट

संगठन का कार्य पूरा हुआ। डलहौजी की विजयों तथा विलय से लगभग सवा दो लाख वर्ग मील का क्षेत्र अंग्रेजी कम्पनी के अधीन आ गया। उसके सुधारों ने प्रशासन के प्रत्येक विभाग को प्रभावित किया। उसकी रेलवे मार्गों, नहरों और सार्वजनिक निर्माण की दूरव्यापी योजनाओं द्वारा उसने भारत को एक ऐसे मार्ग पर चला दिया जिससे कि वह निर्माता और व्यापारिक भारत बन गया। वह आधुनिकीकरण में विश्वास करता था और उसने वे नींवें रखीं जिन पर आधुनिक भारत का निर्माण हुआ।

डलहौजी में त्रुटियां भी थीं। वह नैतिक मूल्यों अथवा प्रतिज्ञा के शब्दों को बहुत महत्त्व नहीं देता था। पंजाब के मामले में उसने साध्य पर अधिक और साधन पर कम बल दिया। भारतीय रियासतों के साथ व्यवहार में उसने भारतीयों की भावनाओं की ओर कोई ध्यान नहीं दिया। इस प्रकार डलहौजी एक निर्दयी साम्राज्यवादी सिद्ध हुआ और 1857 के विद्रोह ओर अस्थिरता के लिए बहुत सीमा तक वही उत्तरदायी था।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

सही विकल्प चुनिए। (Choose the correct option)

1. कामन्स सभा में जोसेफ ह्यूम ने किस राज्य के विलय पर "जिसकी लाठी, उसी की भैंस" से तुलना की थी।
   (क) सतारा (ख) सम्भलपुर (ग) झांसी (घ) नागपुर
2. बंगाल में लेफ्टीनेंट गवर्नर जनरल की नियुक्ति किसने की?
   (क) वॉरेन हेस्टिंग्स (ख) कॉर्नवालिस (ग) डलहौजी (घ) कैनिंग
3. नान रेग्यूलेशन पद्धति (Non-regulation system) की शुरुआत की-
   (क) डलहौजी (ख) विलियम बैंटिंक (ग) कॉर्नवालिस (घ) वॉरेन हेस्टिंग्स
4. भारत में प्रथम रेलवे लाइन बम्बई से थाना तक बनाई गई-
   (क) 1950 (ख) 1952 (ग) 1953 (घ) 1954
5. सार्वजनिक निर्माण विभाग और डाक-तार विभाग की स्थापना का श्रेय दिया जाता है-
   (क) मैकाले (ख) डलहौजी (ग) कॉर्नवालिस (घ) बैंटिंक

6.2 सारांश (Summary)

- डलहौजी के कार्य का विवरण व्यपगत के सिद्धान्त की चर्चा के बिना अधूरा रह जाता है। इस सिद्धान्त के द्वारा कुछ महत्त्वपूर्ण रियासतें साम्राज्य में विलय कर ली गईं। डलहौजी के इस विश्वास की कि "झूठे रजवाड़ों" और "कृत्रिम मध्यस्थ शक्तियों" द्वारा प्रशासन की पुरानी पद्धति से प्रजा की मुसीबतें बढ़ती हैं और यह सब गलत है, ध्यान में रख कर ही, उसके व्यपगत के सिद्धान्त को अधिक अच्छी प्रकार समझा जा सकता है वास्तव में उसकी स्पष्ट और सीधी स्काटिश मनोवृत्ति यह चाहती थी कि "मुगल सर्वशक्ति के मुखौटे को तोड़ दिया जाए और जो भारतीय राजे मुगलों के उत्तराधिकारी होने का दावा करते हैं उन्हें समाप्त कर दिया जाए।"
- मुगल साम्राज्य के पतन और मराठा संघ की हार के पश्चात कम्पनी ही भारत में सर्वश्रेष्ठ बन गई थी। डलहौजी का विचार था कि "स्वस्थ और बुद्धिमत्तापूर्वक नीति के अनुसार कम्पनी का कर्त्तव्य है कि वह अधिक राजस्व को और प्रदेशों को प्राप्त करने का कोई भी अवसर, जो समय-समय पर उसे मिले, हाथ से न जाने दे, चाहे वह अवसर स्वाभाविक उत्तराधिकारी की मृत्यु से प्राप्त हो अथवा किसी अन्य प्रकार के कारणों द्वारा उत्तराधिकारियों के न होने से प्राप्त हो जहां कि हिन्दू कानून के अनुसार गोद लेने की प्रथा में सरकार की स्वीकृति आवश्यक है।"

नोट

- डलहौजी यह स्वीकार करता था कि राजाओं की निजी सम्पत्ति के उत्तराधिकार के लिए उसके दत्तक पुत्र को अनुमति है परन्तु गद्दी पर अधिकार के लिए उसे अनुमति नहीं है। उसके लिए सरकार की अनुमति परमावश्यक है।
- गृह सरकार ने 1841 में ही लिखा था कि सब के लिए एक जैसी नीति अपनानी चाहिए और गवर्नर–जनरल को आज्ञा दी थी कि "कोई भी सीधा और स्पष्ट मानपूर्वक अवसर, नए करों को अथवा प्रदेशों को प्राप्त करने का नहीं खोना चाहिए और इसके अतिरिक्त शेष सभी स्थाई अधिकारों का हमें असन्दिग्ध रूप से पालन करना चाहिए।" इन्हीं आज्ञाओं का पालन करते हुए 1839 में माण्डवी राज्य; 1840 में कोलाबा और जालौर राज्य और 1842 में सूरत की नवाबी समाप्त की गई थी। डलहौजी का ध्येय था कि इस आज्ञा का अक्षरश: पालन किया जाए और कम्पनी को प्रदेशों को प्राप्त करने का कोई अवसर नहीं खोना चाहिए।
- यह इस सिद्धान्त के अनुसार विलय किया गया प्रथम राज्य था। राजा अप्पा साहिब के कोई पुत्र नहीं था। उन्होंने मृत्यु के कुछ दिन पहले कम्पनी की अनुमति के बिना एक 'दत्तक पुत्र' बना लिया। लॉर्ड हेस्टिंग्ज ने 1818 में मराठा शक्ति को समाप्त कर के शिवाजी के वंशज प्रतापसिंह को सतारा का राज्य "उसको, उसके बेटों और उत्तराधिकारियों को दे दिया था।" 1839 में राजा प्रतापसिंह को गद्दी से उतार कर राज्य उसके भाई अप्पा साहिब को दे दिया गया था। बम्बई परिषद् के प्रमुख सर जार्ज क्लार्क ने इस विलय के विरुद्ध परामर्श दिया था। डलहौजी ने इसे "आश्रित राज्य" घोषित करके इसका विलय कर लिया।
- झांसी का राजा पेशवा के अधीन होता था। राजा की 1835 में मृत्यु हो गई परन्तु कम्पनी ने राजा के वंशज गंगाधर राव को उत्तराधिकारी स्वीकार कर लिया। नवम्बर 1853 में यह राजा भी पुत्र के बिना ही स्वर्ग सिधार गए। राज्य को कम्पनी ने विलय कर लिया। दत्तक पुत्र का अधिकार स्वीकार नहीं किया गया।
- इस मराठा राज्य का क्षेत्रफल 80,000 वर्ग मील था। 1853 में राजा का बिना दत्तक पुत्र गोद लिए ही स्वर्गवास हो गया। परन्तु उसने रानी को पुत्र गोद लेने को कह दिया था। जब रानी ने पुत्र गोद लेने का प्रस्ताव किया तो कम्पनी ने स्वीकार नहीं किया और राज्य विलय कर लिया गया।
- डलहौजी के विलय से लगभग साढ़े तीन गुणा प्रदेश कम्पनी के साम्राज्य में सम्मिलित हुए। उत्तर–पश्चिमी प्रदेश में अंग्रेज दर्रों के संरक्षक बन गए। उत्तर में अंग्रेजी साम्राज्य की सीमाएं तिब्बत तथा चीनी साम्राज्य को छूने लगीं तथा दक्षिण–पूर्व में अंग्रेजों ने बंगाल की खाड़ी के तटों पर अपना अधिकार बना लिया। भारतीय उपमहाद्वीप में अंग्रेजी साम्राज्य प्राकृतिक सीमाओं को छूने लगा तथा समुद्र तथा पर्वत उसकी सीमाएं बन गईं।
- डलहौजी विलयवादी था। उसने व्यपगत का सिद्धान्त आक्रामक उद्देश्यों के लिए किया। यदि अवध जैसे प्रदेशों में व्यपगत का सिद्धान्त लागू नहीं हो सका तो उसने 'अच्छे प्रशासन' की आड़ लेकर प्रदेश का विलय कर लिया।
- 1801 से ही कर्नाटक का नवाब नाममात्र सा व्यक्ति था। 1853 में कर्नाटक के नवाब की मृत्यु पर मद्रास सरकार के सुझाव से सहमत होकर उसके उत्तराधिकारी को मान्यता नहीं दी गई और इस प्रकार इस प्रपंच को समाप्त कर दिया गया परन्तु 1867 में गवर्नर–जनरल का यह निर्णय कुछ सीमा तक बदल दिया गया। 1855 में तंजोर के राजा की मृत्यु हो गई। उसके पश्चात् उसकी सोलह विधवाएं और दो बेटियां रह गई थीं। इस उपाधि को भी समाप्त कर दिया गया। इसी प्रकार डलहौजी की यह योजना थी कि मुगल सम्राट की उपाधि भी समाप्त कर दी जाए परन्तु डाइरेक्टर्ज ने इस सुझाव को स्वीकार नहीं किया। पेशवा बाजीराव द्वितीय को 8 लाख ₹ वार्षिक की पेन्शन मिलती थी। 1853 में उसकी मृत्यु पर यह पेन्शन उसके दत्तक पुत्र नाना साहिब को नहीं दी गई क्योंकि यह पेन्शन निजी रूप से बाजीराव को दी गई थी न कि पेशवा को।
- उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक अंग्रेज अवध के विलय के पक्ष में हो गए थे। वास्तव में मध्य विक्टोरिया युग के साम्राज्यवादी यह विश्वास करने लग गए थे कि अंग्रेज ही अच्छा प्रशासन देने के योग्य हैं, भारतीयों का उनके शासन के अधीन रहना तथा अवध का विलय परम आवश्यक है। लंदन टाइम्ज ने इसी प्रकार की

नोट

भावना के अन्तर्गत कहा था कि "भारतीय जाति बहुत तुच्छ सी जाति है तथा पृथ्वी के दूसरे छोर से एक महान जाति उन पर राज्य करने के लिए पहुंच गई है।" इसलिए इस विलय के कार्य में डलहौजी को न तो किसी सन्धि का ध्यान था और न ही वह भावुकता से प्रेरित हुआ।

- अवध के विलय का मुख्य कारण केवल वहां का कुशासन ही था। इस बात पर ध्यान नहीं दिया गया कि इस कुशासन का मुख्य कारण अंग्रेज स्वयं ही थे। समकालीन अनेक लेखकों ने बार-बार यह कहा है कि उस देश में अंग्रेज हस्तक्षेप ने वहां की राजव्यवस्था को ऐसा बना दिया है कि यह अंग्रेजों के नाम पर बड़ा भारी कलंक है। कुशाासन विलय का एक सुगम सा कारण था।
- डलहौजी ने इस प्रदेश के विलय की योजना बहुत दक्षतापूर्ण बनाई। उसने अपने अधिकारी वहां के शासन की जांच करने के लिए भेजे जिन्होंने एक विस्तृत विवरण वहां के कुशासन के विषय में उसको भेजा, जिसे लंदन भेजकर उसने अवध के विलय के गृह सरकार की अनुमति प्राप्त कर ली। गृह सरकार और ब्रिटिश जनमत तैयार करने के पश्चात् डलहौजी ने बहुत तत्परता से कार्य किया।
- लॉर्ड डलहौजी ने लगभग प्रशासन के सभी विभागों में सुधार किए। इस महान साम्राज्यवादी ने कम्पनी की उपलब्धियों को संगठित किया। गवर्नर-जनरल के कार्यभार को कम करने के उद्देश्य से बंगाल में एक लेफ्टिनेन्ट-गवर्नर नियुक्त किया गया। जो नवीन प्रदेश कम्पनी के अधीन आए थे उनके लिए सीधा प्रशासन आरम्भ किया गया। इसको "नॉन रेग्यूलेशन पद्धति" कहा जाता है।
- डलहौजी के साम्राज्य-विस्तार के कारण अंग्रेजी राज्य की सीमाएँ पूर्व में बंगाल से पश्चिम में सिन्ध और पंजाब तक फैल गईं। एशिया के साम्राज्य का स्वप्न पूरा हो गया था। इतने विस्तृत प्रदेश पर अधिकार के कारण यह आवश्यक था कि सेनाओं का अधिक अच्छा वितरण किया जाए। बंगाल-तोपखाने के मुख्य कार्यालय कलकत्ता के स्थान पर मेरठ में ले जाए गए और सेना के मुख्य कार्यालय शिमला में बना दिए गए और यह कार्य 1865 तक पूरा हो गया।
- लॉर्ड डलहौजी के कार्य काल में शिक्षा में बहुत से महत्त्वपूर्ण सुधार किए गए। 1853 में टामसन की व्यवस्था के अनुसार समस्त उत्तर पश्चिमी प्रांत (आधुनिक उत्तर प्रदेश), लोअर बंगाल और पंजाब में स्थानीय परिस्थितियों के अनुसार भारतीय भाषाओं में शिक्षा का प्रस्ताव स्वीकार किया गया। ऐसी ही आज्ञाएँ मद्रास तथा बम्बई में भी जारी की गईं।
- जुलाई 1854 में सर चार्ल्स वुड जो बोर्ड ऑफ कंट्रोल के प्रधान थे, ने भारतीय सरकार को एक नई योजना भेजी जिसे वुड का निर्देश-पत्र कहा जाता है। इसके अनुसार "प्राथमिक शिक्षा से लेकर विश्वविद्यालय स्तर की शिक्षा के लिए एक व्यापक योजना" बनाई गई।
- इंग्लैण्ड में रेलवे लाइनें 1825 के पश्चात् बिछाई जा रही थी। डलहौजी के काल में भारत में 1853 में प्रथम रेलवे लाइन बम्बई से थाना तक बिछाई गई और शीघ्र ही समस्त भारतीय साम्राज्य रेलवे लाइनों के सूत्र में बांध कर एक कर दिया गया।
- भारत में कुछ समय से एक उफान एकत्रित हो रहा था। डलहौजी के जाने के एक वर्ष के भीतर ही वह फूट पड़ा। डलहौजी की नीति चाहे कितनी भी न्यायपूर्ण और उचित क्यों न थी, उसका प्रभाव बहुत अच्छा नहीं था। भारतीय राजाओं में असंतोष फैल गया। जैसा कि वी.ए. स्मिथ ने कहा है कि "भारतीय राजा 'अधीनस्थ' और 'आश्रित' रियासतों के सूक्ष्म भेद को नहीं समझ सकते थे। उन्होंने केवल यह देखा कि एक राज्य के पश्चात् दूसरा राज्य, साम्राज्य में किसी-न-किसी कारण से विलय होता जा रहा था और अब कोई भी राज्य सुरक्षित नहीं रहा था...गति बहुत तीव्र थी और इसके संचित प्रभाव ने अत्यन्त अस्थिरता की स्थिति उत्पन्न कर दी।" व्यपगत के सिद्धान्त ने भारतीय लोगों के पारम्परिक रीति रिवाजों की अवहेलना की और प्राचीन और अप्रचलित सिद्धान्तों के नए अर्थ निकाले गए।

नोट

6.3 शब्दकोश (Keywords)

- व्यपगत : हड़पना, जबर्दस्ती अधिकार कर लेना
- दत्तकपुत्र : 'गोद प्रथा' के तहत लिया गया पुत्र

6.4 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. लॉर्ड डलहौजी के व्यपगत सिद्धान्त की व्याख्या कीजिए।
2. 1857 के विद्रोह के लिए लॉर्ड डलहौजी कहाँ तक उत्तरदायी था? विश्लेषणात्मक वर्णन कीजिए।
3. लॉर्ड डलहौजी के प्रशासनिक सुधारों का मूल्यांकन कीजिए।

उत्तर: स्व-मूल्यांकन (Answer: Self Assessment)

(1) (क) (2) (ग) (3) (क) (4) (ग)

(5) (ख)

6.5 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. *स्वतंत्रता संगाम*– विपिन चन्द्र, हिन्दी माध्यम कार्यान्वय, निदेशालय दिल्ली विश्वविद्यालय।
2. *आधुनिक भारत*– एस. के. पाण्डे, प्रयाग एकेडमी इलाहाबाद।
3. *स्वतंत्रता का इतिहास*– बी.एल. गोवर एवं यशपाल, एस. चन्द एण्ड कम्पनी लि., दिल्ली।

नोट

इकाई–7: पहली महत्त्वपूर्ण चुनौती: (The First Major Challenge)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

7.1 1857 के विद्रोह के कारण (Causes of the Revolt of 1857)

7.2 आरम्भ, प्रसार और पतन (Beginning, Spread and Suppression)

7.3 विद्रोह असफल क्यों हुआ? (Why the Revolt Failed)

7.4 विद्रोह का परिणाम (Aftermath of the Revolt)

7.5 1857 के विद्रोह पर चुने हुए विचार (Select Opinions of The Revolt of 1857)

7.6 सारांश (Summary)

7.7 शब्दकोश (Keywords)

7.8 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

7.9 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- 1857 के विद्रोह के कारणों का विश्लेषण करने में।
- विद्रोह के आरम्भ–प्रसार एवं पतन का विवेचन करने में।
- विद्रोह का मूल्यांकन करने में।

प्रस्तावना (Introduction)

उन्नीसवीं शब्ताब्दी के मध्य तक भारत में राष्ट्रवाद की चेतना, यदि राष्ट्रवाद को हम आधुनिक संवेदना के अर्थ में लें, तो हम में केवल भ्रूण अवस्था के ही रूप में विद्यमान थी। सेन का कथन है कि 1857 में "भारत केवल एक भौगोलिक कथन" के रूप में ही विद्यमान था। बंगाली, पंजाबी, हिन्दुस्तानी, महाराष्ट्री, इत्यादि लोगों ने कभी अपने आप को एक भारत के वासी अथवा एक राष्ट्र के सदस्य नहीं समझा था।

क्या यह सैनिक विद्रोह अथवा विद्रोह, एक स्वतंत्रता संग्राम था? पण्डित जवाहर लाल नेहरु के कथानुसार यह तो वास्तव में सामन्तवादी लोगों का विद्रोह था, जिसमें विदेश विरोधी भावनाओं से प्रेरित लोग भी सम्मिलित हो गए। इन सामन्त लोगों में भी कोई सामंजस्य नहीं था, और न ही ये किसी एक भावना अथवा उद्देश्य से प्रेरित हुए थे। बड़ी रियासतों के प्रमुख रूप से अलग ही रहे और इन्हीं ने अंग्रेजों की सहायता की, क्योंकि उन्हें भय था कि उनके पास जो कुछ भी बचा था, वह केवल अंग्रेजों की कृपा के फलस्वरूप ही था। डाक्टर आर. सी. मजूमदार का तर्क है कि भारतीय समाज के कुछ तत्व वैयक्तिक अथवा संगठित रूप से, भारत के कुछ भागों में अंग्रेजों के विरुद्ध अवश्य लड़े परन्तु उनका उद्देश्य, समकालीन जानकारी के आधार पर यही स्पष्ट होता है कि वे स्वार्थभाव से अथवा धार्मिक भावना से ही लड़े, न कि समस्त देश के हित में, अथवा भारत को विदेशियों से मुक्ति दिलाने के लिए।

नोट

मजूमदार महोदय इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि "तथाकथित 1857 का राष्ट्रीय स्वतंत्रता का प्रथम संग्राम न तो यह प्रथम, न राष्ट्रीय, और न ही स्वतंत्रता संग्राम था"।

प्रोफेसर सेन 1857 की घटनाओं को बड़े परिपेक्ष्य में देखते हुए यह तर्क देते हैं कि विद्रोह तथा क्रान्तियाँ मुख्य रूप से एक अल्पसंख्यक वर्ग का ही कार्य होता है, जिस में जनता की सहानुभूति होती भी है और नहीं भी होती, जैसा कि अमेरिकी स्वतंत्रता संग्राम अथवा फ्रांसीसी क्रान्ति में हुआ। इस तर्क को आगे बढ़ाते हुए वह इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि "जिस विद्रोह का धार्मिक संघर्ष के रूप में आरम्भ हुआ, उसका अन्त स्वतंत्रता संग्राम के रूप में हुआ। उनके मन में तनिक भी सन्देह नहीं है विद्रोहियों ने एक विदेशी सरकार को निकाल कर पुरानी व्यवस्था को पुनः स्थापित करने का प्रयत्न किया, जिसका दिल्ली का सम्राट न्यायोचित प्रतिनिधि था।"

7.1 1857 के विद्रोह के कारण (Causes of The Revolt of 1857)

ऐंग्लो-इण्डियन इतिहासकारों ने सैनिक असन्तोषों तथा चर्बी वाले कारतूसों को ही 1857 के महान विद्रोह का सबसे मुख्य तथा महत्वपूर्ण कारण बताया है। परन्तु आधुनिक भारतीय इतिहासकारों ने यह सिद्ध कर दिया है कि चर्बी वाले कारतूस ही इस विद्रोह का एकमात्र कारण अथवा सबसे प्रमुख कारण नहीं था। चर्बी वाले कारतूस और सैनिकों का विद्रोह तो केवल एक चिनगारी थी जिसने उन समस्त विस्फोटक पदार्थों को जो राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक कारणों से एकत्रित हुए थे, आग लगा दी और वह दावानल का रूप धारण कर गया।

राजनैतिक कारण– कम्पनी की भारतीय रियासतों पर क्षमताशाली नियंत्रण (Effective control) और धीरे-धीरे समाप्ति (gradual extinction) की नीति ने लार्ड वैलेजली के अधीन सहायक सन्धि की प्रणाली के रूप में एक 'निश्चित आकार' धारण कर लिया। इस तर्क का अन्तिम रूप डलहौजी के काल में सम्मुख आया जिसने नैतिक और राजनैतिक आचार की सभी सीमाओं को छिन्न-भिन्न कर के व्यपगत के सिद्धान्त (doctrine of lapse) को गढ़ा। डलहौजी की विलय की नीति ने सभी राजाओं को व्याकुल कर दिया। हिन्दू राजाओं से दत्तक पुत्र लेने का अधिकार छीन लिया गया। उत्तराधिकार का अधिकार "उनको नहीं रहा जिनकी धमनियों में वंश के प्रवर्तक का रक्त नहीं बह रहा होता था।" आश्रित राज्य (Dependent states) और रक्षित सहायकों (protected allies) का भेद बहुत सूक्ष्म था तथा केवल बाल ही खाल उतारने वाली बात थी। विवादास्पद मामलों में कम्पनी का निर्णय बाध्य होता था और कोर्ट आफ डाइरेक्टरर्स का निर्णय अन्तिम था। पक्षपात रहित, शुद्ध तथा अशुद्ध का निर्णय करने के लिए सर्वोच्च न्यायालय तो था नहीं। पंजाब, पीगू और सिक्किम, विजय के अधिकार द्वारा विलय किए गए, सतारा, जैतपुर, सम्भलपुर, बघाट, ऊदेपुर, झांसी और नागपुर व्यपगत के सिद्धान्त के अन्तर्गत विलय कर लिए गए थे। अवध को शासितों के हित में विलय किया गया। तंजौर और कर्नाटक के नवाबों की राजकीय उपधियाँ समाप्त कर दी गईं थीं। भारतीय राजे यह मानने लगे थे कि सभी रियासतों का अस्तित्व खतरे में है और इन सबका विलय होना के केवल समय का प्रश्न है। साधारण विश्वास था कि यह विलय "व्यपगत के सिद्धान्त के कारण नहीं अपितु सभी "नैतिकताओं के व्यपगत" होने के कारण हुआ है। इन रियासतों के भय निराधार नहीं थे, ब्रिटिश साम्राज्य के एक निर्माता, सर चार्ल्स नेपियर के पत्र-व्यवहार से स्पष्ट है। उसने लिखा था "यदि मैं 12 वर्ष के लिए भारत का सम्राट होता.....तो कोई भारतीय राजा शेष नहीं रहता.....निज़ाम का नाम भी सुनाई न देता.....नेपाल हमारा होता.....।" मालेसन ने ठीक ही कहा है कि डलहौज़ी की नीति ने और अन्य ऊंचे पदाधिकारियों के कथनों और लेखों ने एक प्रकार का 'अविश्वास' का वातावरण उत्पन्न कर दिया था और भारतीयों को यह प्रतीत होने लगा कि अंग्रेज़ "मेमने के रूप में भेड़िये" की भूमिका निभा रहे हैं।

नोट्स विद्रोह के कारण अधिक गूढ़ थे और वे सब जून 1757 के प्लासी के युद्ध से 29 मार्च 1857 को मंगल पाण्डे द्वारा अंग्रेज़ एजुटेंट की हत्या तक के अंग्रेजी प्रशासन के 100 वर्ष के इतिहास में निहित हैं।

नोट

मुसलमानों की भावनाएँ भी गम्भीर रूप से आहत हुई थीं। लार्ड डलहौजी जो साम्राज्य में साम्राज्य (imperium in imperio) जीवित रखने के पक्ष में नहीं था, ने शाहजाजदा फकीरुद्दीन के उत्तराधिकार को मान्यता तो दे दी थी परन्तु उस पर बहुत से प्रतिबन्ध लगा दिये थे। 1856 में फक़ीरुद्दीन की मृत्यु के पश्चात् लार्ड कैनिंग ने घोषणा की कि फक़ीरुद्दीन द्वारा तिलांजलि दिए हुए मामलों के अतिरिक्त नवीन उत्तराधिकारी शहज़ादे को राजकीय उपाधि और मुगल महल दोनों ही छोड़ देने होंगे। इस घोषणा से मुसलमान बहुत चिन्तित हो गए। वे समझते थे कि अंग्रेज़ तैमूर के वंश को नीचा दिखाना चाहते हैं। जैसा कि एलेग्ज़ेण्डर डफ़ ने लिखा है "पिछले 100 वर्षों से समस्त भारत में लोग निजी घरों में अथवा मस्जिदों में तैमूर के वंश, जिसका प्रतीक वे दिल्ली के सम्राट को मानते हैं, की समृद्धि के लिए प्रार्थना करते रहे हैं। इस तैमूर के वंश की समृद्धि का अर्थ केवल अंग्रेज़ी साम्राज्य का पतन और प्राचीन वंश का पुनः स्थापन ही है। अतएव उनके मामले में अंग्रेजी सरकार के प्रति विरोध और इसके नष्ट होने के लिए तीव्र इच्छा एक प्रकार का धार्मिक कर्तव्य है जो वे अपने हृदय में संजोये रखते हैं क्योंकि यह उन्हें धार्मिक विश्वास तथा अपने पूर्वजों की समृद्धि के रूप में मिला है।"

यह भी तर्क प्रस्तुत किया गया है कि एक और राजनैतिक कारण भारत में ब्रिटिश शासन का स्वरूप "अनुपस्थित प्रभुसत्ता" (absentee sovereigntyship) के रूप में थी और अंग्रेजों के विरोध के लिए इसका भारतीय मन पर बहुत प्रभाव पड़ा। पठान और मुग़ल जिन्होंने भारत को विजय किया, कालान्तर में भारत में ही बस गए तथा भारतीय बन गए। यहाँ से एकत्रिक किया गया कर यहीं व्यय होता था। अंग्रेजों के विषय में भारतीय यह अनुभव करते थे कि इन पर हजारों मील दूरी से राज्य किया जाता है और देश के धन का शनैः शनैः निकास हो रहा है।

इसके अतिरिक्त गत 40 वर्षों से अनुसरण की हुई अंग्रेज़ी राज्य द्वारा स्थापित शान्ति (Pax Britannica) की नीति के कारण पिण्डारी, ठग तथा अन्य नियमित सैनिक जो भारतीय रियासतों की सेनाओं के अंग होते थे, वे सब अब समाप्त हो चुके थे और उन दलों से निवृत्त सैनिक अब इस विद्रोह में सम्मिलित हो गए, विशेषकर समाज-विरोधी तत्वों को विद्रोह के दिनों में स्वर्ण अवसर मिला और उन्होंने विद्रोहियों की संख्या में वृद्धि कर दी।

प्रशासनिक और आर्थिक कारण– भारतीय रियासतों के विलय के बहुत से सामाजिक और आर्थिक प्रभाव हुए। भारतीय अभिजात वर्ग शक्ति और पदवी से वंचित हो गया। नवीन प्रशासनिक व्यवस्था में उन्हें वही प्राचीन सम्मान प्राप्त करने के अवसर बहुत कम थे क्योंकि इस व्यवस्था के ऊंचे-ऊंचे पद केवल अंग्रेज़ों के लिए सुरक्षित होते थे।

सेना में ऊंचे से ऊंचा पद जो किसी भारतीय को मिल सकता था वह सूबेदार का था जिसमें 60 अथवा 70 रुपये मासिक वेतन मिलता था और असैनिक प्रशासन में सदर अमीन का पद था जिसका वेतन 500 रुपये मासिक था। पद-वृद्धि के अवसर बहुत ही कम थे। भारतीयों की यह धारणा बन गई कि अंग्रेज़ उन्हें "लकड़हारे अथवा कहार" (hewers of wood and drawers of water) बनाना चाहते हैं।

इस विषय में सर टॉमस (Sir Thomas Munro) ने 1817 में यों लिखा था: "विदेशी विजेताओं ने भारतीयों पर बहुत अत्याचार किए हैं परन्तु उन में से किसी ने भी इन्हें इतना हेय नहीं माना जितना हम मानते हैं। किसी ने भी समस्त जाति को अविश्वसनीय और ईमानदारी के अयोग्य नहीं माना था और न ही केवल उस समय सेवा करने के योग्य माना जब उसके बिना गुज़र न हो सके। यह न केवल अनुदारता ही नहीं अपितु व्यवहार कुशलता भी नहीं है कि हम उन लोगों के चरित्र को जो हमारे अधीन हो गए हैं– पूर्णतया अधोगति को पहुँचा दें।" 1833 के चार्टर ऐक्ट की सिफारिशों के होते हुए भी नीति लगभग वही रही थी।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी की प्रशासनिक कार्य प्रणाली "अयोग्य और अपर्याप्त" (inefficient and insufficient) थी। भूमि कर व्यवस्था तो बहुत ही अप्रिय थी। नव प्राप्त जिलों में कृषक लगभग सदैव विद्रोह करते रहते थे और भूमि कर एकत्रित करने के लिए सेना भेजनी पड़ती थी। उदाहरण के रूप में पानीपत के जिले में पुलिस कार्य के लिए तो केवल 22 घुड़सवार थे परन्तु भूमि कर एकत्रित करने के लिए 136 व्यक्ति कार्य करते थे। विद्रोह के आरम्भ में ही सर हेनरी लॉरेन्स ने एक बार कहा था "यह सब जैकसनों, लॉरेन्सों, टॉमसनों और एडमन्स्टोनों की कृपा है।" इन नव प्राप्त जिलों में सरकार ने कृषकों के साथ सम्पर्क बना लिया था और मध्यजन नहीं रहे थे। उत्तर-पश्चिमी

नोट

प्रान्त (यू.पी.) की भूमि कर व्यवस्था के विषय में यह कहा गया था कि "यह भयानक प्रयोग है....जिसका उद्देश्य समाज के समस्त तल को समतल कर देना है।" बहुत से तालुकदार और वंशानुगत भूमिपति (जो सरकार का भूमि कर एकत्रित करते थे) अपने-अपने पदों तथा अधिकारों से वंचित कर दिए गए। कुछ कर मुक्त भूमिपतियों को कहा गया कि वे अपना "अधिकार पृच्छा (Quo Warranto) अर्थात् वह दस्तावेज़ दिखाएं जिसके द्वारा उन्हें कर मुक्त किया गया था।" यह प्राय: सम्भव नहीं था और फलस्वरूप बहुत सी ऐसी भूमि ज़ब्त कर ली गई। ऐसी भूमि पुन: नीलाम कर दी गई। कई बार यह भूमि वे लोग ले लेते थे जो जमींदारी के कार्य लेशमात्र भी नहीं समझते थे और वे लोग प्राय: लोगों का शोषण करते थे। यह जैकसन की नीति थी कि अवध के तालुकदारों की भूमि के स्वत्वधिकारों (titles) की जांच की जाए तथा स्थानीय सैनिकों की छटनी कर दी जाए और यही सैनिक व तालुकदार इस प्रदेश में विद्रोह के केन्द्र बने। बम्बई के प्रसिद्ध इनाम कमिशन ने 20,000 जागीरें ज़ब्त कर लीं। इस प्रकार बहुत से भूमिपति निर्धन बन गए। दूसरी ओर कृषकों को भी कोई विशेष लाभ नहीं पहुंचा क्योंकि वे लोग फिर भी अत्यधिक करों के भार के नीचे दबे रहे। कृषकों को भी यह सब अच्छा नहीं लगा। अब ये लोग सिद्धान्तहीन साहूकारों के चंगुल में फंस गए। जैसा कि अशोक मेहता ने लिखा है कि "अवध के विलय के समय 25,543 ग्राम तालुक़दारों की जागीरों में थे। उसमें से 13,640 तो तालुकदारों के पास रहे शेष 11,903 गांव उन लोगों को मिल गए जो तालुकदार नहीं थे.....अर्थात् तालुकदारों के लगभग आधे गांव छीन लिए गए...कुछ तो अपना सर्वस्व ही खो बैठे थे।" इस व्यवस्था का क्या परिणाम हुआ इसका अनुमान हम इस तथ्य से भी लगा सकते हैं कि झांसी में लक्ष्मी मन्दिर के कर मुक्त ग्राम भी ज़ब्त कर लिए गए।

अंग्रेज़ों की आर्थिक नीतियां भी भारतीय व्यापार और उद्योगों के विरुद्ध थीं। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के राजनैतिक शक्ति के प्रयोग से भारतीय हस्तशिल्प और व्यापार का सर्वनाश हो गया था और इसे केवल अंग्रेजी शोषण प्रणाली के परिशिष्ट के रूप में ही जीवित रहने दिया गया।

क्या आप जानते हैं

कार्ल मार्क्स ने जो एक बहुत चतुर प्रेक्षक थे, 1853 में ही लिखा था "यह अंग्रेजी घुसपैठिया था जिसने भारतीय खड्डी (loom) को तोड़ दिया और चरखे का नाश कर दिया। अंग्रेज़ों ने भारतीय सूती कपड़े को अंग्रेज़ी मण्डियों से वंचित करना आरम्भ किया और फिर भारत में एक ऐसा मोड़ दिया कि सूती कपड़े की मातृभूमि को ही सूती कपड़े से भर दिया। सूती कपड़ा उद्योग के नाश होने से कृषि पर बोझ बढ़ गया और अन्त में देश अकिंचन हो गया है"

सामाजिक और धार्मिक कारण-सभी विजेता जातियों की भांति अंग्रेज शासक विजित लोगों के प्रति बहुत रूखे तथा धृष्ट (arrogant) थे। इसके अतिरिक्त वे जातिभेद की भावना से भी प्रेरित थे। वे भारतीयों को हेय दृष्टि से देखते थे और हिन्दुओं को बर्बर और मुसलमानों को कट्टरपन्थी, निर्दयी और बेईमान सकझते थे।

यूरोपीय अधिकारी वर्ग भारतीयों के प्रति बहुत कठोर तथा असहनीय थे। वे भारतीयों को काले (nigger) अथवा सूअर की संज्ञा देते थे। उनमें उत्तम से उत्तम लोग भी बर्ड तथा टामसन (Bird and Thomason) की भांति प्रत्येक अवसर पर भारतीयों का अपमान करने से नहीं चूकते थे।

शिकार पर जाते समय अंग्रेज़ पदाधिकारी और यूरोपीय सैनिक भारतीयों पर बलात्कार करते थे। यूरोपीय ज्यूरियां (juries) जो इन मामलों की सुनवाई कर सकती थीं प्राय: इन लोगों को थोड़ा बहुत दण्ड देकर छोड़ देती थीं और भारतीयों को यह बहुत चुभता था।

शारीरिक तथा राजनैतिक अन्याय सहन करना कई बार सम्भव हो सकता है परन्तु धार्मिक उत्पीड़न सहना बहुत कठिन होता है। अंग्रेज़ों का एक उद्देश्य भारतीयों को ईसाई बनाना भी था। यह कम्पनी के अध्यक्ष मैंगल्ज़ (Mangles)

नोट

के हाऊस आफ़ कामन्स में किए गए एक भाषण से स्पष्ट होता है। उसने कहा था कि "दैव योग से भारत का विस्तृत साम्राज्य ब्रिटेन को मिला है ताकि ईसाई धर्म की पताका भारत के इस छोर से दूसरे छोर तक फहरा सके। प्रत्येक व्यक्ति को शीघ्रातिशीघ्र समस्त भारतीयों को ईसाई बनाने के महान कार्य को पूर्णतया सम्पन्न करने में अपनी समस्त शक्ति लगा देनी चाहिए।" मेजर एडवर्ड्ज (Major Edwards) ने भी स्पष्ट रूप से कहा था, "भारत पर हमारे अधिकार का अन्तिम उद्देश्य देश को ईसाई बनाना है।" वीर सावरकर ने यह दर्शाया है कि असैनिक और सैनिक ऊंचे पदाधिकारी राम और मुहम्मद को गालियाँ निकालते थे तथा सैनिकों को ईसाई बनने की प्रेरणा देते थे। सैनिकों को यदि वे 'सत्य धर्म' अपना लें तो पदोन्नति का वचन दिया जाता था। ईसाई धर्म प्रचारकों को पर्याप्त सुविधाएँ दी जाती थीं। अमेरिकन मिशनरी सोसाइटी (American Missionary Society) ने आगरे में एक बहुत भारी मुद्रणालय (Printing Press) लगाया। मूर्ति पूजा को बुरा कहा जाता था। हिन्दू देवी-देवताओं का उपहास किया जाता था। सर सैसद अहमद खां ने भी लिखा है कि "ऐसा विश्वास किया जाता है कि सरकार ने धर्म प्रचारक नियुक्त कर रखे हैं और उनका भरणपोषण अपने व्यय से करती है।" लॉर्ड शेफ़्टसबरी (Lord Shaftesbury) ने तो इतना तक कहा था कि "भारत को ईसाई बनाने में असमर्थता ही इस समस्त झगड़े का मूल कारण है।"

1850 में पास किए गए धार्मिक अयोग्यता अधिनियम (Religious Disabilities Act) द्वारा हिन्दू रातिरिवाजों में परिवर्तन लाया गया, अर्थात् धार्मिक परिवर्तन से पुत्र अपने पिता की सम्पत्ति से वंचित नहीं किया जा सकता है। इस कानून का मुख्य लाभ ईसाई बनने वालों को था। लोगों ने यह भी अफ़वाह फैला दी कि लार्ड कैनिंग को विशेष आज्ञा दी गई है कि वह भारत को ईसाई बना दे। ऐसे वातावरण में यह विश्वास किया जाने लगा कि रेलवे और वाष्पपोत (steamships) भारतीय धर्म परिवर्तन का एक अप्रत्यक्ष साधन हैं। बेंजामिन डिजरेली के शब्दों में, "नए सिद्धान्तों के अधीन भारतीय विधान परिषद् स्थानीय लोगों के धार्मिक विश्वास को शनैः शनैः कुतरती जा रही है। इसकी राष्ट्रीय विद्या की सैद्धान्तिक प्रणाली के अनुसार धर्म पुस्तकें (बाईबल इत्यादि) पाठशालाओं में अकस्मात ही पहुँच गई हैं।" भारतीयों को यह विश्वास होता जा रहा था कि अंग्रेज़ उन्हें ईसाई बनाने की योजना बना रहे हैं। ईसाई पादरियों और डलहौज़ी तथा बेटन (Bethune) के स्त्रियों की शिक्षा के लिए किए गए प्रयत्नों द्वारा भारतीयों को विश्वास होता जा रहा था कि अंग्रेज़ विद्या द्वारा उनकी सभ्यता को विजय करना चाहते हैं। "विद्या कार्यालयों" को "शैतानी दफ्तर" की संज्ञा दी जाने लगी थी।

टास्क भारतीयों द्वारा विद्या कार्यालयों को "शैतानी दफ्तर" की संज्ञा क्यों दी जाती थी?

सैनिक कारण-लार्ड ऑकलैण्ड के अफ़गान युद्ध के पश्चात् अनुशासन को बहुत धक्का पहुँचा था। लार्ड डलहौज़ी ने गृह-अधिकारियों (home authorities) को लिखा था कि "सेना का अनुशासन-उच्च से निम्न अधिकारियों तक-निन्दनीय हो गया है।" बंगाल सेना "एक महान भाईचारा था जिसमें सभी सदस्य एकता से कार्य करते थे" और सेना की सेवा वंशानुगत थी। बंगाल सेना का 60 प्रतिशत भाग अवध तथा उत्तरपश्चिमी (यू.पी.) प्रान्तों से आता था और उसमें से अधिकतर ऊंची जाति के ब्राह्मण तथा राजपूत कुलों के सदस्य होते थे जो प्रायः उस अनुशासन को स्वीकार करने को उद्यत नहीं थे जिसके अनुसार उन्हें और निम्नजातीय सैनिकों को समान माना जाए। सर चार्ल्स नेपियर को इन "उच्च जातीय" भाड़े के सैनिकों पर कोई विश्वास नहीं था। लार्ड डलहौज़ी के गवर्नर जनरल होने के समय से तीन सैनिक विद्रोह हो चुके थे, 1849 में 22वे एन. आई. का विद्रोह, 1850 में 66वें एन. आई. का विद्रोह और 1852 में 38वें एन. आई. का विद्रोह।

'बंगाल सेना' के सैनिक अवध की समस्त असैनिक जनता की भावनाओं को प्रकट करते थे। मौलाना आज़ाद के अनुसार अवध के विलय ने "सेना में साधारणतः और बंगाल सेना में विशेषतः विद्रोही भावना का प्रारम्भ किया.. उन्होंने सहसा यह अनुभव किया कि यह शक्ति जो कम्पनी ने उनकी सेवा और बलिदान द्वारा प्राप्त की है, आज उन्हीं के राजा को समाप्त करने के लिए प्रयोग की जा रही है।"

नोट

भारत में अंग्रेज़ी साम्राज्य के प्रसार से सैनिकों की सेवा शर्तों पर प्रतिकूल प्रभाव हुआ। अब उन्हें अपने देश से दूर सेवा करनी पड़ती थी और अतिरिक्त भत्ता नहीं मिलता था। सैनिक उन दिनों का स्मरण करते थे जब भरतीय राजा उनकी सेवाओं से प्रसन्न होकर उन्हें जागीरें और पुरस्कार देते थे। अब अंग्रेज़ों की सिन्ध और पंजाब की विजय से उनकी स्थिति बिगड़ गई थी। 1824 में बैकरपुर में सैनिकों ने समुद्र पार बर्मा में सेवा करने से मनाही कर दी थी और इसके फलस्वरूप 47वीं रेज़िमेन्ट भंग की गई थी। 1844 में चार बंगाल रेजिमेंटों ने उन्हें अतिरिक्त भत्ता न मिलने तक सिन्ध में जाने से मनाही कर दी थी।

1856 में केनिंग की सरकार ने सामान्य सेना-भर्ती अधिनियम (General Service Enlistment Act) पारित कर दिया जिसके अनुसार बंगाल सेना के सभी भावी सैनिकों को यह स्वीकार करना होता था कि जहां कहीं भी सरकार को आवश्यकता होगी वे वहीं कार्य करेंगे। इस अधिनियम का प्रभाव पुराने सैनिकों पर नहीं था परन्तु सैनिक सेवा प्राय: वंशानुगत होती थी अतएव यह अधिनियम बहुत अप्रिय था। इसके अतिरिक्त जो सैनिक 1839-42 तक अफ़गानिस्तान में सेवा कर आए थे उन्हें उनके समाज ने उनकी जाति में पुन: नहीं लिया गया था। जिन सैनिकों को विदेश सेवा के लिए अनुपयुक्त घोषित कर दिया था उन्हें पेन्शन सहित निवृत होने की आज्ञा नहीं थी अपितु उन्हें छावनियों में नियुक्त कर दिया जाता था।

सन् 1854 में डाक घर अधिनियम के पारित होने पर सैनिकों की नि:शुल्क डाक सुविधा समाप्त कर दी गई। इसके अतिरिक्त यूरोपीय और भारतीय सैनिकों का अनुपात दिन-प्रतिदिन बढ़ता जा रहा था। 1856 में भारतीय सेना में 2,38,000 भारतीय सैनिक और 45,322 यूरोपीय सैनिक थे। सेना में कुशल अधिकारियों के अभाव के कारण यह असमानता और भी गंभीर हो गई थी क्योंकि बहुत से सैनिक अधिकारी नवविजित प्रदेशों में प्रशासनिक कार्यों में लगे हुए थे। सैनिकों का वितरण भी दोषपूर्ण था। इसके अतिरिक्त क्रीमियन युद्ध (Crimean War) में विनाश के कारण सैनिकों का साधारण मानसिक बल भी कम से कम हो गया था। इन सभी कारणों से भारतीय सैनिकों को विश्वास हो गया था कि यदि वे उस समय आक्रमण करें तो उन्हें सफलता की पर्याप्त संभावना है। अतएव वे अवसर की प्रतीक्षा में थे जो चर्बी वाले कारतूसों ने उन्हें दे दिया। इन कारतूसों ने कोई नवीन कारण प्रस्तुत नहीं किया अपितु एक ऐसा अवसर प्रदान किया जिससे उनके भूमिगत असन्तोष प्रकट हो गए।

1856 में सरकार ने पुरानी लोहे वाली बन्दूक ब्राउन बैस (Brown Bess) के स्थान पर नवीन एनफील्ड राइफ़ल (New Enfield Rifle) को जो अधिक अच्छी थी, प्रयोग करने का निश्चय किया। इस नवीन राइफ़ल के प्रयोग का प्रशिक्षण डम-डम, अम्बाला और स्यालकोट में दिया जाना था इस नई राइफ़ल में कारतूस के ऊपरी भाग को मुंह से काटना पड़ता था। जनवरी 1857 में बंगाल सेना में यह अफ़वाह फैल गई कि चर्बी वाले कारतूस में गाय और सूअर की चर्बी है। सैनिक अधिकारियों ने इस अफ़वाह की जांच किये बिना तुरन्त इसका खण्डन कर दिया। कालान्तर में पूछताछ ने सिद्ध कर दिया कि "गाय और बैलों की चर्बी वास्तव में ही वूलिच शस्त्रागार (Woolwich arsenal) में प्रयोग की जाती थी" (V.A. Smith)। लोगों ने कहना आरम्भ कर दिया था कि कम्पनी औरंगज़ेब की भूमिका में है और सैनिकों को शिवाजी ही बनना है।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

1. रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks)–

1. मालसेन ने ठीक ही कहा था कि भारतीयों को यह प्रतीत होने लगा था कि अंग्रेज "....." की भूमिका निभा रहे हैं।
2. 1856 में फकीरुद्दीन की मृत्यु के पश्चात् ..... ने घोषणा की कि शहजादे को राजकीय उपाधि और मुगल महल दोनों ही छोड़ देने होंगे।
3. विद्रोह का एक और राजनीतिक कारण भारत में ब्रिटिश शासन का स्वरूप ..... के रूप में थी।
4. सेना में ऊँचे से ऊँचा पद जो किसी भारतीय को मिल सकता था वह ..... का था जिसका मासिक वेतन 60 अथ्वा 70 रुपये था।
5. असैनिक प्रशासन में ऊँचा पद जिस पर भारतीय काम कर सकता था सदर अमीन का पद था जिसका वेतन ..... था।

नोट

7.2 आरम्भ, प्रसार और पतन (Beginning, Spread and Suppresion)

सैनिकों के चर्बी वाले कारतूसों के प्रयोग करना स्वीकार न करने पर उन पर अनुशासनहीनता का अपराध लगाकर उन्हें दण्ड दिया गया। 29 मार्च, 1857 को बैकरपुर में सैनिकों ने इन कारतूसों को प्रयोग करने से मनाही कर दी और एक सैनिक मंगल पांडे ने अपने एजुटेंट (adjutant) पर आक्रमण कर उसकी हत्या कर दी। 34 वीं एन. आई. रेजिमेन्ट तोड़ दी गई और अपराधियों को दण्ड दिया गया। मई 1857 में मेरठ में 85 सैनिकों ने इन कारतूसों को प्रयोग करने से इनकार कर दिया। उन्हें सैनिक न्यायालय ने दीर्घकालीन कारावास का दण्ड सुनाया। 10 मई को सैनिकों ने खुला विद्रोह कर दिया और अपने अधिकारियों पर गोली चलाई। अपने साथियों को मुक्त करवा कर वे लोग दिल्ली की ओर चल पड़े। जनरल हेविट (General Hewitt) के पास 2200 यूरोपीय सैनिक थे परन्तु उसने इस तूफ़ान को रोकने का कोई प्रयास नहीं किया।

1857-58 के बीच सैनिक विप्लव और असैनिक विद्रोह पर टिप्पणी

2 फरवरी, 1857	:	9वीं स्थानीय पैदल सेना का बहरामपुर में विप्लव।
10 मई, 1857	:	मेरठ में सैनिकों का विप्लव।
11-30 मई, 1857	:	दिल्ली, फ़ीरोजपुर, बम्बई, अलीगढ़, एटावा, बुलन्दशहर, नसीराबाद, बरेली, मुरादाबाद, शाहजहाँनपुर, तथा अन्य उत्तर प्रदेश के नगरों में विद्रोह का फूटना। मुग़ल सम्राट को भारत का सम्राट घोषित करना।
जून 1857	:	ग्वालियर भरतपुर, झांसी, इलाहाबाद, फैज़ाबाद, सुलतानपुर, लखनऊ इत्यादि में विप्लव।
	:	गंगा और सिन्ध के मैदानों में, राजपूताने में, मध्य भारत तथा बंगाल के कुछ भागों में असैनिक विद्रोह।
जुलाई 1857	:	इन्दौर, महू, सागर तथा जेहलम और स्यालकोट जैसे पंजाब के कुछ स्थानों पर विप्लव।
अगस्त 1857	:	सागर और नर्मदा घाटी के समस्त प्रदेश में असैनिक विद्रोह।
सितम्बर 1857	:	दिल्ली पर अंग्रेज़ों का पुनः अधिकार। मध्य भारत में विद्रोह।
अक्टूबर 1857	:	कोटा राज्य में विद्रोह फैलना।
नवम्बर 1857	:	विद्रोहियों ने जनरल विण्डहम को कानपुर के समीप परास्त किया।
दिसम्बर 1857	:	कानपुर का युद्ध सर कॉलिन कैम्बल ने जीता। तांत्या टोपे निकल भागा।
मार्च 1858	:	लखनऊ पर पुनः अंग्रेज़ी अधिकार, बिहार में जगदीशपुर के कुंवर सिंह द्वारा विद्रोह।
अप्रैल 1858	:	झांसी पर अंग्रेज़ी अधिकार, बिहार में जगदीशपुर के कुंवर सिंह द्वारा विद्रोह।
मई 1858	:	अंग्रेज़ों ने बरेली, जगदीशपुर काल्पी को पुनः जीता। भारतीय विद्रोहियों ने रुहेलखण्ड में छापामार आक्रमण आरम्भ किया।
जुलाई-दिसम्बर	:	सम्पूर्ण भारत में अंग्रेज़ी सत्ता पुनः स्थापित।

विद्रोहियों ने 12 मई को दिल्ली पर अधिकार कर लिया। लेफ्टिनेन्ट विलोबी ने जो दिल्ली में शस्त्रागार का कार्यवाहक था, कुछ प्रतिरोध किया परन्तु पराजित हुआ। महल तथा नगर पर अधिकार कर लिया गया। दिल्ली के कुछ यूरोपीय गोली से उड़ा दिए गए। बहादुरशाह द्वितीय को भारत का सम्राट घोषित कर दिया गया। दिल्ली नगर का हाथ से निकलना अंग्रेज़ों के लिए एक भारी क्षति थी।

विद्रोह शीर्घ ही समस्त उत्तरी और मध्य भारत में फैल गया। लखनऊ, इलाहाबाद, कानपुर बरेली, बनारस, बिहारके कुछ भाग, झांसी और कुछ अन्य प्रदेश, सभी में विद्रोह हो गया। अंग्रेज़ों के सौभाग्य से कई भारतीय शासक राजभक्त बने रहे और विद्रोह के दमन में उन्होंने बहुमूल्य योगदान किया। नर्मदा नदी के दक्षिणी भाग व्यवहारतः शान्त रहे।

नोट

दिल्ली पर पुन: अधिकार मानसिक दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण था अतएव अंग्रेज़ों ने उस दिशा में प्रयत्न किया। पंजाब से सेनाएँ दिल्ली की ओर बुलाई गईं और उत्तर की ओर से आक्रमण किया गया। भारतीय सैनिकों ने घोर युद्ध किया और अन्त में सितम्बर 1857 में अंग्रेज़ों का दिल्ली पर पुन: अधिकार हो गया परन्तु इस घेरो के सेनानी जॉन निकलसन (John Nicholson) हताहत हुए और वीर गति को प्राप्त हुए। सम्राट को बन्दी बना लिया गया। दिल्ली के निवासियों से प्रतिशोध लिया गया। लेफ्टिनेन्ट हॉडसन ने सम्राट के दो पुत्रों को और एक पोते को यह वचन देकर कि उन्हें कोई क्षति नहीं पहुंचाई जाएगी, गोली से मार डाला।

लखनऊ में विद्रोह 4 जून को आरम्भ हुआ। ब्रिटिश रेज़िडेन्ट हेनरी लॉरेन्स ने यूरोप निवासियों और लगभग 2,000 राजभक्त भारतीय सैनिकों के संग रेज़िडेन्सी में शरण ली। भारतीय सैनिकों ने रेज़िडेन्सी को घेर लिया। इस घेरे में हेनरी लॉरेन्स की मृत्यु हो गई। तत्पश्चात ब्रिगडियरी इंग्लिस (Brigadier Ingliss) ने घेरने वालों का वीरता से प्रतिरोध किया। हेवलॉक (Havelock) और आउट्रम (Outram) के लखनऊ को पुन: जीतने के प्रारम्भिक प्रयत्न निष्फल रहे परन्तु नबम्बर 1857 में नए मुख्य सेनापति सर कॉलिन कैम्बल (Sir Colin Campbell) जो इंग्लैंड से भेजे गए थे, ने गोरखा रेजिमेंट की सहायता से नगर में प्रवेश किया और यूरोपीय लोगों की रक्षा की। मार्च 1858 में नगर पर अंग्रेज़ों का पुन: अधिकार हो गया यद्यपि इक्का-दुक्का आक्रमण सितम्बर 1858 तक चलते रहे।

कानपुर अंग्रेज़ी के हाथ से 5 जून 1857 को निकल गया। नाना साहिब को पेशवा घोषित कर दिया गया। जनरल सर ह्यू व्हीलर (General Sir Hugh Wheeler) जो छावनी के कमाण्डर थे, उन्होंने 27 जून को आत्म-समर्पण कर दिया। कुछ यूरोपीय पुरुष, महिलाओं तथा बालकों की हत्या कर दी गई। वहां पेशवा नाना सहित को अपने दक्ष सहायक तांत्या टोपे की सहायता भी प्राप्त हो गई। कानपुर पर पुन: अधिकार का प्रयत्न लखनऊ पर पुन: अधिकार से बहुत निकट से सम्बन्धित था। सर कैम्बल ने कानपुर पर 6 दिसम्बर को पुन: अधिकार कर लिया। तांत्या टोपे भाग निकले और झांसी की रानी से जा मिले।

जून 1857 के आरम्भ में झांसी ने भी विद्रोह कर दिया। रानी लक्ष्मी बाई, राजा गंगाधर राव की विधवा को रियासत की शासक घोषित कर दिया गया। कानपुर के पतन के पश्चात् तांत्या टोपे भी पहुंच गए। सर ह्यू रोज़ ने झांसी पर आक्रमण करके 3 अप्रैल, 1858 को पुन: उस पर अधिकार कर लिया।

झांसी की रानी तथा तांत्या टोपे ने ग्वालियर की ओर अभियान किया, जहां भारतीय सैनिकों ने उनका स्वागत किया। परन्तु सिन्धिया ने राजभक्त रहने का निश्चय किया और आगरा में शरण ली। नाना साहिब को पेशवा घोषित कर दिया और दक्षिण की ओर अभियान करने की योजना बनाई। ग्वालियर पर जून 1858 में अंग्रेज़ों ने पुन: अधिकार कर लिया। झांसी की रानी वेशभूषा में लड़ती हुई दुर्ग की दीवारों के पास वीर गति को प्राप्त हुई। तांत्या टोपे फिर बच निकले परन्तु अप्रैल 1859 में उन्हें सिन्धिया के एक सामन्त ने पकड़ लिया और अंग्रेज़ों ने उन्हें फांसी से लटका दिया।

बरेली में ख़ान बहादुर ख़ान ने स्वयं को नवाब नाज़िम घोषित कर दिया। बिहार में एक स्थानीय ज़मींदार जगदीशपुर के कुंवर सिंह ने विद्रोह की पताका फहरा दी। बनारस में भी विद्रोह हुआ परन्तु कर्नल नील ने उसे दृढ़तापूर्वक दबा दिया और सभी विद्रोहियों, सन्दिग्ध व्यक्तियों और उच्छृंखल लड़कों को भी फांसी पर लटका दिया। जुलाई 1858 तक विद्रोह पूर्णतया शान्त हो गया था।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

2. सही विकल्प चुनिए (Choose correct option)–

1. अंग्रेज सरकार ने एनफील्ड राइफल को प्रयोग में लाना कब शुरू किया

   (क) 1855 (ख) 1856 (ग) 1857 (घ) 1858

2. बैकरपुर छावनी में सैनिकों ने चर्बीयुक्त कारतूसों के प्रयोग करने से मनाही कब की

   (क) 20 मार्च 1857 (ख) 27 मार्च 1857 (ग) 24 मार्च 1857 (घ) 29 मार्च 1857

नोट

3. किस तिथि को विद्रोही सैनिक दिल्ली की ओर चल पड़े?

(क) 8 मई 1857 (ख) 9 मई 1857 (ग) 10 मई 1857 (घ) 11 मई 1857

4. लखनऊ और कानपुर में विद्रोह कब प्रारम्भ हुआ

(क) 4 और 5 जून (ख) 10 और 11 जून (ग) 8 और 10 जून (घ) 14 और 15 जून

5. बिहार के जमींदार कुंवर सिंह ने विद्रोह की पताका फहराई वे सम्बद्ध थे

(क) आरा से (ख) बलिया से (ग) छपरा से (घ) जगदीशपुर से

7.3 विद्रोह असफल क्यों हुआ? (Why the Revolt Failed)

सन् सत्तावन का विद्रोह, स्थानीय सीमित और कुसंगठित था। बम्बई और मद्रास की सेनाएं राजभक्त रहीं। नर्मदा नदी के दक्षिण के प्रदेश में बहुत थोड़ी सी अशान्ति फैली। सिन्ध और राजस्थान शान्त रहे और नेपाल की सहायता बहुत लाभप्रद सिद्ध हुई। अफ़गानिस्तान का शासक दोस्त मुहम्मद भी मित्रवत बना रहा। जॉन लारेन्स ने पंजाब को सफलतापूर्वक नियन्त्रण में रखा। पश्चिमी बिहार, अवध, रुहेलखण्ड, दिल्ली तथा नर्मदा तथा चम्बल के मध्य के प्रदेश ही सब से अधिक प्रभावित हुए।

- अंग्रेज़ी साम्राज्य के साधन विद्रोहियों के साधनों की अपेक्षा बहुत अधिक थे। अंग्रेज़ों के सौभाग्य से क्रीमियम तथा चीनी, युद्ध 1856 तक समाप्त हो चुके थे। 1,12,000 यूरोपीय सैनिक संसार के भिन्न-भिन्न भागों से भारत में उपस्थित हो गए। 3,10,000 अतिरिक्त भारतीय सेना का यहां पर ही गठन किया गया। भारतीय विद्रोहियों के पास बन्दूके बहुत थोड़ी थी और वे प्राय: तलवारों और भालों से लड़े। दूसरी ओर अंग्रेज़ी सेना आधुनिकतम हथियारों जैसे कि एनफ़ील्ड राइफ़ल इत्यादि से लैस थी। नाना साहिब ने तो एक बार कहा था, "यह नीली टोपी वाली राइफ़ल तो गोली चलने से पहले ही मार देती है।" विद्युत तार व्यवस्था द्वारा मुख्य सेनापति विद्रोहियों की गतिविधियों से अवगत रहे। विद्रोह का शमन करने के लिए एक सामूहिक योजना बनाई गई। टाइम्ज़ आफ़ लण्डन के संवाददाता ने विद्युत तार के लाभ को इन शब्दों में प्रकट किया, "विद्युत संचालित तार व्यवस्था के आविष्कार ने आज तक इतनी महत्त्वपूर्ण भूमिका कभी नहीं निभाई जैसी कि आजकल वह भारत में निभा रही है। इसके बिना मुख्य सेनापति अपनी सेना की आधी शक्ति खो बैठेंगे। इसने तो सेनापति के दाहिने हाथ से भी अधिक सेवा की है। यदि हम अंग्रेज़ी साम्राज्य के विशाल साधनों तथा उसकी सामुद्रिक शक्ति की वरिष्ठता की ओर देखें तो यह भी कहा जा सकता था कि यदि विद्रोही अंग्रेज़ों को समुद्र में अथवा तटीय प्रदेशों में भी खदेड़ देते तो भी शीघ्र ही वे भारत को अपनी वरिष्ठ शक्ति द्वारा पुन: जीत लेते।"
- 1857 के विद्रोह का स्वरूप मुख्यत: सामन्तवादी था, जिसमें कुछ राष्ट्रवादी के तत्व विद्यमान थे। अवध और रुहेलखण्ड के तथा अन्य उत्तरी भारत के सामन्तवादी तत्वों ने विद्रोह का नेतृत्व किया और दूसरी ओर अन्य सामन्तवादी तत्वों ने जैसे कि पटियाला, जीन्द, ग्वालियर और हैदराबाद के राजाओं ने इस विद्रोह के दमन करने में सहायता की। यूरोपीय इतिहासकारों ने ग्वालियर के मन्त्री सर दिनकर राव और हैदराबाद के मन्त्री सालार जंग की राजभक्ति की बहुत सराहना की है। संकट के समय कैनिंग ने कहा था, "यदि सिन्धिया भी विद्रोह में सम्मिलित हो जाए तो मुझे कल ही बिस्तर गोल करना होगा।" कैनिंग ने बहुत बुद्धिमत्ता से कार्य लिया जब उसने भारतीय राजाओं से निश्चित प्रतिज्ञा कर उनका समर्थन प्राप्त कर लिया। विद्रोह शमन के पश्चात भारतीय राजाओं को विशेष रूप से पुरस्कृत किया गया। निज़ाम को बराड़ का प्रान्त लौटा दिया गया और उसके ऋण क्षमा कर दिये गए। सिन्धिया, गायकवाड़ और राजपूत राजाओं को भी कुछ पुरस्कार मिले।
- विद्रोह का गठन ठीक नहीं था। विद्रोह के नेताओं में वीरता की कमी नहीं थी परन्तु अनुभव, संगठन क्षमता तथा मिलकर कार्य करने की शक्ति की कमी थी। छापा मारने से अथवा सहसा आक्रमण करने से लुप्त स्वतन्त्रता नहीं लौट सकती थी। विद्रोह समाप्त होने के पश्चात जो अनेक आयोग और जांच समितियां नियुक्त की गईं उनमें से किसी को भी विद्रोह के पीछे योजनाबद्ध कार्यक्रम के प्रमाण नहीं मिले। बहादुरशाह द्वितीय

नोट

के अभियोग ने तो यह भी सिद्ध कर दिया कि यह विद्रोह उसके लिए उतना ही आकस्मिक था जितना कि अंग्रेज़ों के लिए।

- विद्रोहियों के सन्मुख विदेशी-विरोध भावना के अतिरिक्त कोई अन्य समान उद्देश्य नहीं था। दिल्ली में बहादुरशाह द्वितीय को सम्राट घोषित कर दिया गया और ग्वालियर में नाना साहिब को पेशवा। हिन्दू-मुस्लिम मतभेद समान शत्रु के सम्मुख निष्क्रिय तो हो गए परन्तु समाप्त नहीं हुए।
- सौभाग्यवश कम्पनी को लॉरेन्स बन्धु, निकलसन, आउट्रम, हेवलॉक, एडवर्ड्स जैसे विशेष योग्य व्यक्तियों की सेवाएं प्राप्त थीं। ये सब प्रतिष्ठित और अनुभवी सैनिक थे। उन्होंने आरम्भिक काल में कठिनतम युद्ध लड़े और विदेश से सहायता आने तक स्थिति को संभाले रखा।

7.4 विद्रोह का परिणाम (Aftermath of The Revolt)

सन् सत्तावन का विद्रोह यद्यपि पूर्णतया दमन हो गया फिर भी इसने भारत में अंग्रेज़ी साम्राज्य को मूल से हिला दिया। लार्ड क्रोमर ने कहा था, "काश कि अंग्रेज़ की युवा पीढ़ी भारतीय विद्रोह के इतिहास को पढ़े, ध्यान दे, सीखे और इसका मनन करे। इसमें बहुत से पाठ और चेतावनियाँ निहित हैं।" भारत पर नियंत्रण की विधियां (techniques) यद्यपि परिपक्व हो चुकी थीं, उनको पुन: स्थापित किया गया और उसके उपरान्त समान रूप से प्रत्येक स्थान पर लगाई गईं। प्रतिक्रियावादी और निहित स्वार्थों को अच्छी प्रकार सुरक्षित किया गया और उन्हें प्रोत्साहित किया गया और वे भारत में अंग्रेज़ी साम्राज्य के स्तम्भ बन गये। "फूट डालो और राज्य करो" की नीति का जानबूझ कर अनुसरण किया गया और यह अंग्रेज़ी नियन्त्रण का मुख्य आधार बन गई और सैनिक तथा असैनिक प्रशासन में मुख्य पदों पर यूरोपीय नियंत्रण कड़ा कर दिया गया।

1858 के भारत सरकार अधिनियम द्वारा भारतीय प्रशासन का नियन्त्रण कम्पनी से छीनकर ब्रिटिश राजमुकुट (Crown) को सौंप दिया गया। परन्तु जैसा कन्निघम ने कहा था कि यह परिवर्तन "औपचारिक था वास्तविक नहीं।" सर हेनरी रॉलिन्सन (Sir Henry Rawlinson) जो कम्पनी के एक डाइरेक्टर थे और कम्पनी की समाप्ति के पक्ष में थे, ने ठीक ही कहा था, "हम परिवर्तन का एक बड़ा परिणाम नाम का परिवर्तन होगा जिसमें आरम्भ करके साम्राज्य के एक नवीन दौर पर अग्रसर हो सके।" भारत में वही पहला गवर्नर-जनरल, वही पहले जैसा सैनिक और असैनिक प्रशासन चलता रहा। इंग्लैण्ड में इस अधिनियम द्वारा एक भारतीय राज्य सचिव (Secretary of State for India) का प्रावधान किया गया और उसकी सहायता के लिए एक 15 सदस्यों की मन्त्रणा परिषद (Advisory council) होनी थी जिसमें से 8 सरकार द्वारा मनोनीत होने थे ओर शेष सात कोर्ट आफ़ डाइरेक्टर्स द्वारा चुने जाते थे। इस प्रकार पुराने डाइरेक्टर्स ही भारत परिषद में नियुक्त हो गए। कोई नीति परिवर्तन नहीं हुआ अपितु इस घोषणा में कम्पनी की पुरानी नीतियों के अनुसरण का ही प्रस्ताव था।

1724 से ही सरकार ने बोर्ड आफ़ कन्ट्रोल द्वारा भारतीय मामलों में पर्याप्त प्रभाव बना रखा था और वास्तव में सभी प्रमुख मुद्दों पर निर्णायक कथन उन्हीं का होता था। 1858 की घोषणा से दोहरा नियन्त्रण समाप्त हो गया और सरकार ही सीधे भारतीय मामलों के लिए उत्तरदायी हो गई।

महारानी की घोषणा के अनुसार, "क्षेत्रों का सीमा विस्तार (extension of territorial possessions)" की नीति समाप्त कर दी गई और "स्थानीय राजाओं के अधिकार, गौरव तथा सम्मान" को अपने समान ही संरक्षण का विश्वास दिलाया गया। अंग्रेज़ी प्रजा की हत्या के दोषियों को छोड़कर शेष सभी को क्षमा कर दिया गया। भारतीय रियासतों ने उस तूफ़ान को-"जो यदि न रोका जाता तो सम्भवत: हम (अंग्रेज़ों) सबको एक लहर में बहा ले जाता-रोकने के लिए एक बांध का काम किया।" उन्हें साम्राज्य की प्राचीर के रूप में बनाए रखने के सिद्धान्त को अंग्रेज़ी साम्राज्य का एक मुख्य मूल तत्व बना लिया गया। जिन तालुकदारों ने बड़ी संख्या में विद्रोह में भाग लिया था, उसने राजभक्ति के प्रण लेकर अपनी-अपनी जागीरों में पुन: स्थापित कर दिया गया। जैसा कि पंडित नेहरू ने कहा है कि ये लोग जो अपने आप को "अवध के नबाव"

नोट

(barons of Oudh) कहलाने में गर्व अनुभव करते थे, वही ब्रिटिश साम्राज्य के स्तम्भ बन गए। इस प्रकार सामन्तवादी और प्रतिक्रियावादी तत्व साम्राज्यवाद के विशेष कृपापात्र बन गए।

1858 की घोषणा में विश्वास दिलाया गया था कि "हमारी प्रजा किसी भी जाति अथवा धर्म की क्यों न हो, स्वतन्त्र रूप से और बिना भेदभाव के उन कार्यों के लिए जिनके लिए वह अपनी विद्या, योग्यता तथा ईमानदारी से करने के योग्य हो, हमारी सेवा तथा पदों पर नियुक्त की जाएगी।" इस प्रतिज्ञा को पूर्ण करने के लिए 1861 में भारतीय जनपद सेवा अधिनियम (Indian Civil Service Act) बनाया गया जिसके अनुसार प्रत्येक वर्ष लण्डन में एक प्रतियोगिता परीक्षा हुआ करेगी ताकि संश्रावित जनपद सेवा (Covenanted Civil Service) में भर्ती की जा सके। दुर्भाग्यवश जो विस्तृत नियम इस परीक्षा के लिए बनाए गए उनसे यह सेवा केवल अंग्रेजों की परिरक्षित बनी है।

इस विद्रोह के लिए मुख्यत: भारतीय सेना ही उत्तरदायी थी। इसका पूर्णतया पुनर्गठन किया गया और इसका गठन "विभाजन और प्रतितोलन (division and counterpoise)" की नीति पर किया गया। 1861 की "सेना संमिश्रण योजना (Army Amalgamation Scheme)" के अनुसार कम्पनी की यूरोपीय सेना सरकार को हस्तान्तरित कर दी गई। यूरोपीय सैनिकों को समय-समय पर इंग्लैंड भेजकर उनका निरन्तर नवीकरण (renovation) किया जाता था। यूरोपीय सैनिकों की 1857 से पहले की संख्या जो 40,000 थी अब 65,000 कर दी गई और भारतीय सेना की संख्या जो पहले 2,38,000 थी अब 1,40,000 निश्चित कर दी गई और एक साधारण सूत्र (formula) यह बन गया कि बंगाल प्रेसिडेन्सी में यूरोपीय और भारतीय सैनिकों का अनुपात 1:2 का होना चाहिए और मद्रास तथा बम्बई प्रेज़िडेन्सियों में 1:3 का। इसके अतिरिक्त भारतीय सैनिकों से प्रतितोलन (counterpoise) किया जाना चाहिए। इस भावना का सेना के पुनर्गठन के लिए पंजाब समिति की रिपोर्ट में इन शब्दों में वर्णन किया गया था : "विशिष्टता (distincion) जो एक बहुत मूल्यवान वस्तु है और जो अब तक इस प्रकार चलती रही है कि देश के मुसलमानों को दूसरे देश के मुसलमानों से भयभीत तथा घृणा कराती है-को बनाए रखने के हेतु भविष्य में सैनिक निकास (corps) प्रान्तीय होना चाहिए और उन क्षेत्रों में, जहां प्रतिद्वन्द्विता बहुत विशेष रूप से लक्षित है, उसे भौगोलिक सीमा तक सीमित रखना चाहिए।" सेना और तोपख़ाने में ऊंचे पद केवल यूरोपीयों के लिए ही आरक्षित कर दिए गए। 1857 के विद्रोह के पश्चात पचास वर्षों में एक भी भारतीय "राज आयुक्ति (Viceroy's Commission)" के भारतीय पदाधिकारियों से अधिक उत्तम माने जाते रहे।

इस तथ्य को अधिकाधिक रूप में अनुभव किया गया कि इस विद्रोह का एक मूलभूत कारण, शासितों और शासकों के बीच सम्पर्क का न होना था। सर बार्टल फ्रेअर (Sir Bartle Frere) ने अपनी 1860 की प्रसिद्ध टिप्पणी में विधान परिषदों में "स्थानीय तत्वों" (native elements) को सम्मिलित करने का आग्रह किया था। ऐसा विश्वास किया गया कि भारतीयों को विधान कार्य में सहकारी बनाने से शासक भारतीयों को भावनाओं से परिचित हो सकेंगे और भ्रम दूर करने के अवसर मिल सकेंगे। इसी दिशा में एक छोटा सा प्रयत्न भारतीय परिषद् अधिनियम (Indian Councils Act) 1861 द्वारा किया गया।

सम्भवत: इस विद्रोह के भावनात्मक प्रभाव सबसे दुर्भाग्यपूर्ण थे। जातीय कटुता इस संघर्ष की सबसे दुष्टतम रिक्थ (legacy) थी। पंच ने अपने व्यंगचित्रों में भारतीयों को उपमानव जीव (Sub-human creature) जो आधा गोरिल्ला और आधा नीग्रो था, के रूप में प्रदर्शित किया जो केवल वरिष्ठ शक्ति द्वारा ही नियन्त्रण में रखा जा सकता था। भारत में साम्राज्यवाद के एजेन्टों ने समस्त भारतीय लोगों को अविश्वसनीय ठहरा दिया और उन्हें अपमान, तिरस्कार और निन्दनीय व्यवहार का भागी बनना पड़ा। जवाहर लाल नेहरू के शब्दों में, "साम्राज्यवाद और एक जाति का दूसरी जाति पर अधिकार बुरा तो है ही और जातीयवाद और भी बुरा है। परन्तु साम्राज्यवाद और जातीयवाद दोनों मिलकर केवल भय (horror) की ओर अग्रसर होते हैं और वे उन सब लोगों को जो इससे सम्बन्धित हैं, पतन की ओर ले जाते हैं।" भारत में अंग्रेज़ों ने एक 'स्वामी जाति' (master race) की परम्परा बना दी। यह नवीन साम्राज्यवाद का औचित्य 'श्वेत व्यक्ति का बोझ' (White man's burden) के दर्शन और अंग्रेज़ों की भारत को सभ्य बनाने की भूमिका द्वारा सिद्ध किया गया। दोनों

नोट

जातियों में खाई चौड़ी होती चली गई और यह कभी-कभी राजनैतिक विवादों, प्रदर्शनों और हिंसा के कार्यों में परिवर्तित हो जाती थी।

1857 के विद्रोह ने एक युग का अन्त कर दिया और एक नवीन युग के बीज बोए। प्रादेशिक विस्तार के स्थान पर आर्थिक शोषण का युग आरम्भ हुआ। अंग्रेज़ी साम्राज्य के लिए सामन्तवादी युग का भय सदा के लिए समाप्त हो गया और अंग्रेज़ी साम्राज्य के लिए नई चुनौती उस प्रगतिशील भारत से ही आई जो उन्नीसवीं शताब्दी के उदारवादी अग्रेजों और जॉन स्टूअर्टमिल (John Stuart Mill) के दर्शन पर पला था।

7.5 1857 के विद्रोह पर चुने हुए विचार (Select Opinions of The Revolt of 1857)

आर. सी. मजूमदार (R.C. Majumdar)—इससे यह स्पष्ट है कि 1857 के असैनिक विद्रोह को स्वतन्त्रता संग्राम तभी कह सकते हैं यदि हम लोग इसका अर्थ अंग्रेज़ों के विरुद्ध एक छोटा-सा संघर्ष मान लें। परन्तु उस अवस्था में तो पिण्डारियों के अंग्रेज़ों के विरुद्ध संघर्ष अथवा वहाबियों के सिक्खों के विरुद्ध संघर्ष को भी ऐसा ही स्वीकार करना पड़ेगा। जो इसको इस रूप में मानते हैं उन्हें यह देखना होगा कि 1857 के विद्रोही किस सीमा तक आर्थिक अथवा धार्मिक उद्देश्यों से प्रेरित थे जिन प्रेरणाओं से पिण्डारी अथवा वहाबी प्ररित थे तथा किस सीमा तक वे निर्लिप्त भावना तथा देशभक्ति से प्रेरित हो देश को विदेशी बंधन से मुक्त कराना चाहते थे। इक्का-दुक्का उदाहरणों को छोड़कर अभी तक कोई ऐसे तथ्य सामने नहीं आए जिनसे सिद्ध हो सके कि लोगों के विद्रोह का मुख्य उद्देश्य विदेशी बन्धन से मुक्ति पाना था। अन्त में इससे यह सिद्ध होता है कि यह तथाकथित प्रथम राष्ट्रीय स्वतन्त्रता संग्राम, न तो यह प्रथम, न ही राष्ट्रीय तथा न ही स्वतन्त्रता संग्राम था।..... ("It is difficult to avoid the conclusion that the so called First National War of Independence of 1857 is neither First, nor National, nor a War of Independence.") (*British Paramountcy and Indian Renaissance. Part 1*) p. 624-25.

एस. एन. सेन (S.N. Sen)—सैनिक विद्रोह अनिवार्य था। कोई भी विजित राष्ट्र सदा के लिए विदेशी दासता में नहीं रह सकता। एक तानाशाही शक्ति को अन्त में तलवार की शक्ति से ही राज करना पड़ता है, चाहे वह उसे मखमल की म्यान में ही रखे। भारत में यह तलवार सिपाहियों की सेना (sepoy army) के संरक्षण में थी। सिपाहियों तथा उनके विदेशी स्वामियों के बीच, जाति, भाषा अथवा धर्म का कोई बन्धन नहीं था।.....सैनिक विद्रोह 1857 में तो अनिवार्य नहीं था परन्तु यह साम्राज्य के संविधान में अन्तर्भूत (inherent) था। (The Mutiny was not inevitable in 1857, but it was inherent in the constitution of the Empire.) (*Eighteen Fifty-Seven, p. 417.*)

एस. बी. चौधरी (S.B. Choudhuri)—स्वतन्त्रता का प्रथम युद्ध तो यह था ही क्योंकि भारतीय इतिकास के समस्त लिखित पट से हमने विशाल-विदेशी-विरुद्ध संयोजन (gigantic anti-foreign combine) को खोजना असम्भव है, जिसमें बहुत से लोग तथा बहुत से प्रान्त जुटे हों (First War of Independence it certainly was, as in the whole canvas of the recorded history of India it would be difficult to find a parallel to this gigantic anti-foreign combine of all classes of people and of many provinces of India.) (*Theories of the Indian Mutiny*): भारत में लगातार एक वर्ष तक निरन्तर चलता रहने वाला युद्ध जो सभी प्रदेशों में एक ही समय में चलता रहे तथा जिसका उद्देश्य विदेशी शासक शक्ति को अपमानित करना तथा देश से निकालना हो, ऐसा इससे पूर्व कभी भारत में नहीं हुआ था।

मौलाना अबुल कलाम आज़ाद, प्रश्न यह उठता है कि क्या यह विद्रोह केवल राष्ट्रीय भावना से प्रेरित था। यदि हम राष्ट्रीय भावना के अर्थ आधुनिक अर्थों में लें तो उत्तर है कि ऐसा नहीं था.....इससे पूर्व कि लोग विद्रोह करें, देश प्रेम को धार्मिक प्रेम से भी जोड़ना पड़ता था।.....परन्तु हार का सबसे प्रमुख कारण जो सामने आता है, वह था विद्रोही नेताओं का आपसी द्वेष, तथा एक दूसरे के विरुद्ध षड्यंत्र रचना। (सेन की पुस्तक का प्राक्कथन p. xiv-xv)

नोट

7.6 सारांश (Summary)

- सेन का कथन है कि 1857 में "भारत केवल एक भौगोलिक कथन" के रूप में ही विद्यमान था। बंगाली, पंजाबी, हिन्दुस्तानी, महाराष्ट्री, इत्यादि लोगों ने कभी अपने आप को एक भारत के वासी अथवा एक राष्ट्र के सदस्य नहीं समझा था।
- क्या यह सैनिक विद्रोह अथवा विद्रोह, एक स्वतंत्रता संग्राम था? पण्डित जवाहर लाल नेहरु के कथानुसार यह तो वास्तव में सामन्तवादी लोगों का विद्रोह था, जिसमें विदेश विरोधी भावनाओं से प्रेरित लोग भी सम्मिलित हो गए।
- मजूमदार महोदय इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि "तथाकथित 1857 का राष्ट्रीय स्वतंत्रता का प्रथम संग्राम न तो यह प्रथम, न राष्ट्रीय, और न ही स्वतंत्रता संग्राम था"।
- चर्बी वाले कारतूस और सैनिकों का विद्रोह तो केवल एक चिनगारी थी जिसने उन समस्त विस्फोटक पदार्थों को जो राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक कारणों से एकत्रित हुए थे, आग लगा दी और वह दावानल का रूप धारण कर गया।
- डलहौजी की विलय की नीति ने सभी राजाओं को व्याकुल कर दिया। हिन्दू राजाओं से दत्तक पुत्र लेने का अधिकार छीन लिया गया। उत्तराधिकार का अधिकार "उनको नहीं रहा जिनकी धमनियों में वंश के प्रवर्तक का रक्त नहीं बह रहा होता था।"
- पंजाब, पीगू और सिक्किम, विजय के अधिकार द्वारा विलय किए गए, सतारा, जैतपुर, सम्भलपुर, बघाट, ऊदेपुर, झांसी और नागपुर व्यपगत के सिद्धान्त के अन्तर्गत विलय कर लिए गए थे। अवध को शासितों के हित में विलय किया गया। तंजौर और कर्नाटक के नवाबों की राजकीय उपधियाँ समाप्त कर दी गईं थीं।
- साधारण विश्वास था कि यह विलय "व्यपगत के सिद्धान्त के कारण नहीं अपितु सभी "नैतिकताओं के व्यपगत" होने के कारण हुआ है। इन रियासतों के भय निराधार नहीं थे, ब्रिटिश साम्राज्य के एक निर्माता, सर चार्ल्स नेपियर के पत्र-व्यवहार से स्पष्ट है। उसने लिखा था "यदि मैं 12 वर्ष के लिए भारत का सम्राट होता.....तो कोई भारतीय राजा शेष नहीं रहता.....निज़ाम का नाम भी सुनाई न देता.....नेपाल हमारा होता....।"
- 1856 में फक़ीरुद्दीन की मृत्यु के पश्चात् लार्ड कैनिंग ने घोषणा की कि फक़ीरुद्दीन द्वारा तिलांजलि दिए हुए मामलों के अतिरिक्त नवीन उत्तराधिकारी शहज़ादे को राजकीय उपाधि और मुगल महल दोनों ही छोड़ देने होंगे। इस घोषणा से मुसलमान बहुत चिन्तित हो गए।
- यह भी तर्क प्रस्तुत किया गया है कि एक और राजनैतिक कारण भारत में ब्रिटिश शासन का स्वरूप "अनुपस्थित प्रभुसत्ता" (absentee sovereigntyship) के रूप में थी और अंग्रेजों के विरोध के लिए इसका भारतीय मन पर बहुत प्रभाव पड़ा।
- सेना में ऊंचे से ऊंचा पद जो किसी भारतीय को मिल सकता था वह सूबेदार का था जिसमें 60 अथवा 70 रुपये मासिक वेतन मिलता था और असैनिक प्रशासन में सदर अमीन का पद था जिसका वेतन 500 रुपये मासिक था। पद-वृद्धि के अवसर बहुत ही कम थे। भारतीयों की यह धारणा बन गई कि अंग्रेज़ उन्हें "लकड़हारे अथवा कहार" (hewers of wood and drawers of water) बनाना चाहते हैं।
- ईस्ट इण्डिया कम्पनी की प्रशासनिक कार्य प्रणाली "अयोग्य और अपर्याप्त" (inefficient and insufficient) थी। भूमि कर व्यवस्था तो बहुत ही अप्रिय थी। नव प्राप्त जिलों में कृषक लगभग सदैव विद्रोह करते रहते थे और भूमि कर एकत्रित करने के लिए सेना भेजनी पड़ती थी। उदाहरण के रूप में पानीपत के जिले में पुलिस कार्य के लिए तो केवल 22 घुड़सवार थे परन्तु भूमि कर एकत्रित करने के लिए 136 व्यक्ति कार्य करते थे।
- बम्बई के प्रसिद्ध इनाम कमिशन ने 20,000 जागीरें ज़ब्त कर लीं। इस प्रकार बहुत से भूमिपति निर्धन बन गए। दूसरी ओर कृषकों को भी कोई विशेष लाभ नहीं पहुंचा क्योंकि वे लोग फिर भी अत्यधिक करों के भार के नीचे दबे रहे।

नोट

- अंग्रेज़ों की आर्थिक नीतियां भी भारतीय व्यापार और उद्योगों के विरुद्ध थीं। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के राजनैतिक शक्ति के प्रयोग से भारतीय हस्तशिल्प और व्यापार का सर्वनाश हो गया था और इसे केवल अंग्रेजी शोषण प्रणाली के परिशिष्ट के रूप में ही जीवित रहने दिया गया।
- शारीरिक तथा राजनैतिक अन्याय सहन करना कई बार सम्भव हो सकता है परन्तु धार्मिक उत्पीड़न सहना बहुत कठिन होता है। अंग्रेज़ों का एक उद्देश्य भारतीयों को ईसाई बनाना भी था। यह कम्पनी के अध्यक्ष मैंगल्ज़ (Mangles) के हाऊस आफ़ कामन्स में किए गए एक भाषण से स्पष्ट होता है। उसने कहा था कि "दैव योग से भारत का विस्तृत साम्राज्य ब्रिटेन को मिला है ताकि ईसाई धर्म की पताका भारत के इस छोर से दूसरे छोर तक फहरा सके। प्रत्येक व्यक्ति को शीघ्रातिशीघ्र समस्त भारतीयों को ईसाई बनाने के महान कार्य को पूर्णतया सम्पन्न करने में अपनी समस्त शक्ति लगा देनी चाहिए।" मेजर एडवर्ड्ज (Major Edwards) ने भी स्पष्ट रूप से कहा था, "भारत पर हमारे अधिकार का अन्तिम उद्देश्य देश को ईसाई बनाना है।"
- ईसाई पादरियों और डलहौज़ी तथा बेटन (Bethune) के स्त्रियों की शिक्षा के लिए किए गए प्रयत्नों द्वारा भारतीयों को विश्वास होता जा रहा था कि अंग्रेज़ विद्या द्वारा उनकी सभ्यता को विजय करना चाहते हैं। "विद्या कार्यालयों" को "शैतानी दफ्तर" की संज्ञा दी जाने लगी थी।
- लार्ड डलहौज़ी के गवर्नर जनरल होने के समय से तीन सैनिक विद्रोह हो चुके थे, 1849 में 22वे एन. आई. का विद्रोह, 1850 में 66वें एन. आई. का विद्रोह और 1852 में 38वें एन. आई. का विद्रोह।
- 'बंगाल सेना' के सैनिक अवध की समस्त असैनिक जनता की भावनाओं को प्रकट करते थे। मौलाना आज़ाद के अनुसार अवध के विलय ने "सेना में साधारणत: और बंगाल सेना में विशेषत: विद्रोही भावना का प्रारम्भ किया..उन्होंने सहसा यह अनुभव किया कि यह शक्ति जो कम्पनी ने उनकी सेवा और बलिदान द्वारा प्राप्त की है, आज उन्हीं के राजा को समाप्त करने के लिए प्रयोग की जा रही है।"
- 1856 में भारतीय सेना में 2,38,000 भारतीय सैनिक और 45,322 यूरोपीय सैनिक थे।
- 29 मार्च, 1857 को बैकरपुर में सैनिकों ने इन कारतूसों को प्रयोग करने से मनाही कर दी और एक सैनिक मंगल पांडे ने अपने एजुटेंट (adjutant) पर आक्रमण कर उसकी हत्या कर दी। 34 वीं एन. आई.रेजिमेन्ट तोड़ दी गई और अपराधियों को दण्ड दिया गया। मई 1857 में मेरठ में 85 सैनिकों ने इन कारतूसों को प्रयोग करने से इनकार कर दिया। उन्हें सैनिक न्यायालय ने दीर्घकालीन कारावास का दण्ड सुनाया। 10 मई को सैनिकों ने खुला विद्रोह कर दिया और अपने अधिकारियों पर गोली चलाई। अपने साथियों को मुक्त करवा कर वे लोग दिल्ली की ओर चल पड़े।
- विद्रोहियों ने 12 मई को दिल्ली पर अधिकार कर लिया। लेफ्टिनेन्ट विलोबी ने जो दिल्ली में शस्त्रागार का कार्यवाहक था, कुछ प्रतिरोध किया परन्तु पराजित हुआ। महल तथा नगर पर अधिकार कर लिया गया।
- लखनऊ में विद्रोह 4 जून को आरम्भ हुआ। ब्रिटिश रेज़िडेन्ट हेनरी लॉरेन्स ने यूरोप निवासियों और लगभग 2,000 राजभक्त भारतीय सैनिकों के संग रेज़िडेन्सी में शरण ली। भारतीय सैनिकों ने रेज़िडेन्सी को घेर लिया। इस घेरे में हेनरी लॉरेन्स की मृत्यु हो गई।
- कानपुर अंग्रेज़ी के हाथ से 5 जून 1857 को निकल गया। नाना साहिब को पेशवा घोषित कर दिया गया। जनरल सर ह्यू व्हीलर (General Sir Hugh Wheeler) जो छावनी के कमाण्डर थे, उन्होंने 27 जून को आत्म-समर्पण कर दिया।
- जून 1857 के आरम्भ में झांसी ने भी विद्रोह कर दिया। रानी लक्ष्मी बाई, राजा गंगाधर राव की विधवा को रियासत की शासक घोषित कर दिया गया। कानपुर के पतन के पश्चात् तांत्या टोपे भी पहुंच गए। सर ह्यू रोज़ ने झांसी पर आक्रमण करके 3 अप्रैल, 1858 को पुन: उस पर अधिकार कर लिया।
- सन् सत्तावन का विद्रोह, स्थानीय सीमित और कुसंगठित था। बम्बई और मद्रास की सेनाएं राजभक्त रहीं। नर्मदा नदी के दक्षिण के प्रदेश में बहुत थोड़ी सी अशान्ति फैली। सिन्ध और राजस्थान शान्त रहे और नेपाल की सहायता बहुत लाभप्रद सिद्ध हुई। अफ़गानिस्तान का शासक दोस्त मुहम्मद भी मित्रवत बना रहा। जॉन लारेन्स ने पंजाब को सफलतापूर्वक नियन्त्रण में रखा।

नोट

- भारतीय विद्रोहियों के पास बन्दूके बहुत थोड़ी थी और वे प्राय: तलवारों और भालों से लड़े। दूसरी ओर अंग्रेज़ी सेना आधुनिकतम हथियारों जैसे कि एनफ़ील्ड राइफ़ल इत्यादि से लैस थी।
- 1857 के विद्रोह का स्वरूप मुख्यत: सामन्तवादी था, जिसमें कुछ राष्ट्रवादी के तत्व विद्यमान थे। अवध और रुहेलखण्ड के तथा अन्य उत्तरी भारत के सामन्तवादी तत्वों ने विद्रोह का नेतृत्व किया और दूसरी ओर अन्य सामन्तवादी तत्वों ने जैसे कि पटियाला, जीन्द, ग्वालियर और हैदराबाद के राजाओं ने इस विद्रोह के दमन करने में सहायता की। यूरोपीय इतिहासकारों ने ग्वालियर के मन्त्री सर दिनकर राव और हैदराबाद के मन्त्री सालार जंग की राजभक्ति की बहुत सराहना की है। संकट के समय कैनिंग ने कहा था, "यदि सिन्धिया भी विद्रोह में सम्मिलित हो जाए तो मुझे कल ही बिस्तर गोल करना होगा।"
- विद्रोह का गठन ठीक नहीं था। विद्रोह के नेताओं में वीरता की कमी नहीं थी परन्तु अनुभव, संगठन क्षमता तथा मिलकर कार्य करने की शक्ति की कमी थी।
- विद्रोहियों के सन्मुख विदेशी-विरोध भावना के अतिरिक्त कोई अन्य समान उद्देश्य नहीं था।
- 1858 के भारत सरकार अधिनियम द्वारा भारतीय प्रशासन का नियन्त्रण कम्पनी से छीनकर ब्रिटिश राजमुकुट (Crown) को सौंप दिया गया।
- महारानी की घोषणा के अनुसार, "क्षेत्रों का सीमा विस्तार (मगजमदेपवद वि जमततपजवतपंस चवेमेपवदे)" की नीति समाप्त कर दी गई और "स्थानीय राजाओं के अधिकार, गौरव तथा सम्मान" को अपने समान ही संरक्षण का विश्वास दिलाया गया।
- यूरोपीय सैनिकों को समय-समय पर इंग्लैंड भेजकर उनका निरन्तर नवीकरण (renovation) किया जाता था। यूरोपीय सैनिकों की 1857 से पहले की संख्या जो 40,000 थी अब 65,000 कर दी गई और भारतीय सेना की संख्या जो पहले 2,38,000 थी अब 1,40,000 निश्चित कर दी गई और एक साधारण सूत्र (formula) यह बन गया कि बंगाल प्रेसिडेन्सी में यूरोपीय और भारतीय सैनिकों का अनुपात 1:2 का होना चाहिए।
- इस तथ्य को अधिकाधिक रूप में अनुभव किया गया कि इस विद्रोह का एक मूलभूत कारण, शासितों और शासकों के बीच सम्पर्क का न होना था।
- 1857 के विद्रोह ने एक युग का अन्त कर दिया और एक नवीन युग के बीज बोए। प्रादेशिक विस्तार के स्थान पर आर्थिक शोषण का युग आरम्भ हुआ। अंग्रेज़ी साम्राज्य के लिए सामन्तवादी युग का भय सदा के लिए समाप्त हो गया और अंग्रेज़ी साम्राज्य के लिए नई चुनौती उस प्रगतिशील भारत से ही आई जो उन्नीसवीं शताब्दी के उदारवादी अग्रेजों और जॉन स्टूअर्टमिल (John Stuart Mill) के दर्शन पर पला था।

7.7 शब्दकोश (Keywords)

- स्वत्वाधिकार : स्वत्व रूप में होने वाला अधिकार
- अकिंचन : बहुत गरीब, दरिद्र

7.8 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. 1857 के विद्रोह के राजनैतिक कारणों का वर्णन कीजिए।
2. 1857 के विद्रोह के तात्कालिक कारणों की समीक्षात्मक विवेचना कीजिए।
3. विद्रोह के आरम्भ एवं प्रसार की व्याख्या कीजिए।
4. विद्रोह की असफलता के कारणों पर प्रकाश डालिए।
5. 1857 के विद्रोह के परिणाम का विश्लेषणात्मक विवेचन कीजिए।

नोट

उत्तर: स्व-मूल्यांकन (Answers: Self Assessment)

1. (1) "मेमने के रूप में भेड़िये" (2) लार्ड कैनिंग

(3) अनुपस्थित प्रभुसत्ता (Absente Sovereigntyship)

(4) सूबेदार (5) ₹ 500

2. (1) ख (2) घ (3) ग (4) क (5) घ

7.9 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. *स्वतंत्रता का इतिहास*– बी.एल. गोवर एवं यशपाल, एस. चन्द एण्ड कम्पनी लि., दिल्ली।
2. *स्वतंत्रता संगाम*– विपिन चन्द्र, हिन्दी माध्यम कार्यान्वय, निदेशालय दिल्ली विश्वविद्यालय।
3. *आधुनिक भारत*– एस. के. पाण्डे, प्रयाग एकेडमी इलाहाबाद।

नोट

इकाई–8: कृषक आंदोलन (Peasant Movement)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

8.1 20वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में कृषक आंदोलन (Peasant Movements in The First half of The 20th Century)

8.2 1930 से 1940 ई. के दौरान कृषक आंदोलन (Peasant Movements in The 1930's and 1940's)

8.3 सारांश (Summary)

8.4 शब्दकोश (Keywords)

8.5 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

8.6 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- 20वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के कृषक आंदोलनों की व्याख्या करने में,
- 1930 ई. से 1940 ई. के दौरान होने वाले कृषक आंदोलनों का विश्लेषण करने में।

प्रस्तावना (Introduction)

विदेशी हुकूमत और भारतीय शोषकों के खिलाफ 19वीं सदी में ही किसान कसमसाने लगे थे और कई बार उन्होंने विद्रोह व आंदोलन का भी रास्ता पकड़ा। बीसवीं सदी में किसानों के असंतोष को आंदोलन की शक्ल देने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई राष्ट्रीय राष्ट्रीय स्वाधीनता संघर्ष ने और किसान आंदोलन ने भी राष्ट्रीय स्वाधीनता संघर्ष को काफी प्रभावित किया। यानी दोनों आंदोलनों ने एक-दूसरे को प्रभावित किया। इस अत:संबंध को समझने के लिए हमें बीसवीं दी के दूसरे और तीसरे दशक के तीन महत्त्वपूर्ण किसान संघर्षों के इतिहास पर नजर डालनी होगी। ये हैं: अवध में किसान सभा आंदोलन मालाबार का माप्पिला विद्रोह और गुजरात में बारदोली सत्याग्रह।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस कम से कम अपने आरम्भिक काल में अंग्रेजी साम्राज्यवादियों तथा भारतीय बूर्जवा वर्ग का सीमित प्रयोजन (venture) था अतएव उनसे यह आशा नहीं थी कि वे उत्पीड़ित कृषकों का पक्ष लेंगे। कांग्रेस यह तो कहती थी कि भारत निर्धन देश है, परन्तु निर्धनता को समाप्त करने का जो सुझाव यह देती रही, जिसमें बंगाल जैसी स्थाई भूमि कर व्यवस्था को समस्त देश में लागू करना और जहाँ न दिया जा सके वहाँ भूमि कर कम करना, सेवाओं का भारतीयकरण, औद्योगीकरण के लिए सरकारी सहायता, नमक कर हटाना इत्यादि सम्मिलित थे परन्तु कांग्रेस ने कभी भी भारत के भिन्न-भिन्न प्रान्तों में मुजारों (tenants) के हितों की रक्षा के लिए कानून नहीं मांगे। श्री आर. सी. दत्त ने जो खुले पत्र लार्ड कर्जन के नाम भारतीय अकाल के विषय में लिखे थे, उन को पढ़ने से यह स्पष्ट है कि जानबूझ कर अथवा अनजाने में वह भूमिपतियों (landlords) के हित की बात करते थे, कृषकों की नहीं। जब लार्ड कर्ज़न ने उन्हें बताया कि सरकार ने मुजारों के हितों की कांग्रेस की अपेक्षा अधिक सेवा की है तो दत्त साहिब से कोई उत्तर नहीं बन पाया।

नोट

8.1 20वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में कृषक आंदोलन (Peasant Movements in The First-half of 20th Century)

अवध में किसान सभा

1856 में अवध पर अंग्रेजी हुकूमत के कब्जे के बाद पूरे प्रांत में तालुकदारों और बड़े जमींदारों ने किसानों पर अपनी पकड़ मजबूत बना ली और और किसानों का बेइतहा शोषण करने लगे। पहले तालुकेदारों को लगान का केवल एक हिस्सा ही मिलता था, पर अब वे जमीन के आला मालिक हो गए। मनमाना लगान वसूलने लगे। जब चाहते नजराने की रकम बढ़ा देते, जब जिसे चाहते बेदखल कर देते। इस तरह काश्तकार अब तालुकेदारों की मर्जी पर जीने लगे। इनकी जिंदगी जमींदारों, इनके लठैतों के रहम–ओ–करम पर गुजरने लगी।

पहले विश्वयुद्ध के बाद महँगाई की मार झेल रहे काश्तकारों की अब तो रीढ़ ही टूट गई। शोषण और जुल्म की इंतहा ने काश्तकारों को उस मंजिल तक ठेल दिया, जहाँव वे बगावत की पुकार का इंतजार करने लगे।

अवध में होम रूल लीग आंदालन के कार्यकर्ता काफी सक्रिय थे। इन्होंने किसानों को संगठित करना शुरू किया। संगठन को नाम दिया गया 'किसान सभा'। गौरीशंकर मिश्र, इंद्रनारायण द्विवेदी और मदनमोहन मालवीय के प्रयासों से फरवरी 1918 में 'उत्तर प्रदेश किसान सभा' का गठन हुआ था। इस संगठन ने किसानों को बड़े पैमाने पर संगठित किया। इससे पहले भी इंद्रनारायण द्विवेदी ने किसानों की ओर से सरकार को एक याचिका दी थी, जिसमें मांग की गई थी कि संवैधानिक व्यवस्था में किसानों के हितों का भी ख्याल रखा जाए। उस समय नए संविधान की बात जोरों पर थी।

उत्तर प्रदेश किसान सभा ने थोड़े ही समय में अपने को स्थापित कर लिया। जून 1919 तक सूबे की 173 तहसीलों में इसकी 450 शाखाएं गठित कर ली गई। फतेहपुर, इलाहाबाद, मैनपुरी बनारस, कानपुर, जालौन, बलिया, रायबरेली, एटा और गोरखपुर जिलों में 'किसान सभा' की अनेक बैठकें हुईं।

'किसान सभा' ने किसानों को किस हद तक जागरूक बनाया, इसका अंदाज इससे लगा सकते हैं कि दिसंबर 1918 में दिल्ली में कांग्रेस अधिवेशन में बहुत बड़ी संख्या में उ.प्र. के किसानों ने भाग लिया। अगले साल अमृतसर कांग्रेस अधिवेशन में भी इनकी तादाद काफी थी। इस अधिवेशन में किसानों का व्यवहार काफी उग्र था। उन्होंने कुर्सियां और मेज तोड़ डालीं। अधिवेशन के अध्यक्ष मोतीलाल नेहरू इस घटना से काफी क्षुब्द हुए और इसकी निंदा की।

1919 के अंतिम दिनों में किसानों का संगठित विद्रोह खुलकर सामने आया। प्रतापगढ़ जिले की एक जागीर में 'नाई–धोबी बंद' सामाजिक बहिष्कार संगठित कार्रवाई की पहली घटना थी। 1920 की ग्रीष्म ऋतु से एक ओर जहां राष्ट्रीय स्तर पर राजनीतिक गतिविधियां जोर पकड़ने लगीं वहीं अवध की तालुकेदारी में ग्राम पंचायतों के नेतृत्व में किसान बैठकों का सिलसिला शुरू हो गया। झिगुरी सिंह और दुर्गपाल सिंह ने इसमें महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। लेकिन जल्दी ही आंदोलन में एक नया चेहरा उभरा–बाबा रामचंद्र, जिन्होंने आंदोलन की बागडोर ही नहीं संभाली, बल्कि उसे और मजबूत और जुझारू बनाया।

बाबा रामचंद्र महाराष्ट्र के ब्राह्मण परिवार के थे। 13 वर्ष की आयु में ही घर–बार छोड़कर निकल पड़े थे। घुमक्कड़ प्रकृत्ति के थे, फिजी चले गए। वहां मेहनत–मजदूरी की और वहां से 1909 में लौटे, तो फैजाबाद (उ.प्र.) चले आए। 1920 तक वे साधु का जीवन जीते रहे। तुलसीदास का रामचरितमानस लेकर गाँव–गाँव घूमते और गाँववालों को मानस की चौपाइयाँ सुनाते। 1920 के मध्य में वे एक किसान नेता के रूप में उभरे। अवध के किसानों को संगठित करना शुरू किया। उनमें संगठन की अद्‌भुत क्षमता थी।

जून 1920 में बाबा रामचंद्र जौनपुर और प्रतापगढ़ के किसानों के एक जत्थे का नेतृत्व करते हुए इलाहाबाद पहुँचे। वहाँ उन्होंने गौरशंकर मिश्र और जवाहरलाल नेहरू से मुलाकात की और उनसे गाँव में आकर किसानों की हालत देखने का अनुरोध किया। जून और अगस्त के बीच जवाहरलाल नेहरू ने कई बार ग्रामीण इलाकों का दौरा किया और 'किसान सभा' आंदोलन से सम्पर्क स्थापित किया।

नोट

इसी बीच प्रतापगढ़ के किसानों को एक हमदर्द अधिकारी मिल गया। प्रतापगढ़ के डिप्टभ कमिश्नर मेहता ने किसानों को उनकी शिकायतें सुनने और उन्हें दूर करने का आश्वासन दिया। प्रतापगढ़ जिले का रूर गाँव 'किसान सभा' की गतिविधियों का मुख्य केन्द्र बन गया और लगभग एक लाख किसानों ने 'किसान सभा' के पास अपनी शिकायतें दर्ज कराईं। हर किसान से एक आना फीस ली गई। इस अवधि में गौरीशंकर मिश्र भी प्रतापगढ़ में काफी सक्रिय थे और किसानों की बदखली तथा नजराना की शिकायतों के बारे में मेहता से कोई समझौता करने ही वाले थे।

लेकिन अगस्त 1920 में मेहता छुट्टी पर चले गए। तालुकेदारों के लिए यह सुअवसर था। उन्होंने उभरते किसान आंदालन को कुचलन की कोशिश की। 28 अगस्त 1920 को चोरी के झूठे आरोप में बाबा रामचंद्र और 32 किसान गिरफ्तार कर लिए गए। प्रतापगढ़ के किसान इससे बहुत क्षुब्ध हुए और लगभग चार-पाँच हजार किसान बाबा रामचंद्र स जेल में मुलाकात करने के लिए प्रतापगढ़ में इकट्ठे हुए। बहुत समझाने-बुझाने के बाद ये लोग वापस लौटे 10 दिन बाद अफवाह फैली कि बाबा रामचंद्र को छुड़ाने के लिए गाँधीजी प्रतापगढ़ आ रहे हैं। इस बार लगभग 10 हजार किसान बाबा को देखने के लिए प्रतापगढ़ में इक्ट्ठे हो गए। इस बार किसान तभी माने, जब उन्हें यह आश्वासन दिया गया कि बाबा रामचंद्र को कल छोड़ दिया जाएगा। किसान नगर के समीप नदी के किनारे अगले दिन का इंतजार करने लगे और तभी घर लौटे, जब बाबा ने उन्हें एक गन्ने के खेत में एक पेड़ पर चढ़कर दर्शन दिए। इस मौके पर लगभग 60 हजार किसान इक्ट्ठा थे। सरकार ने स्थिति सँभालने के लिए मेहता को छुट्टी से वापस बुला लिया। महता ने चोरी का झूठा मामला रफा-दफा कर दिया और जमींदारों पर दबाव डालने लगे कि वे अपने रवैये में परिवर्तन लाएँ। किसानों की इस छोटी-सी जीत ने उन्हें और उत्साहित किया।

इसी बीच कलकत्ता अधिवेशन में काँग्रेस ने असहयोग आंदोलन शुरू करने का निर्णय किया था और उ.प्र. के अनक राष्ट्रवादी नेताओ ंने इसमें शामिल होने का वादा किया था। लेकिन मदनमोहन मालवीय जैसे कई नेता इसके खिलाफ थे। ये नेता संवैधानिक संघर्ष के पक्षधर थे। उ.प्र. किसान सभा में भी ये मतभेद दिखाई पड़े ओर असहयोग आंदोलनकारियों ने जल्दी ही 17 अक्तूबर 1920 का प्रतापगढ़ में एक समांतर संगठन 'अवध किसान सभा' का गठन कर लिया। इस नए किसान संगठन ने पूरे अवध प्रांत की लगभग उन सभी किसान सभाओं को अपने में मिला लिया, जो अभी हाल में गठित हुई थीं।

गौरीशंकर मिश्र, जवाहरलाल नेहरू, माताबदल पांडे, बाबा रामचंद्र, देवनारायण पांडे और कदारनाथ के प्रयासों के चलते अक्तूबर के अंत तक 330 किसान सभाएँ इस नए किसान संगठन में शामिल हो गईं। अवध किसान सभा ने किसानो ंसे बेदखली जमीन न जोतने और बेगार न करने की अपील की। इसे न माननेवालों का बहिष्कार करने की अपील की गई। किसानों से कहा गा कि वे अपने मामलों का निबटारा पंचायतों के माध्यम से करें। 20 और 21 दिसंबर का अवध किसान सभा की अयोध्या में एक विशाल रैली हुई, जिसमें लगभग एक लाख किसानों ने भाग लिया। इस रैली में बाबा रामचंद्र रस्स्सी में बंधे हुए आए-यह दरसाने के लिए कि किसानों की हालत यही है, उनपर अत्याचार हो रहे हैं। किसान सभा आंदोलन की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि इसमें ऊँची और नीची जातियों, दोनों ही के किसान मौजूद थे।

जनवरी के आरम्भ में किसान संघर्ष में बदलाव आया। किसानों की गतिविधियों के प्रमुख केन्द्र थे रायबरेली, फैजाबाद और सुल्तानपुर। बाजारों, मकानों, खेत-खलिहानों की लूटपाट और पुलिस से जब-तब संघर्ष ही किसानों की मुख्य गतिविधियाँ थीं। इसमें कुछ वारदातें आफवहों के कारण हुईं, जैसे मुंशीगंज और खरहिया बाजार (रायबरेली) में किसान नेताओं की गिरफ्तारी की अफवाह फैलते ही लूटमार मच गई। बाकी वारदातें या संघर्ष तालुकेदारों के शोषण के खिलाफ किसानों वे छिटपुट संघर्ष थे। इनमें से बहुत सी घटनाओं में 'किसान सभा' के किसी बड़े नेता ने नहीं, बल्कि स्थानीय लोगों न पहल की थी, जिसमें साधु, धार्मिक हस्तियाँ और रायवंचित भूस्वामी शमिल थे।

इस तरह के छिटपुट संघर्ष को दबाना सरकार के लिए कोई मुश्किल कम नहीं था। कई बार संघर्ष पर उतारू

नोट

किसानों पर गोलियाँ चलाई गईं। नेताओं और कार्यकताओं को गिरफ्तार कर लिया गया, मुकद्दमे चलाए गए और फरवरी-मार्च में एक दो वारदातों को छोड़कर जनवरी में ही यह आंदोलन समाप्तप्राय हो गया। मार्च में तमाम जिलों में 'देशद्रोही बैठक अधिनियम' लागू कर दिया गया, जिससे राजनीतिक गतिविधियाँ ठप्प पड़ गईं। राष्ट्रवादी नेता अदालत में किसानों की ओर से लड़ते रहे, पर इससे अधिक कुछ न कर सके।

इसी बीच सरकार ने अवध मालगुजारी (रेंट) (संशोधन) अधिनियम पारित कर दिया। इससे किसानों को कोई खास राहत तो नहीं मिली, लेकिन उनके मन में उम्मीदें जगीं। इस नए कानून ने भी आंदोलन को तोड़ने का काम किया।

लेकिन साल के अंत में किसानों का असंतोष एक बार फिर उभरकर सामने आने लगा। इस बार गतिविधि के केन्द्र थे हरदोई, बहराइच और सीतापुर (प्रांत के उत्तरी क्षेत्र)। किसानों के असंतोष को आंदोलन की शक्ल दी कांग्रेस और खिलाफत नेताओं ने। नाम दिया 'एका (एकता) आंदोलन' किसानों की मुख्य शिकायतें लगान में बढ़ोतर और उपज के रूप में लगान वसूल करने की प्रथा को लेकर थीं। किसानों से 50 फीसदी ज्यादा लगान वसूला जा रहा था। जमींदारों के गुर्गे ठेकेदार (जो लगान वसूलते थे) किसानों पर तरह-तरह के जुल्म ढा रहे थे।

एका बैठकें शेरू होने से पहले सभास्थल पर एक गड्ढा खोदकर उसमें पानी भरा जाता। इसे गंगा माना जाता और एक पुजारी वहाँ इकट्ठे किसानों को गंगा की सौगंध खिलाता कि वे निर्धारित लगान ही देंगे, उससे एक पैसा ज्यादा नहीं देंगे, पर लगान समय पर देंगे। बेदखल किए जाने पर जमीन नहीं छोड़ेंगे, जबरिया मजदूरी नहीं करेंगे, अपराधियों को मदद नहीं देंगे और पंचायत के फैसले को मानेंगे।

एका आंदोलन ने थोड़े ही समय में अपनी अलग जड़ें जमा लीं, आंदोलन का नेतृत्व पिछड़ी जातियों के मदारी पासी व अन्य नेताओं के हाथ में चला गया–ऐसे लोगों के हाथ में, जो कांग्रेस और खलाफत नेताओ के अनुशासित और अहिंसक आंदोलन के सिद्धांत के प्रति पूरी तरह प्रतिबद्ध नहीं थे। इसका नतीजा यह हुआ कि राष्ट्रवादी नेता आंदोलन से अलग-थलग पड़ ए और आंदोलन ने एक दूसरी राह पकड़ ली। चौरीचौरा कांड के बाद, जब गाँधीजी ने असहयोग आंदोलन वापस ले लिया, तब भी किसानों का यह आंदोलन चलता ही रहा। यह आंदोलन मूलत: काश्तकारों का आंदोलन था। इसमें जमींदार नहीं थे, पर एका आंदोलन में छोटे-मोटे जमींदार भी शामिल थे, ऐसे जमींदार जो बढ़े हुए लगान के बोझ से परेशान ओर सरकार से नाराज थे। लेकिन सरकार ने दमन के बल पर मार्च 1922 के आते-आते इस आंदोलन को भी खत्म कर दिया।

भारतीय राजनीति में गांधीजी के आगमन से देश को नई आर्थिक तथा राजनैतिक दिशा मिली। चूंकि वह अपने आंदोलन के आधार को बड़ा बनाना चाहते थे, इसलिए उन्होंने ग्रामीण जनता तथा कृषकों को भी इस आन्दोलन में सम्मिलित करने का प्रयत्न किया।

चम्पारन तथा केरा सत्याग्रह–उत्तर बिहार के चम्पारन जिले के यूरोपीय नील के उत्पादक बिहारी कृषकों का अनेक रूप से उत्पीड़न करते थे, जो लगभग उसी प्रकार का था जैसे बंगाल में था। गांधीजी ने बाबू राजेन्द्र प्रसाद की सहायता से, कृषकों की वास्तविक स्थिति की जांच की। उन्होंने कृषकों को अहिंसात्मक असहयोग आन्दोलन की शिक्षा दी। बिहार सरकार बहुत क्रुद्ध हुई और गांधीजी को गिरफ्तार कर लिया तथा जांच समिति नियुक्त कर दी (जून 1917) जिसमें गांधीजी स्वयं एक सदस्य थे। इसके फलस्वरूप चम्पारन कृषि अधिनियम पारित किया गया जिसमें नील उत्पादकों द्वारा विशेष प्राप्ति बंद कर दी गई। दुर्भाग्यवश कांग्रेसी नेताओं ने इस सफलता को इसके अन्त तक नहीं पहुंचाया अर्थात जो अत्यधिक भाटक जमींदार वसूल करते थे वे बन्द नहीं हुए और साहूकारों द्वारा अधिक ब्याज की दर भी कम नहीं हुई।

केरा (खेड़ा) आन्दोलन तो मुख्यत: बम्बई सरकार के विरुद्ध था। 1918 की वसन्त ऋतु में फसलें नष्ट हो गई और सूखे के कारण इस प्रदेश के कृषकों को बहुत कष्ट हुआ। बम्बई सरकार ने भूमि कर मांगा। यद्यपि भूमि कर नियमों में यह स्पष्ट कहा गया था कि यदि फसल साधारण से 25 प्रतिशत कम हो तो भूमि कर में पूर्णतया छूट मिलेगी, सरकार छूट देने को तैयार नहीं थी। सरकारी अफसरों को यह स्वीकार नहीं था कि फसल 25 प्रतिशत

नोट

कम है। गांधीजी ने कृषकों को संगठित किया तथा सभी वर्ग के लोगों का समर्थन प्राप्त किया। कृषकों की बहुत बड़ी संख्या ने सत्याग्रह किया तथा जेल गये। जून 1918 तक यह आन्दोलन चलता रहा और अन्त में सरकार को गांधीजी की मांग स्वीकार करनी पड़ी, परन्तु जूडिथ ब्राउन जैसे लोगों ने यह कहा है कि सरकार ने कर का लगभग 93 प्रतिशत फिर भी वसूल कर लिया।

क्या आप जानते हैं चम्पारन तथा केरा के आन्दोलनों ने न केवल गांधीजी को जनता का नेता बना दिया अपितु कृषकों में आत्म-विश्वास भी जागा कि यदि वे मिलकर कार्य करें तो अवश्य सफल होंगे।

माप्पिला विद्रोहः अगस्त 1921 में देश के बिलकुल दूसरे छोर पर मलाबार जिले (केरल) में काश्तकारों का विद्रोह कई अन्य किसान संघर्षों के मुकाबले कहीं अधिक व्यापक और जुझारू था। इनकी भी समस्याए अवध प्रांत के किसानों जैसी थीं। जमींदार जब चाहते, उन्हें बेदखल कर देते। मनमाना लगान वसूलते आअैर तरह-तरह के अत्यशचार करते। 19वीं सदी में भी माप्पिला किसानों ने जमींदारों के खिलाफ संघर्ष किया था, पर जो विद्रोह 1921 में फूटा, वह पहले से एकदम अलग पैमाने पर था।

किसानों के असंतोष को हवा दी, अप्रैल 1920 में मंजेरी में हुए मालाबार जिला कांग्रेस सम्मेलन ने। यह सम्मेलन दो बातों के कारण बहुत महत्त्वपूर्ण रहा। सम्मेलन में प्रस्ताव पास कर खिलाफत आंदोलन का समर्थन किया गया। किसानों की वाजिब माँगों का समर्थन करते हुए एक ऐसा कानून बनाने की माँग की गई, जो जमींदार-काश्तकार संबंधों को तय करे। यह घटना बहुत महत्त्वपूण्र थी, क्योंकि इससे पहले जमींदार कांग्रेस को काश्तकारों की माँग उठाने से रोकने में सफल हो गए थे। मंजेरी सम्मेलन के बाद कोझीकोड में काश्तकारों का एक संगठन बनाया गया। इसके फौरन बाद, जिले के अन्य भागों में भी काश्तकार संगठन गठित किए गए। ये संगठन काश्तकारों की बैठकें आयोजित करते, जिनमें काश्तकारों की वाजिब माँगें उठाई जातीं। यह सिलसिला धीरे-धीरे जोर पकड़ने लगा।

इसी बीच खिलाफत आंदोलन भी अपनी जड़ें जमाता जा रहा था। हालात ये हो गए कि खिलाफत आंदोलनकारियों और काश्तकारों की बैठकों में फर्क करना मुश्किल हो गया। दोनों बैठकों में श्रोता और नेता वहीं रहते। इस तरह दोनों आंदोलन एक-दूसरे में सम गए। इस आंदोलन का सामाजिक मूलतः माप्पिला काश्तकारों के बीच था। आंदोलन में अनेक हिंदू भी थे, पर आंदोलन में हिन्दूओं की सक्रिय भागीदारी नहीं थी।

खिलाफत और काश्तकारों के इन आंदोलनों के दिन-ब-दिन जोर पकड़ने से अंग्रेजी हुकूमत बौखला गई। गाँधीजी, शौकत अली और मौलाना आजाद ने इस इलाकों का दौरा किया और इन आंदोलनों का समर्थन किया था, जिससे सरकार घबरा गई थी। 15 फरवरी 1921 को सरकार ने विषेधता लागू कर खिलाफत आंदोलन से संबंधित किसी भी तरह की माप्पिलाओं को सरकार व हिन्दू जमींदारों के खिलाफ भड़काया जाएगा। 18 फरवरी को मोइद्दीन कोया और के. माधवन नायर को गिरफ्तार कर लिया गया। इसका नतीजा यह हुआ कि आंदोलन का नेतृत्व स्थानीय माप्पिला नेताओं के हाथ में चला गया।

सरकारी दमन से क्रूद्ध और इस अफवाह से उत्साहित कि प्रथ विश्वयुद्ध ने अंग्रेजी, हुकूमत की कमर तोड़ दी है, मप्पिला हुकूमत के खिलाफ संघर्ष करने पर उतारू हो गए। अधिकारियों के आदेश की अवहेलना की जाने लगी। एरनाड तालुके के मजिस्ट्रेट ने एक जमींदार के उकसाने पर जब बिना वारंट खिलाफत आंदोलन के एक स्थानीय नेता को गिरफ्तार करने की ठान ली, तो माप्पिलाओं ने इसका विरोध किया। इस विरोध से मजिस्ट्रेट घबरा गया और उसे विश्ववासस हो गया कि माप्पिलाओं ने व्यापक विद्रोह की तैयारी कर ली।

20 अगस्त 1921 को इसी मजिस्ट्रेट ने सेना और पुलिस जवानों को लेकर अली मुसलियार को गिरफ्तार करने के लिए निरुरांगड़ी की मस्जिद पर छामा मारा अली मुसलियार खिलाफत आंदोलन के प्रमुख नेता और स्थानीय

नोट

मुसलमानों के धर्मगुरु थे। टामस की कोशिश नाकाम रही, मुसलियार नहीं मिले, तो उसने खिलाफत आंदोलन के तीन कार्यकताओं को गिरफ्तार कर लिया। इस घटना के बाद चारो ंओर खबर फैल गई कि अंग्रेजी सेना ने पवित्र मस्जिद पर छापा मारा और उसे नष्ट कर दिया। खबर सुनते ही कोट्टाकाल, पारप्पानागड़ी वह अन्य जगहों से माप्पिला तिरुरांगड़ी कार्यकार्ताओं में इकट्ठे होने लगे। इनके नेता अधिकारियों से मिले और गिरफ्तार खिलाफत कार्यकर्ताओं की रिहाई की माँग करने लगे। सारे लोग शांत थे और जब अधिकारियों ने उनसे बैठने को कहा, तो वे जमीन पर बैठ गए लेकिन ये लोग जैसे ही बैठे पुलिस ने निहत्थी भीड़ पर गोलियाँ बरसानी शुरू कर दीं। अनेक लोग मारे गए। माप्पिला भी हिंसा पर उतर आए, संघर्ष छिड़ गया। सरकारी कार्यालयों को तहस-नहस कर दिया गया। दस्तावेज जला दिए गए। खजाने को लूट लिया गया। जिलाधिकारी डरकर कौझीकोड भाग गया और विद्रोह की आग पूरे एरनाड में फैल गई।

विद्रोह के प्रथम चरण में विद्रोहियों ने बदनाम जमींदारों (ज्यादातर हिन्दू जमींदारों) और विदेशी हुकूमत के 'प्रतिष्ठानों' जैसे कचहरी, थाना, खजाना, अन्य सरकारी कार्यालयों, विदेशी बागान मालिकों को अपना निशाना बनाया। उदार जमींदारों और गरीब हिन्दूओं को शायद ही परेशान किया गया हो। विद्रोही गाँव-गाँव घूमते और जमींदारों के घरों को आग लगाते और लूटपाट करते। कूछ विद्रोही नेता जेसे कुनहम्मद हाजी इस बात का पूरा ध्यान रखते कि हिन्दूओं को सताया न जाए। यदि कोई विद्रोही हिन्दूओं पर हाथ उठाता तो उसे सजा दी जाती। कुनहद हाजी ने मुसलमान और हिन्दू में फर्क नहीं किया। सरकार समर्थक अनेक माप्पिलाओं को सजा देने का आदेश दिया।

नोट्स कई मोपला लोग यह विश्वास करते थे कि इन उत्पीड़न करने वाले ज़मीदारों को जान से मार देना ही उचित है क्योंकि इन काफिरों को मार देने से तुम 'गाज़ी' बन जाते हो अथवा उनके साथ लड़ते हुए मरने से तुम 'शहीद' हो जाते हो। दोनों अवस्थाओं में तुम्हें सीधा स्वर्ग मिलता है।

लेकिन जैसे ही अंग्रेजी हुकूमत ने सैनिक शासन (मार्शल लॉ) की घोषणा की और दमन का चक्र तेज हुआ, विद्रोह का चरित्र बदल गया। अंग्रेजी हुकूमत ने तमाम हिन्दूओं को जबरदस्ती अपना साथ देने को कहा और कुछ हिन्दू अपने आप खुले तौर पर हुकूमत का साथ देने लगे। इसका नतीजा यह हुआ कि माप्पिलाओं मे ंपहले से ही सुलगती हिन्दू विरोधी भावना अब भड़क उठी। ज्यादातर माप्पिला विद्रोही अशिक्षित थे और कट्टरपंथी धार्मिक भवनाओं के वशीभूत थे। जैसे-जैसे सत्ता का दमन बढ़ता गया, हिन्दूओं पर हमला, उनकी हत्या और जबरन धर्म-परिवर्तन की घटनाएँ लढ़ने लगीं। जो संघर्ष सत्ता और जमींदारों के खिलाफ शुरू हुआ था, उसमें अब सांप्रदायिक रग भी घुल गया।

माप्पिलाओं द्वारा हिंसा का रास्ता अख्तियार कारने के कारण अहिंसक असहयोग आंदोलनकारी उनसे पहले से ही अलग हो गए थे। अब सांप्रदायिकता ने माप्पिलाओं को सबसे अलग-थलग कर दिया। जो कुछ बचा था, उसे अंग्रेजी हुकुमत के दमन ने पूरा कर दिया और दिसंबर 1921 के आते-आते विद्रोह पूरी तरह कुचल दिया गया। 2337 माप्पिला मारे गए और 1652 घायल हुए। ये सरकारी आंकड़े हैं। गैर-सरकारी आंकड़ों के मुताबिक यह संख्या 10 हजार से भी ज्यादा थी। 45404 विद्रोही या तो पकड़े गये या उन्होंने आत्मसमर्पण कर दिया। इस घटना के बाद माप्पिलाओं का मनोबल पूरी तरह टूट गया। इसके बाद आजादी की पूरी लड़ाई में किसी भी स्तर पर ये शरीक नहीं हुए। किसी भी तरह की राजनीति से इनका कोई सरोकार नहीं रहा। बाद के वर्षों में केरल में वामपंथी नेतृत्व में किसान आंदोलन ने जार पकड़ा, पर इसमें माप्पिला शरीक नहीं हुए।

उत्तर प्रदेश और मलाबार के किसान आंदोलन भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन की राजनीति से किसी-न-किसी रूप में जुड़े हुए थे। उत्तर प्रदेश में, शुरू में इस आंदोलन को होम रूल लीग आंदोलन ने हवा दी और बाद में असहयाग और खिलाफत आंदोलन ने। अवध में 1921 के शरू के महीने में, जब किसानों का संघर्ष काफी जोरों पर था, किसानो

नोट

की बैठकों और असहयोग आंदोलनकारियों की बैठकों में भेद कर पाना मुश्किल था। मलाबार में भी यही स्थिति थी। खिलाफत आंदोलन और किसान आंदोलन एक-दूसरे से इस तरह मिल गए थे कि उनमें भी भेद कर पाना मुश्किल था लेकिन दोनों स्थानो पर किसानों द्वारा हिंसा का रास्ता अख्तियायर करने से किसान आंदोलन राष्ट्रीय आंदोलन से अलग हो गया। राष्ट्रवादी नेताओ ने किसानों से बार-बार अपीलें कीं कि वे हिंसा का रास्ता अख्तियार न करें। अनक राष्ट्रीय नेताओं, विशेषकर गाँधीजी, ने बार-बार उनसे अपील की कि वे कोई भी गरमपंथी रास्ता न अपनाएँ, जैसे जमींदारों को लगान न देना आदि।

किसान आंदोलन और राष्ट्रीय आंदोलन में पड़ी इस दरार को पाटने की राष्ट्रवादी नेताओं की कोशिशों का कई बार यह अर्थ लगाया गया कि राष्ट्रीय नेतृत्व को डर है कि कहीं नेतृत्व की बागडोर उसके हाथ से निकलकर स्थानीय जुझारू व ज्यादा लड़ाकू लोगों के हाथ में न चली जाए। इसका अर्थ यह भी लगाया गया कि राष्ट्रीय आंदोलन के नेताओं द्वारा किसानों को हिंसा का रास्ता छोड़ने व लगान देते रहने की सलाह देने का मकसद जमींदारों व अमीर तबकों के हितों की रक्षा करना था। लेकिन आलोचक यह भूल जाते हैं कि किसानो से ज्यादा शायद राष्ट्रीय आंदोलन के नेता जाते थे कि हिंसा की राह पकड़ने का अंजाम क्या होगा (उत्तर प्रदेश और मलाबार में सरकार ने हिसात्मक किसान आंदोलन को जिस तरह कुचला, वह इस बात का सबूत है कि राष्ट्रीय नेताओं की आशंका सही थी)। इसलिए राष्ट्रीय नेता बार-बार किसानों से शांतिपूर्ण प्रतिरोध की अपील करते थे।

किसानों को लगान अदायगी बंद न करने की सलाह देने के और भी कारण थे। पहली बात तो यह कि किसानों ने लगान या जमींदारी प्रथा को खत्म करने की माँग नहीं उठाई थी। वे महज बेदखली रोकने, मनमानी कर वसूली बंद करने की माँग कर रहे थे। दूसरी बात यह कि लगान अदायगी बंद करने का मतलब जमींदार को सरकार के करीब ले जाना था। इससे जमींदार, जिनकी राष्ट्रीय आंदोलन और सत्ता के बीच तटस्थता की भूमिका निभाने की संभावना हो सकती थी, निश्चित रूप से राष्ट्रीय आंदोलन के खिलाफ हो जाते। किसी भी आंदोलन की सफलता की पहली शर्त होती है उसके शत्रुओं की संख्या को कम रखना, वह भी तब, जबकि आंदोलन कमजोर हो या आजमाया न गया हो। इस बात कका ख्याल रखना बहुत जरूरी होता है।

टास्क मोपला विद्रोह का तात्कालिक कारण क्या था?

बारदोली सत्याग्रह

सूरत जिले (गुजरात) के बारदोली तालुके में 1928 में लगान न देने का आंदोलन भी ककई दृष्टिकोण से असहयोग आंदोलन की ही देन था। 1922 में इसी बारदोली तालुके से गाँधीजी असहयोग आंदोलन का श्रीगणेश करने वाले थे, लेकिकन चौरीचौरा कांड के चलते ऐसा संभव न हो सका। 1922 में यहाँ से तो आंदोलन तो नहीं छिड़ा, पर सविनय अवज्ञा आंदोलन के लिए तैयारियाँ शुरू हो गईं। यह तालुका 1922 से ही जोरदार राजनीतिक गतिविधियों का केन्द्र बन गया। स्थानीय नता जैसे कल-याणजी और कुँवरजी मेहता (दोनों भाई) और दयालजी देसाई ने असहयोग आंदोलन के लिए जनमत तैयार करने में काफी काम किया था। इन्हीं लोगों के प्रयास से गाँधीजी ने खेड़ा के बजाय बारदोली को असहयोग आंदोलन शुरू करने के लिए चुना था। ये लोग इस क्षेत्र में असहयोग आंदोलन शुरू होने के लगभग 10 साल पहले से ही समाजसेवी और राजनीतिक नेता के रूप में काफी सक्रिय थे। कई राष्ट्रीय स्कूलों की स्थापना की थी। छात्रों को सरकारी स्कूल छोड़ने के लिए प्रेरित किया गया था, विदेशी कपड़ों और शराब के बहिष्कार का प्रभावी आंदोलन छेड़ रखा था और सूरत नगरपालिका पर अपना अधिकार कायम करने में सफल रहे थे। इस क्षेत्र की सबसे महत्त्वपूर्ण बिरादरियाँ थीं अनाविबल ब्राह्मण और पट्टीदार और अनाविल आश्रम की स्थापना की थी, जो एक तरह से छात्रावास का काम करते थे। अपने तमाम सुधारवादी कदमों के कारण जिनमें शादी-ब्याह के और अन्य रीति-रिवाजों के सुधार भी शामिल थे, समाज में इनकी बहुत प्रतिष्ठा थी।

नोट

असहयोग आंदोलन वापस ले लिए जाने से शुरू में बारदोली कांग्रेस कार्यकर्ताओं का मनोबल गिरा, पर जल्द ही ये लोग रचनात्मक कार्यों में जुट गए। 1922 में गाँधीजी ने इनसे कहा था कि आप लोगों ने आदिवासी, नीच और अछूत जातियों के लिए कुछ नहीं किया है। गाँधीजी के सुझाव पर इन लोगों ने अछूतों और आदिवासियों के बीच, जिन्हें कालिपराज (अश्वेतजन) कहा जाता था, काम करना शुरू किया (सवर्णों या उच्च जातियों उजलीपराज कहा जाता था)। तालुके की 60 फीसदी आबादी कालिपराजों की थी। कांग्रेस के इन स्वयंसेवी कार्यकर्ताओं ने, जो खुद स्वर्ण जाति के थे, कालिपराज यानी अछूत और आदिवासी जनता के बीच छह आश्रम खोले। ये आश्रम पूरे तालुके में भिन्न-भिन्न स्थानों पर खोले गए। इनके माध्यम से आदिवासियों और पिछड़े वर्गों में शिक्षा-प्रसार व अन्य कार्य किए गए। इनमें से कई आश्रम आज भी हैं।

कुँवरजी मेहता और केशवजी गणेशजी ने आदिवासियो की बोली सीखी और कालिपराज समुदाय के शिक्षित लोगों की सहायता से 'कालिपराज साहित्य' का सृजन किया। कविताओं और गद्य के माध्यम से कालिपराजों में व्याप्त सामाजिक कुरीतियों पर हमला किया गया। बँधुआ मजूरी (हाली पद्धति) के खिलाफ आवाज उठाई गई। भजन मंडलियाँ, जिनमें कालिपराज और उजलीपराज दोनों समुदायों के लोग थे, घूम-घूमकर सामाजिक सुधारों का आदेश देती थीं। कालिपराजों को शिक्षित करने के लिए रात्रि पाठशालाएँ खोली गई और 1927 में बारदोली कस्बे में कालपराज बच्चों के लिए एक स्कूल खोला गया। आश्रम के कार्यकर्ताओं की जमींदारों और ऊँची जातियों के लोगों से कई बार मुठभेड़ हो जाती। जमींदारों व धनी किसानों को लगता कि ये आश्रमवाले उनके मजदूरों को भड़का रहे हैं। 1922 के बाद हर साल कालिपराज सम्मेलन होता 1927 के वार्षिक सम्मेलन की अध्यक्षता गाँधीजी ने की और कालिपराज समुदाय के आर्थिक-सामाजिक हालात का अध्ययन करने के लिए जाँच समिति गठित की। गाँधीजी ने कालिपराज का नाम बदलकर 'रानीपराज' रख दिया। इसका अर्थ था–जंगल के वासी। गाँधीजी की निगाह में कालिपराज (अश्वेतजन) शब्द अपमानजनक था।

गुजरात के कई बड़े जाने-माने नेताओं जैसेस नरहरि पारीख और जगतराम दवे ने कालिपराज समुदाय के आर्थिक-सामाजिक पहलुओं का अध्ययन किया और अपनी रिपोर्ट में 'हाली पद्धति' को बहुत ही अमानवीय और शोषक पद्धति बताया। रिपोर्ट में कहा गया था कि सूदखोर और जमींदार गरीब कालिपराज जनता का आर्थिक और यौन शोषण कर रहे हैं। जमींदार गरीब औरतों के साथ बलात्कार करते हैं। इन सब रचनात्मक कार्यों के बल पर कालिपराज समुदाय के बीच कांग्रेस का एक मजबूत आधार तैयार हो गया।

आश्रम के कार्यकर्ता भूमिधर किसानों के बीच भी सक्रिय थे। इसके बीच भी इन्होंने अपनी अच्छे जगह बना ली थी और इसीलिए जनवरी 1926 में, जब पता चला कि लगान पुनरीक्षण अधिकारी ने लगान में 30 फीसदी बढ़ोतरी की सिफारिश की है, तो कांग्रेस नेताओं ने फौरन इनका विरोध किया और इस मामले की जाँच के लिए बारदोली जाँच समिति का गठन किया। समिति ने जुलाई 1926 में अपनी रिपोर्ट दी, जिसमें लगान बढ़ोतरी को अनुचित बताया गया था। इसके बाद अखबारों ने लगान बढ़ोतरी के खिलाफ लिखना शुरू किया। पहल की 'यंग इंडिया' और 'नवजीवन' ने, बाद में 'बॉम्बे क्रॉनिकल', बॉम्बे समाचार', 'नवाकाल', 'देशबन्धु', 'मराठा', 'जाम-ए-जमशेद' और 'प्रजाबंधु' ने खूब लिखा।

संवैधानिक संघर्ष में आस्था रखनेवाले क्षेत्रीय नेताओं ने, जिनमें विधान परिषद् के सदस्य भी शामिल थे, इस मुद्दे को उठाया। खेदुत मंडल के माध्यम से किसानों की बैठकें आयोजित की गईं और उन्हें जिले के कलक्टर की याचिकाएँ भेजने की सलाह दी गई मार्च 1927 में भीम भाई नाइक और शिवदासानी के नेतृत्व में किसानों का एक प्रतिनिधिमंडल बम्बई सरकार के राजस्व विभाग के प्रमुख अधिकारी (रेवेन्यू मेंबर) से मिला। विधान परिषद् में भी यह मामला उठाया गया और जुलाई 1927 में सरकार ने 30 फीसदी लगान बढ़ोतरी को घटाकर 21.97 फीसदी कर दिया। लेकिन यह रियायत मामूली थी और इतनी देर से घोषित की गई थी कि इससे कोई भी संतुष्ट नहीं हुआ। संधिानवादियों ने अब किसानों को सलाह दी कि वे बढ़ा हुआ लगान न दे, जितना पहले दे रहे थे, उतना ही दें। दूसरी ओर कांग्रेस के कार्यकर्ताओं का कहना था कि यदि सरकार पर दबाव डालना है, तो किसान लगान देना बंद कर दें। लेकिन इस मौके पर किसानों ने नरमपंथी नेताओं की ही सलाह मानी।

नोट

लेकिन जल्द ही संविधानवादी नेताओं की, आंदोलन को नेतृत्व देने की क्षमता उजागर हो गई। वे बढ़ा हुआ लगान ने देने के आंदोलन का भी नेतृत्व करने में हिचकिचाने लगे। मजबूर होकर किसान फिर कांग्रस नेताओं की ओर लौटे। इस बीच कांग्रेस नेताओं ने वल्लभभाई पटेल से भी सम्पर्क स्थापित कर लिया था और उनसे आंदोलन की रहनमाई करने का अनुरोध कर रहे थे। कादोद संभाग के बामनों गाँव में 60 गाँवों के प्रतिनिधियों की बैठक हुई, जिसमें वल्लभभाई पटेल को आंदोलन का नेतृत्व करने के लिए औपचारिक रूप से आमंत्रित किया गया और जनवरी 1928 के आखिरी हफ्ते में किसान समिति के सदस्य और स्थानीय नेता वल्लभभाई का बारदोली आन का निमंत्रण देने के लिए अहमदाबाद गए। वल्लभभाई पटेल ने निमंत्रण स्वीकार कर लिया और 5 फरवरी 1928 से पहले बारदोली आने का आश्वासन दिया (वह तारीख, जिस दिन से लगान देय था)। इन स्थानीय नेताओं ने गाँधीजी से भी भेंट की और जब गाँधीजी को यह विश्वास हो गया कि किसान इस आंदोलन के साथ हैं, तो उन्होंने भी इसे अपना समर्थन दिया।

4 फरवरी का वल्लभभाई पटेल बारदोली पहुँचे और किसानों के प्रतिनिधियों और संविधानवादियों से लम्बी बातचीत की। कई बैठकें हुईं। ऐसी ही एक बैठक के दौरान नरमपंथी नेताओं ने किसानों से खुले तौर पर कहा कि आंदोलन के उनके तमाम संवैधानिक तरीके असफल हो गए हैं, अत: वे वल्लभभाई पटेल के सुझाए हुए तरीकों पर चलें। वल्लभभाई पअेल ने किसानों को स्पष्ट कर दिया कि प्रस्तावित आंदोलन के नतीजे क्या-क्या हो सकते हैं। उन्होंने किसानो को इस मुद्दे पर विचार करने के लिए एक हफ्ते का समय दिया। वहाँ से वह अहमदाबार लौटे और बम्बई के गवर्नर को एक खत लिखा। इस खत में उन्होंने लिखा था कि सरकार ने लगान निर्धारण में गलती की है, यह गलत आँकड़ों पर आधारित है। वल्लभभई पटेल ने सरकार से इस मामले की निष्पक्ष जाँच का अनुरोध किया था, साथ ही यह धमकी भी दी थी कि यदि निष्पक्ष जाँच नहीं कराई गई तो वह किसानो को लगान न देने की सलाह देंगे, इसका नतीजा चाहे जो हो! गवर्नर के सचिव ने वल्लभभाई पटेल को जवाब दिया कि उनका खत राजस्व विभाग को भेज दिया गया है।

12 फरवरी को पटेल बादोली लौटे और किसान प्रतिनिधियों को सारा किस्सा बताया। इसके बाद बारदोली तालुके के किसानों की एक बैठक हुई और एक प्रस्ताव पास कर लगान की अदायगी तब तक न करने का निर्ण किया गया, जब तक कि सरकार किसी निष्पक्ष ट्रिब्यूनल का गठन नहीं करती या पहले से ही दिए जा रहे लगान को ही लगान की पूरी आदयगी नहीं मानती। किसानों ने 'प्रभु' और 'खुदा' के नाम पर शपथ ली कि वे लगान नहीं देंगे। प्रस्ताव पास होने के बाद गीता और कुरान का पाठ हुआ और हिन्दू-मुसलमान एकता जतानेवाले कबीर के दोहे गाए गए। सत्याग्रह शुरू हो गया।

1874 में जन्मे वल्लभभाई पटेल ही इस आंदोलन के सही मुखिया हो सकते थे। 'खेड़ा सत्याग्रह', 'नागपुर फ्लैग सत्याग्रह' और बलसाड सत्याग्रह' के माध्यम से वह गुजरात के बहुचर्चित, सम्मानित नेता हो गए थे। गाँधी के बाद दूसरे नंबर पर वही आते थे। संगठनकर्ता, वक्ता, संघर्षशील व्यक्तित्व के रूप में वह पहले से ही जाने जाते थे बारदोली सत्याग्रह में उन्हें 'सरदार' की उपाधि दी गई। उन्हें यह खिताब दिया बारदोली की औरतों ने। बारदोली की जनता आज भी वल्लभभाई पटेल के भाषणों को याद करती है। उन भाषणों को, जो किसानों के दिल को छू लेते थे। बारदोली के किसान आज भी कहते हैं: 'उनके भाषण तो मुर्दों को भी जिंदा करने वाले थे।

सरदार वल्लभभाई पटेल ने पूरे इलाके को 13 कार्यकर्ता शिविरों (छावनियों) में बांट दिया और प्रत्येक शिविर के संचालन के लिए एक-एक अनुभवी नेता तैनात किया गया। प्रांत के विभिन्न हिस्सों के लगभग 100 राजनीतिक कार्यकर्ता और 1500 स्वयंसेवी, जिनमें ज्यादातर छात्र थे, इस आंदोलन की सेना थे। एक प्रकाशन विभाग भी बनाया गया, जहां से रोज 'बारदोली सत्याग्रह पत्रिका' का प्रकाशन होता था, जिसमें बड़ी ही सरल, सुबोध और व्यंग्यपूर्ण शैली में लेख लिखे जाते थे। नेताओं के भाषण और किसानों की संपत्ति की कुर्की (जब्ती) की तसवीरें भी छापी जाती थीं। स्वयंसेवक इस पत्रिका को तालुके के हर हिस्से तक पहुँचाते। आंदोलन का अपना खुफिया

नोट

विभाग भी था। इसका काम यह पता लगाना था कि कहीं कोई लगान तो नहीं दे रहा है और यदि दे रहा है या देने का मन बना रहा है, तो उसे रोका जाता था। यह विभाग यह भी पता लगाता था कि सरकार अब क्या करने जा रही है, किसकी संपत्ति जब्त करनेवाली है। जैसे ही पता चलता, संबद्ध व्यक्ति को खबर कर दी जाती। कभी उसे होशियार रहने को कहा जाता और कभी-कभी पड़ोस की बड़ौदा रियासत में भेज दिया जाता।

संघर्ष के लिए जागरूकता पैदा करने का काम मुख्य रूप से बैठको, भाषणों, परचों के माध्यम से आर घर-घर जाकर किया गया। महिलाओं को जागरूक करने पर विशेष ध्यान दिया गया, इस काम के लिए बम्बई की पारसी महिला मीठूबेन पेटिट, भक्तिबा (दरबार गोपाल दास की पत्नी), मनीबेन पटेल (सरदार वल्लभभाई की बेटी), शारदाबेन शाह और शारदा मेहता को विशेष रूप से लगाया गयाा था। इसका नतीजा यह हुआ कि कई बार बैठकों में महिलाओं की संख्या पुरुषों से अधिक हो जाती और उनपर सरकार की धमकियों का कोई असर नहीं पड़ा। छात्रों से कहा गया कि वे अपने परिवार को समझाएँ, उनका साहस बढ़ाएँ और संघर्ष का समर्थन करने को कहें।

जो लोग डर के मारे लगान अदायगी की बात सोच रहे थे या जो चुपके-चुपके लगान दे रहे थे, वे भी रास्ते पर आ गए, क्योंकि आंदोलनकारियों ने उन्हें सामाजिक बहिष्कार की धमकी दी थी। इस उद्देश्य के लिए जाति और ग्राम पंचायतों का भरपूर उपयोग किया गया। ढुलमुल नीति अपनानेवालों को लग गया कि उनको जाति-निकाला दे दिया जाएगा और नाई, धोबी, कहार, कुम्हार और मतजदूर सभी उनका बहिष्कार कर देंगे। इस डर ने लोगों के दिल से सरकार का डर निकाल दिया और ये लोग भी आंदोलन के समर्थक हो गए।

सरकार ने कभी इस तरह के प्रतिरोध का सामना नहीं किया था। सरकारी अधिकारियों के खिलाफ सामाजिक बहिष्कार का अस्त्र पूरी तरह प्रयोग किया गया। उन्हें वाहन, खाद्य सामग्री और अन्य जरूरी चीजों से वंचित रहना पड़ा। नौकर-चाकर भी नहीं मिल रहे थे। सरकारी काम-काज करना भी इनके लिए मुश्किल हो रहा था। कांग्रेस ने कालिपराज समुदाय के बीच जो काम किए थे, उसका भी फायदा उसे इस आंदोलन में मिला। सरकार ने कालिपराज यानी आदिवासियों व अछूतों को सवर्णों के खिलाफ भड़काने की बड़ी कोशिशें की, पर कामयाबी नहीं मिली।

सरदार पटेल और उनके सहयोगी भी अहम मुद्दों पर संविधानवावदियों, नरमपंथियों और जनका की राय लेने का पूरा प्रयास करते। इसका नतीजा यह हुआ कि सरकार के समर्थक, उसके प्रति नरम रुख अपनानेवाले भी अब किसानों के खेम में आने लगे, उनका समर्थन करने लगे। बम्बई विधान परिषद् के कई सदस्यों ने इस्तीफा दे दिया। नरमपंथियों के एक संगठन 'सर्वेंट ऑफ इंडिया सोसाइटी' से कांग्रेस के नेताओं ने अनुरोध किया कि वह किसानों की तमाम शिकायतों की जाँच करे। जाँच के बाद इसने जो रिपोर्ट प्रस्तुत की, उससे अनेक बाकी नरमपंथी नेता भी किसान संघष्र के समर्थक हो गए।

गवर्नर की कार्यकारी परिषद् के भारतीय सदस्यों का भी अब तक मोहभंग हो गया था। वे अब दमनकारी सत्ता का समर्थन करने के पक्ष में नहीं थे। जुलाई 1928 के अन्त आते-आते वाइसराय लॉर्ड इरविन को भी लगने लगा कि मामला गड़बड़ है। उन्होंने गवर्नर विलसन पर दबाव डाला कि वह मामले को जल्द रफा-दफा करें। ब्रिटेन की संसद में भी इस मामले पर सवाल उठाए जाने लगे थे।

देश में जनमत लगातार सरकार-विरोधी होता जा रता था। बम्बई प्रेसीडेंसी के कई हिस्सों में किसान अपने लगान के पुनर्निर्धारण के लिए आंदोलन की धमकी दे रहे थे। बम्बई के कपड़ा मिलों के मजदूर हड़ताल पर थे और सरकार को डर था कि कहीं सरकार पटेल और बम्बई के कम्युनिस्ट नेता मिलकर रेल हड़तान न करा दें। इससे सेना और रसद का बारदोली पहुंचना असंभव हो जाएगा। बॉम्बे यूथ लीग और अन्य संगठन बम्बई की जनता का उद्वेलित करने में बहुत हद तक सफल रहे थे। जनसभाओं और प्रदर्शनों का सिलसिला जारी था। पंजाब से बारदोली के लिए जत्थों की पैदल रवानगी की बातें उठ रही थीं। 2 अगस्त 1928 को गाँधीजी बारदोली पहुँच गए। इस आशय से कि यदि सरकार पटेल को गिरफ्तार करती है, तो वह आंदोलन की बागडोर खुद सँभालेंगे। इन

नोट

परिस्थितियों में अब सरकार क्या कर सकती थी। वह मुँह छिपाने का बहाना ढूँढ़ने को मजबूर थी।

उसे मुँह छिपाने का बहाना मिल गया। सूरत के विधान परिषद् सदस्यों ने गवर्नर को एक चिट्ठी लिखी, जिसमे लिखा था, "जाँच के लिए आपने जो शर्तें रखी हैं, वे मान ली जाएँगी।" वे शर्तें क्या थीं, इसका चिट्ठी में जिक्र नहीं था। वावस्तव में सरकार यह मान गई कि वह बढ़े हुए लगान की वसूली पर जोर नहीं देगी। गवर्नर ने जब घोषणा की कि यह उसकी जीत है, तो इस बात को किसी ने गंभीरता से नहीं लिया।

एक न्यायिक अधिकारी ब्रूमफील्ड और एक राजस्व अधिकारी मैक्सवेल ने सारे मामले की जाँच की ओर अपनी रपट में लिखा कि 30 प्रतिशत लगान बढ़ोतरी गलत थी। इसे घटाकर 6.03 प्रतिशत कर दिया गया। लंदन में प्रकाशित 'न्यू स्टेट्समैन' ने 5 मई 1929 वे अपने अंक में लिखा: "जाँच समिति की रिपोर्ट सरकार के मुँह पर तमाचा है... इसके दूरगामी परिणाम होंगे....।"

किसान संघर्ष और राष्ट्रीय स्वाधीनता संघर्ष के अत:संबंधों की सबसे सुंदर व्याख्या शायद गाँधीजी ने ही की है। उन्हें के शब्दों में–"बारदोली संघर्ष चाहे कुछ भी हो, यह स्वराज की प्राप्ति के लिए संघर्ष नहीं है। लेकिन इस तरह का हर संघर्ष, हर कोशिश हमें स्वराज के करीब पहुँचा रही है और हमें स्वराज की मंजिल तक पहुँचाने में शायद य संघर्ष सीधे स्वराज के लिए संघर्ष से कहीं ज्यादा सहायक सिद्ध हो सकते हैं।"

किसान सभाओं का गठन–किसान नेताओं के एक भाग ने कांग्रेस की नीतियों के विरोधाभास को समझा। ये दोनों आन्दोलन जो कांग्रेस ने किए थे, उससे भूमिपतियों को ही लाभ हुआ था। कांग्रेस भूमिपतियों तथा मुजारों के सम्बन्धों के विषय में कुछ नहीं कर रही थी। वह भूमिरहित किसानों के प्रति उदासीन थी। साम्यवादी तथा अन्य वामपन्थी दलों ने किसानों में वर्ग-जागरण उत्पन्न किया और किसान सभाओं के गठन में विशेष भूमिका निभाई।

1920 से आरम्भ होने वाले दशक में बंगाल, पंजाब तथा यू.पी. में किसान सभाओं का गठन हुआ। 1928 में आंध्र प्रान्तीय रैयत सभा (Andhra Provincial Ryots Association) बनी परंतु अखिल भारतीय किसान सभा का गठन 11 अप्रैल, 1936 को लखनऊ में हुआ। किसान सभा का उद्देश्य किसानों की आर्थिक शोषण से रक्षा करना था। उन्होंने ऋणों पर भी ऋणस्थगन (moratorium) मांगा, कम लाभदायक जोतों (uneconomic holdings) पर भूमि कर का हटाना, किराया तथा भूमि कर का कम करना, साहूकारों को लाईसेन्स (licence) लेने पर बाध्य करना, कृषि मजदूरों का कम से कम वेतन निश्चित करना, गन्ने तथा अन्य व्यापारिक फसलों के लिए उचित दर निश्चित करना तथा सिंचाई के साधनों इत्यादि की मांगें प्रस्तुत कीं। उन्होंने जमींदारी व्यवस्था की समाप्ति, तथा भूमि कृषक को ही मिले, ऐसी मांग की। इसके अतिरिक्त उन्होंने कृषकों को भी स्वतन्त्रता संग्राम में भाग लेने को कहा।

8.2 1930 ई. से 1940 ई. के दौरान कृषक आंदोलन (Peasant Movements in The 1930's and 1940's)

1930 के दशक में भारतीय किसानों में एक नया राष्ट्रवादी जागरण आया। उन्होंने अपनी शक्ति को पहचाना और अपने हालात बदलने के लिए एकजुट होकर कोशिशें कीं। यह जागरण दो आर्थिक और राजनीतिक घटनाओं का परिणाम था: एक तो विश्वव्यापी मंदी जिसके प्रभाव भारत में 1929-30 में दिखाई पड़ने लगे थे और दूसरी, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस द्वारा छेड़े गए जनसंघर्ष का दौर (1930)।

मंदी के कारण कृषि उपजों की कीमतें काफी गिर गईं–50 प्रतिशत या उससे भी ज्यादा और इसके कारण भारी करों और लगान से बदहाल किसानों की हालत और खराब हो गई। लेकिन सरकार न तो अपना टैक्स कम करने को तैयार थी और न जमींदारों को यह कहने को कि वे लगान की दरें कम कर दें। दाम तो औद्योगिक उत्पादकन का भी गिरा, लेकिन उतना नहीं जितना खेती की पैदावाद का अत: कुल मिलाकर किसानों की स्थिति यह हो गई कि उन्हें टैक्सों, लगानों और ऋणों का भुगतान तो मंदी के पहले की दरों पर करना पड़ रहा था, लेकिन

नोट

उनकी आय लगातार कम होती जा रही थी।

राष्ट्रवादी असंतोष के इसी माहौल में 1930 में सविनय अवज्ञा आंदोलन छेड़ा गया और देश के बहुत-से हिस्सों में इसने टैक्स और लगान न देने के अभियान का रूप ले लिया। किसानों को बारदोली सत्याग्रह (1928) में हाल ही में सफलता मिली थी, अतः उन्होंने बड़े उत्साह के साथ इस अभियान में हिस्सा लिया। आंध्र मे लगान-व्यवस्था का नया बंदोबस्त होने वाला था, जिससे लगान की दरें बढ़ जातीं। वहा राजनीतिक आंदोलन इस बंदोबस्त के विरोध के साथ जुड़ गया। उत्तर प्रदेश में टैक्स और लगान अदा न करने का अभियान गाँधी इरविन समझौते के बाद भी जारी रहा। खुद गाँधीजी ने उत्तर प्रदेश के किसानों से अपील की कि वे सिर्फ 50 प्रतिशत लगान का भुगतान करें और रसीद पूरे की लें। गुजरात के किसानों ने, खासकर सूरत और खेड़ा में, टैक्स देने से नकार कर दिया और सरकारी दमन से बचने के लिए हिजरत पर बड़ौदा चले गए उनकी जमीन और चल-सपत्ति जब्त कर ली गई। बिहार और बंगाल में किसानों को चौकीदारी टैक्स देना पड़ता था, जो अपने ऊपर अत्याचार करने वालों के रख-रखाव की व्यवस्था करने की तरह था। इसके खिलाफ जबरदस्त आंदोलन हुए। पंजाब में 'टैक्स रोको' अभियान के साथ-साथ किसान सभाओं का अभ्युदय हुआ और टैक्स तथा पानी की दरों में कटौती करने और कर्ज का कुछ हिस्सा खत्म करने की माँग की गई। महाराष्ट्र, बिहार और मध्य प्रांतों में किसानों तथा आदिवासियों ने 'जंगल सत्याग्रह' कर उन वन-नियमों का विरोध किया, जिनके तहत वनों के सार्वजनिक उपयोग पर पाबंदी लगा दी गई थी। आंध्र में 'जमींदारी-विरोधी संघर्ष' भी चला, जिसका पहला निशाना बनी नेल्लो जिले की वेंकटगिरी जमींदारी।

सविनय अवज्ञा आंदोलन ने किसान-आंदोलन के अभ्युदय में एक और तरह से भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई–इसके गर्भ से युवा लड़ाकू कार्यकर्ताओं की एक पूरी पीढ़ी पैदा हुई। उन्हें राजनीतिक दीक्षा तो सविनय अवज्ञा आंदोलन के दौरान ही मिली, लेकिन धीरे-धीरे वे वामपंथी विचारधारा के प्रभाव में आते गए, जिसका प्रचार जवाहरलाल नेहरू, सुभाष बोस, साम्यवादियों तथा अन्य मार्क्सवादी एवं वामपंथी नेताओं और ग्रुपों द्वारा किया जा रहा था। जब सविनय अवज्ञा आंदोलन में उतार आया, तो इन कार्यकर्ताओं के सामने, जिनमें युवक भी थे और युवतियाँ भी, सवाल उठा कि वे अपनी राजनीतिक ऊर्जा को कहाँ लगाएँ। नतीजा यह हुआ कि उनमें से बहुतों ने किसानों को संगठित करना शुरू कर दिया।

किसान सभा का पहला सम्मेलन

इसके साथ ही 1934 में कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी (सी.एस.पी.) के गठन से वामपंथी ताकतों के एकजुट होने की प्रक्रिया होने की प्रक्रिया तेज हो गई। सी.एस.पी. की सदस्यता ने साम्यवादियों को बगैर लुके-छिपे और कानूनी ढंग से काम करने का मौका दिया। एन.जी. रंगा तथा दूसरे अनेक नेता किसान आंदोलन के सुचारू संचालन के लिए अरसे से एक अखिल भारतीय संगठन बनाने की कोशिश करते जा रहे थे, लेकिन इसे कामयाबी वामपंथ की एकता से ही मिली। अप्रैल 1936 में लखनऊ में 'अखिल भारतीय कांग्रेस' की स्थापना हुई, जिसका नाम बाद में बदलकर 'अखिल भारतीय किसान सभा' कर दिया गया। बिहार प्रांतीय किसान सभा के लड़ाकू संस्थापक स्वामी सहजानंद सरस्वती इसके अध्यक्ष और आंध्र में किसान आंदोलन के अगुआ तथा कृषि क्षेत्र की समस्याओं के विद्वान एन.जी. रंगा महासचिव चुने गए। किसान सभा क पहले सम्मेलन में खुद जवाहरलाल नेहरू आए और संगठन का स्वागत किया। इस सम्मेलन में उपस्थित अन्य हस्तियाँ थीं राममनोहर लोहिया, सोहन सिंह जोश, इंदुलाल यागनिक, जयप्रकाश नारायण, मोहनलाल गौतम, कमल सरकार, सुधीन प्रामाणिक तथा अहमद दीन। सम्मेलन ने निर्णय किया कि किसानों का एक घोषणापत्र निकाला जाए तथा इंदुलाल यागनिक के संपादन मे एक बुलेटिन का नियमित प्रकाशन हो।

अखिल भारतीय किसान समिति के बम्बई सत्र में किसान घोषणापत्र का मसविदा स्वीकृत किया गया और कांग्रेस कार्य समिति को सौंप दिया गया ताकि वह उसे 1937 के चुनाव वु अवसर पर प्रकाशित होने वाले अपने घोषणापत्र में शामिल कर संके। फौजपुर कांग्रेस में शामिल कृषि कार्यक्रम पर किसान घोषणापत्र का काफी प्रभाव देखा जा

नोट

सकता है। कांग्रेस ने सरकार के सामने जो मांगे रखीं, उनमें मुख्य थीं भूराजस्व और लगान में 50 प्रतिशत कमी, ऋणों की वसूली का स्थगन, सामंती वसूलियों की समाप्ति, काश्तकारों की बेदखली से सुरक्षा, खेतिहर मजदूरों को गुजारे लायक मजदूरी और किसान यूनियनों को मान्यता।

फैजपुर में कांग्रेस सत्र के साथ अखिल भारतीय किसान कांग्रेस का भी दूसरा सत्र चला, जिसकी अध्यक्षता एन. जी. रंगा ने की। इस अवसर पर 500 किसानों ने मानमाड़ से फैजपुर तक 200 मील पैदल मार्च किया जिसका एक उद्देश्य लोगों को किसान कांग्रेस के उद्देश्यों से अवगत कराना था फैजपुर में उनका स्वागत जवाहरलाल नेहरू, शंकरराव देव, मानवेंद्र नाथ राय, नरेंद्र देव, एस.ए. डांगे, मीनू मसानी, यूसुफ मेहर अली, बंकिम मुखर्जी और अन्य अनेक किसान एवं कांग्रेस नेताओं ने किया। रंगा ने अपने अध्यक्षीय भाषण में घोषणा की कि "हम अपने को इसलिए संगठित कर रहे हैं, ताकि समाजवादी राज्य और समाज की स्थापना के लिए तैयारी कर सकें।"

1937 के प्रारम्भ में देश के बहुसंख्यक प्रांतों में कांग्रेस सरकारों के गठन से किसान आंदोलन का एक नया दौर शुरू हुआ। देश का पूरा राजनीतिक माहौल बदला हुआ था। नागरिक स्वतंत्रताएँ बढ़ गई थीं। हमारे अपने लोग सत्ता में हैं इस एहसास से स्वतंत्रता का एक नया बोध पैदा हुआ था। यह अपेक्षा भी पैदा हुई थी कि कांग्रेस सरकारें जनता की भलाई के लिए कुछ काम करेंगी यानी कुल मिलाकर 1937-39 के तीन वर्ष किसान आंदोलन के उत्कर्ष के वर्ष थे। कांग्रेस सरकारों ने कृषि कानूनों में सुधार के लिए कुछ ठोस कदम भी उठाए-ऋणों में राहत देने के लिए मंदी के दौरान जो किसान भूमिहीन हो गए थे, उन्हें उनकी जमीन वापस लौटाने के लिए, काश्तकारों की सुरक्षा के लिए और इससे किसानों को प्रेरणा मिली कि वे प्रस्तावित कानूनों के पक्ष में माहौल बनाएँ तथा जरूरत पड़ने पर उनका रूप बदलने की माँग करें।

किसानों में जागरण पैदा करने और उन्हें संगठित करने का मुख्य माध्यम था थाना, तालुका, जिला और प्रांत के स्तर पर किसान सभाएँ या सम्मेलन आयोजित करना, जिनमें किसानों की माँगें पेश की जातीं और प्रस्ताव पारित होते। इन सम्मेलनों में स्थानीय, प्रांतीय और राष्ट्रीय स्तर के नेता भाषण देते। सम्मेलन के पूर्व कार्यकर्ता गाँव-गाँव घूमकर छोटी-छोटी बैठकें करते, कांग्रेस और किसान सभा के सदस्य बनाते, नकद या अनाज के रूप में चंदा जमा करते और किसानों को ज्यादा-से-ज्यादा संख्या में सम्मेलन में हिस्सा लेने के लिए प्रेरित करते। सम्मेलन के दौरान सांस्कृतिक कार्यक्रम भी आयोजित किए जाते, जिसका लक्ष्य किसान आंदोलन के उद्देश्यों को मार्मिक ढंग से जनता के बीच रखना होता था। आसपास के क्षेत्रों में इन सब चीजों का जबरदस्त असर पड़ता था और सभा या सम्मेलन में भाग लेने वाले किसान अपनी ताकत की नई चेतना और अपनी स्थितियों की बंहतर समझ के साथ लौटते थे।

कृषक संघमों का उदय

केरल के मलाबार क्षेत्र में जो शक्तिशाली किसान आंदोलन विकसित हुआ, उसके मूल में कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी के कार्यकर्ताओं का सतत प्रयास था। ये कार्यकर्ता 1934 से ही किसानों के बीच काम कर रहे थे, गाँव-गाँव घूम रहे थे और कृषक संघमों (किसान संघों) का गठन कर रहे थे। यहाँ के किसान आंदोलन की मुख्य माँगें थीं—सामंती वसूलियों, नवीकरण शुल्क तथा लगान की अग्रिम अदायगी को खत्म किया जाए और जमीन हम खुद जोतेंगे, इस आधार पर जमींदारों द्वारा काश्तकारों की बेदखली बंद की जाए। किसानों ने भूराजस्व, लगान तथा ऋण के बोझ में कमी करने, अनाज का वजन करने, जमींदारों द्वारा सही तौलों का प्रयास करने और उनके मैनेजरों के भ्रष्टाचार को खत्म करने की माँग भी रखी।

मलाबार में किसानों के बीच जागरण फैलाने का मुख्य माध्यम था विभिन्न गाँवों में कर्षक संघम की इकाइयों का गठन तथा किसान सभाओं और सम्मेलनों का आयोजन। लेकिन जो तरीका बहुत लोकप्रिय और असरदार साबित हुआ, वह था किसानों का जत्था बनाकर जमींदारों के घर जाना, उनके सामने अपनी माँगें रखना और तुरंत समाधान हासिल करना। ये जत्थे ज्यादातर सामंती वसूलियों के खिलाफ होते थे। कृषक संघम ने 1929 के मलाबार काश्तकारी अधिनियम में सुधार के लिए भी जबरदस्त अभियान छेड़ा। 6 नवंबर 1938 को मलाबार काश्तकारी अधि

नोट

नियम सुधार दिवस के रूप में मनाया गया। उस दिन पूरे जिले में स्थान-स्थान पर सभाएँ हुईं और सर्वत्र अधिनियम में संशोधन के लिए एक ही तरह का प्रस्ताव पारित किया गया। अखिल मलाबार कृषक संघ द्वारा आर. रामचंद्र नेडुमगडी की अध्यक्षता में काश्त की अवधि से संबंधित समस्याओं का अध्ययन करने के लिए एक समिति भी बनाई गई। समिति की सिफारिशों पर केरल प्रदेश कांग्रेस समिति ने 20 नवंबर 1938 को अपनी मुहर लगा दी। अगले महीने पाँच-पाँच सौ किसानों के दो जत्थे उत्तर मलाबार में करिवललुर और दक्षिण मलाबार में कांजिकोड से रवाना हुए और रास्ते में विभिन्न कांग्रेस समितियों द्वारा स्वागत केन्द्रों से गुजरते हुए कालिकट के पास चेवयूर में उनका संगम हुआ, जहाँ अखिल मलाबार कृषक संघम का सम्मेलन होने वाला था। उसी शाम कालिकट में समुद्र किनारे एक जनसभा की गई, जिसकी अध्यक्षता पी. कृष्ण पिल्लै (जो पहले कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी में थे और बाद में कम्युनिस्ट पार्टी में दाखिल हो गए) ने की। जनसभा में प्रस्ताव पारित कर काश्तकारी कानून में संशोध न की माँग की गई। जनमत के दबाव पर टी. प्रकाशम ने, जो उस वक्त मद्रास प्रेसिडेंसी में राजाजी मंत्रिमंडल में राजस्व मंत्रालय देख रहे थे, उसी महीने लाबार का दौरा किया और एक काश्तकारी समिति बनाई जिसके तीन सदस्य वामपंथी थे। कृषक संघम की इकाइयों और कांग्रेस समितियों ने जगह-जगह सभाएँ की और किसानों का आह्वान किया कि वे समिति के समक्ष अपनी माँगें रखें तथा उसे स्मरणपत्र दें। लेकिन समिति ने अपनी रिपोर्ट देर से दी–1940 में। तब तक कांग्रेस सरकारें इस्तीफे दे चुकी थीं और तुरंत कुछ हो पाना संभव नहीं था। लेकिन काश्तकारी के सवाल पर जो जबरदस्त अभियान चला, उसन किसानों को इतना उद्‌बद्ध तो कर ही दिया कि बाद के वर्षों में उनकी माँगों को स्वीकार किया जाना अपरिहार्य हो गया। वैसे मद्रास की कांग्रेस सरकार, इस्तीफा देने से पहले, ऋणों में राजि देने के लिए एक कानून जरूर पारित कर चुकी थी, जिसका कृषक संघम ने स्वागत किया था।

आंध्र के तटवर्ती इलाकों में भी किसानों में अभूतपूर्व जागरण दिखाई दिया। वहाँ सरकार और जमींदारों के खिलाफ आंध्र प्रातीय रैयत एसोसिएशन तथा आंध्र जमीन रैयत एसोसिएशन द्वारा किए गए सफल संघर्षों की शानदार परंपरा थी। इसके अलावा एन.जी. रंगा 1933 से ही गुंटूर जिले के अपने गाँव निडोब्रोलू में 'भारतीय किसान परिषद्' नाम की संस्था चला रहे थे, जो किसानों को किसान आंदोलन चलाने के लिए प्रशिक्षित करती थी। 1936 के बाद वामपंथी कांग्रेसजनों तथा कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी के लोगों ने, जिनमें से बहुत-से बाद में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी में चले गए, किसानों को संगठित करने की दिशा में महत्त्वपूर्ण काम किया। इनमें पी. सुदरैया का नाम सबसे ऊपर था।

1937 के चुनाव में बहुत-से जमींदार या उनके समर्थक उम्मीदवार कांग्रेस उम्मीदवारों से पराजित हो गए। इससे जमींदारों की प्रतिष्ठ को धक्का लगा और काश्तकारों में आत्मविश्वास पैदा हुआ। बोब्बिली और मुंगला जमींदारियों के खिलाफ संघर्ष छेड़ा गया तथा खेत जोतने और मछली मारने के अधिकारों को लेकर कालीपत्तनम के जमींदार के खिलाफ जिहाद चला।

आंध्र के तटवत्री इलाकों में किसान मार्चों का प्रयाग 1933 से ही सफलतापूर्वक होता आ रहा था। किसान विभिन्न दिशाओं से मार्च करते हुए जिला या तालुके के मुख्यालय में एकत्र होते थे और और अपनी माँगें अधिकारियों के सामने रखते थे। 1938 में प्रांतीय किसान सम्मेलन ने एक बहुत बड़े मार्च का आयोजन किया, जिसके दौरान दो हजार से ज्यादा किसानों ने उत्तर में इच्छापुर से शुरू कर 9 जिलों से गुजरते हुए, लगभग 2400 किलोमीटर की पैदल यात्रा 130 दिनों में पूरी की। मार्च के दौरान रास्ते में सैकड़ों सभाएँ हुईं, जिनमें लाखों किसानों ने भाग लिया। मार्च करने वालों ने 1100 से ज्यादा अर्जियाँ इकट्ठी कीं और उन्हें 27 मार्च 1938 को मद्रास में प्रांतीय विधायिका को सौंप दिया। इन अर्जियों में एक मुख्य माँग ऋण में राहत की थी और कांग्रेस सरकार ने इसे स्वीकार करते हुए कानून भी बनाया। पूरे आंध्र में इसका स्वागत हुआ। किसानों की माँग पर मद्रास मंत्रिमंडल ने एक जमींदारी जांच समिति भी बनाई, लेकिन इसकी सिफारिशों को भी कानूनी शक्ल नहीं दी जा सकी उसके पहले ही कांग्रेस मंत्रिमंडल ने इस्तीफा दे दिया।

नोट

आंध्र के किसान आंदोलन की एक और विशेषता थी–किसान कार्यकर्ताओं को अर्थशास्त्र तथा राजनीतिविज्ञान में प्रशिक्षित करने के लिए ग्रीष्मकालीन स्कूलों का संचालन। विभिन्न स्थानों पर होने वाले प्रशिक्षण शिविरों में उस समय के नामी-गिरामी वामपंथी नेता, जैसे पी.सी. जोशी, अजय घोष और आर.डी. भारद्वाज उपस्थित होते और कक्षाएँ लेते। उनके व्याख्यानों के विषय होते भारतीय इतिहास, राष्ट्रीय संघर्ष का इतिहास, मार्क्सवाद, भारतीय अर्थव्यवस्था तथा इनसे संबंधित चीजें। इन स्कूलों के लिए खर्च की व्यवस्था आंध्र के किसानों से चंदा वसूल कर की जाती थी। किसान दिवस तथा अन्य दिवसों के आयोजन द्वारा एवं किसान गीतों को जनता में फैलाकर भी किसान जागरण अभियान चलाया गया।

जमींदारी उन्मूलन की माँग

बिहार में भी किसान चुप नहीं बैठे रहे। स्वामी सहजानंद ने बिहार प्रांतीय किसान सभा की स्थापना की थी और वे अखिल भारतीय किसान सभा के एक प्रमुख नेता भी थे। किसान सभा के संगठन को बिहार के गाँवों में फैलाने में उन्हें कार्यानंद शर्मा, राहुल सांकृत्यायन, पंचानन शर्मा और यदुनंदन शर्मा जैसे बहुत-से वामपंथी नेताओं का सहयोग मिला। किसान सभा के कार्यक्रम को लोकप्रिय बनाने की दिशा में बिहार प्रांतीय किसान सभा ने सभाओं, सम्मेलनों, रैलियों और प्रदर्शनों का बड़ा प्रभावशाली इस्तेमाल किया। 1938 में पटना में एक बड़ा प्रदर्शन भी हुआ, जिसमें लगभग एक लाख किसानों ने हिस्सा लिया। 1935 में ही किसान सभा जमींदारी उन्मूलन का प्रस्ताव पारित कर चूकी थी। इन सभाओं-सम्मेलनों में बार-बार प्रस्ताव पारित कर इसे एक लोकप्रिय नारा बना दिया गया। बिहार के किसानों की दूसरी माँगें थीं–गैरकानूनी वसूलियों और काश्तकारी की बेदखलों का अंत तथा बकाश्त जमीन की वापसी।

कांग्रेस मंत्रिमंडल ने लगान की दर कम करन और बकाश्त जमीनों की वापसी के लिए कानून बनाने की प्रक्रिया शुरू की थी। बकाश्त जमीन उसे कहते थे, जिसे मंदी के कारण लगान न दे पाने के कारण किसानों ने जमींदारों को दे दिया था। हालाँकि ये जमीनें अब भी किसानों के ही बब्जे में थीं, पर वे उस पर बठाईदार की हैसियत से खेती कर रहे थे। विधायिका के जमींदार सदस्यों की सहमति से अंततः जो फार्मूला बना और जिसे कानून की शक्ल दे दी गई, वह किसान सभा के परिवर्तनवादी नेताओं को मंजूर नहीं हुआ। फार्मूले के अनुसार बकाश्त जमीन का एक हिस्सा ही किसानों को वापस मिलना था और वह भी इस शर्त पर कि वे उस जमीन के नीलामी मूल्य के आधे का भुगतान करें। इसके अलावा, कुछ खास वर्ग की जमीनों पर यह कानून लागू नहीं होता था।

नतीजा यह निकला कि बकाश्त जमीन का मुद्दा किसान सभा और कांग्रेस मंत्रिमंडल के बीच विवार का विषय बन गया। कार्यानंद शर्मा के नेतृत्व में मुंगेर जिले के बड़हिया ताल में जिस तरह का संघर्ष चल रहा था, वह तो जारी रहा ही, संघर्ष के नए रूप भी सामने आए। गया जिले के रेवड़ में यदुनंदन शर्मा के नेतृत्व में किसान जिला मजिस्ट्रट से वह यह घोषणा करवाने में सफल हुए कि विवादग्रस्त एक हजार बीघा जमीन में से 850 बीघा जमीन काश्तकारों को लौटा दी जाएगी। इससे दूसरे क्षेत्रों के किसानों को भी काफी प्रेरणा मिली। दरभंगा के पादरी, राघोपुर देकुल और पंडौल में किसान आंदोलन फूट पड़ा। जमुना कार्यो ने सारन के किसानों का नेतृत्व किया तो राहुल सांकृत्यायन ने अन्नवारी के किसानों का। आंदोलन का मुख्य स्वरूप था सत्याग्रह तथा जबरदस्ती बोआई और फसल कटाई। जवाब में जमींदारों ने लठैतों के जरिए किसानों की सभाएँ भंग करना और आतंक फैलाना शुरू किया। जमींदारों के आदमियों और किसानों के बीच संघर्ष रोजाना की चीज हो गया। पुलिस अकसर किसान नेताओं और कार्यकर्ताओं को गिरफ्तार कर लेती थी। कुछ स्थानों पर सरकार के प्रतिनिधियों और कांग्रेस नेताओं ने समझौता कराने की भी कोशिश की। बकाश्त जमीन के सवाल पर आंदोलन, 1937-39 तक, अपने शीर्ष पर पहुंच चुका था, लेकिन अगस्त 1939 में सरकार द्वारा घोषित अनेक सुविधाओं, नए कानूनों और लगभग 600 कार्यकर्ताओं की गिरफ्तारी से आंदोलन थम-सा गया। कुछ इलाकों में 1945 में किसानों ने फिर अँगड़ाई ली और उनका आंदोलन तब तक जारी रहा जब तक जमींदारी प्रथा खत्म नहीं हो गई।

पंजाब, किसान सक्रियता का एक और केन्द्र था। यहाँ 1930 के दशक के शुरू में ही किसान सभाएँ अस्तित्व में

नोट

आ गई थीं, नौजवान भारत सभा, कीर्ति समिति ने उन्हें एक अकाली दल के कार्यकर्ताओं के प्रयत्नों से 1937 में स्थापित पंजाब किसान समिति ने उन्हें एक सूत्र में गूँथ दिया। किसानों में जागरण लाने के तरीके यहाँ भी वहीं थे–किसान सभा के कार्यकर्ता गाँव-गाँव घूमते, किसान सभा और कांग्रेस के सदस्य भरती करते, सभाओं का आयोजन करते, तहसील, जिला और प्रांत के स्तरों पर सम्मेलन करते और उनमें हिस्सा लेने के लिए किसानों का आह्वान करते। धीरे-धीरे इन सम्मेलनों की संख्या बढ़ती गई और उनमें राष्ट्रीय स्तर के नेता आने लगे। पंजाब के किसानों की मुख्य माँग थी भूराजस्व में कटौती और ऋणों के भुगतान का स्थगन। उनके आक्रमण का निशाना था यूनियनिस्ट पार्टी का मंत्रिमंडल जिसमें पश्चिमी पंजाब के भूस्वामी का वर्चस्व था।

पंजाब के किसान आंदोलन के दौरान जो दो मुद्दे तात्कालिक संघर्ष के लिए उभरकर आए थे वे अमृतसर और लाहौर जिलों में भूराजस्व का पुनर्निर्धारण तथा नहर कर में वृद्धि। इनके खिलाफ जत्थे निकाले जाते थे जो जिला मुख्यालय तक जाकर समाप्त होते और प्रदर्शन होते। प्रतिवाद की ये गतिविधियाँ 1939 में शीर्ष पर पहुँच गईं, लाहौर मे एंक बड़ा किसान मोर्चा लगाया गया जिसमें विभिन्न जिलों से सैकड़ों किसानों ने भाग लिया और गिरफ्तारी दी। मुलतान तथा मांटगोमरी के नहर कॉलानी इलाकों में एक अलग संघर्ष उभरकर सामने आया। यहाँ बड़ी-बड़ी निजी कंपनियों ने सरकार से काफी भूमि पट्टे पर ले ली थी और जो बठाईदार जमीन पर खेती कर रहे थे उनसे तरह-तरह के सामंती कर वसूल किए जाते थे। सरकार ने इन करों को गैरकानूनी घोषित कर दिया था, फिर भी जमींदार मानते नहीं थे। किसान नेताओं ने काश्तकारों को इनके विरोध के लिए संगठित किया और कुछ इलाकों मे किसान हड़तालें भी हुईं। उन्होंने कपास बीनने और फसल काटने से इनकार कर दिया। बाध्य होकर भूस्वामी को कुछ रियायतों की घोषणा करनी पड़ी। युद्ध के कारण काश्तकारों का संघर्ष कुछ समय के लिए स्थगित हो गया, लेकिन 1946-47 में वह फिर शुरू हो गया।

पंजाब में किसान आंदालन मुख्यत: मध्यवर्ती जिलों तक सीमित रहा। सबसे ज्यादा सक्रियता थी जालंधर, अमृतसर, होशियारपुर, लायलपुर और शेखूपुरा में इन जिलों में ज्यादातर किसान सिख थे और जमीनें उनकी अपनी थीं। 1920 के दशक-पूर्वार्द्ध में हुए गुरुद्वारा कानून सुधार आंदोलन तथा 1930-32 के सविनय अवज्ञा आंदोलन के कारण वे पहले से ही राष्ट्रीय स्वाधीनता संग्राम का हिस्सा बन चुके थे। अविकसित पश्चिमी पंजाब के मुसलमान काश्तकार जिन्हें जमींदार अपनी इच्छा से कभी भी बेदखल कर सकते थे और दक्षिण-पूर्व पंजाब के हिन्दू जाट किसान आंदोलन के दायरे से आमतौर पर बाहर ही रहे। मांटगोमरी और मुलतान जिलों के जिन काश्तकारों ने इस आंदोलन में हिस्सा लिया उनमें से भी ज्यादातर मध्यवर्ती जिलों से ही आए थे। जिन किसान नेताओं ने पंजाब में जागरण फैलाया, उनमें कुछ प्रमुख नाम हैं बाबा सोहन सिंह भाकना, बी.पी.एल. बेदी, बाबा ज्वाला सिंह, तेजा सिंह स्वतंतर, बाबा रूर सिंह, मास्टर हरि सिंह, भगत सिहं बिलगा और बधावा राम।

पंजाब की रियासतें भी किसान असंतोष से अछूती नहीं रहीं। इनमें पटियाला का आंदोलन सबसे शक्तिशाली था। इसकी मुख्य माँग यह थी कि तरह-तरह के हथकंडों से कुछ भूस्वामियों और अधिकारियों ने मिलकर जो जमीन हथिया ली थी, वह काश्तकारों को लौटाई जाए। काश्तकारों ने मालिक के हिस्से का लगान देने से इनकार कर दिया। उनका नेतृत्व भगवान सिंह लोंगेवाल और जागीर सिंह जोगा जैसे वामपंथी नेता कर रहे थे। इन लड़ाकू काश्तकारों को बाद में तेजा सिंह स्वतंतर का भी नेतृत्व मिला। यह संघर्ष थम-थमकर 1953 तक चलता रहा, जिस साल कानून बनाकर काश्तकारों को उस जमीन का मालिक घोषित कर दिया गया।

देश के दूसरे हिस्सों में भी बड़े पैमाने पर किसान जागरण हुआ और उनकी मुख्य माँगें लगभग एक जैसी ही थीं। बंगाल में बर्दवान के किसानों ने बंकिम मुखर्जी के नेतृत्व में 'नहर टैक्स' के खिलाफ लड़ाई लड़ी और सहूलियतें हासिल की तथा 24 परगना के किसानों ने अप्रैल 1938 में अपनी माँगों के समर्थन में कलकत्ता तक जुलूस निकाला। असम की सुरमा घाटी और जमींदारों के अत्याचारों के खिलाफ छह महीने तक लगान रोको आंदोलन चला और करुणासिंधु राय ने काश्तकारी अधिनियम में संशोधन के लिए अभियान चलाया। उड़ीसा में उत्कल प्रांतीय किसान सभा, जो मालती चौधरी तथा दूसरे नेताओं के नेतृत्व में 1935 में स्थापित हुई थी, किसान

नोट

घोषणापत्र को प्रदेश कांग्रेस समिति के चुनाव घोषणापत्र में शामिल करवाने में सफल हुई और बाद मे वहां जो कांग्रेस मंत्रिमंडल बना, उसने कृषि क्षेत्र में सुधार की दिशा में महत्त्वपूर्ण कानून बनाए। उड़ीसास की रियासतों के किसान आंदोलन में आदिवासी भी शामिल हुए। आंदोलनकारियों की मुख्य माँगें थीं बेगारी का खात्मा, वनों के इस्तेमाल का अधिकार तथा लगान की दरों में कमी। ढेनकानल में जमकर टकराव हुआ और सरकारी तथा जमींदारी दमन से बचने के लिए हजारों लोग रियासत छोड़कर भाग गए। उत्तर-पश्चिम फ्रंटियर प्रांत की घल्लाध ीर रियासत में किसानों ने नवाब द्वारा मनमाने ढंग से बेदखल करने और तरह-तरह क कर वसूलने का विरोध किया। गुजरात में बँधुआ मजदूरी के खिलाफ आंदोलन चला और काफी सफलता भी मिली। मध्य प्रांत किसान सभा के नेतृत्व में नागपुर तक एक मार्च निकाला गया, जिसकी माँग थी मालगुजारी की समाप्ति, टैक्सों में कटौती और ऋणों के भुगतान का स्थगन।

द्वितीय विश्वयुद्ध का प्रभाव

किसान आंदोलन का उग्र होता हुआ ज्वार द्वितीय विश्वयुद्ध छिड़ जाने से थम-सा गया। कांग्रेस मंत्रिमंडल ने इस्तीफा दे दिया और चूँकि वामपंथी तथा किसान नेता युद्ध के खिलाफ थे, अतः उनका दमन शुरू हो गया। हिटलर ने जब सोवियत संघ पर हमला कर दिया तो दिसंबर 1941 में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी ने एक प्रस्ताव पारित कर इसे जनयुद्ध घोषित कर दिया। परिणामस्वरूप किसान सभा के साम्यवादरी और गैर-साम्यवादी सदस्यों के बीच गंभर मतभेद पैदा हो गए। 'भारत छोड़ो' आंदोलन के दौरान ये मतभेद काफी उग्र हो गए। कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी के लोगों ने इस आंदोलन का नेतृत्व किया, तो कम्युनिस्ट पार्टी ने अपने कार्यकर्ताओं को निर्देश दिया कि वे इससे अलग रहें। यद्यपि पार्टी द्वारा मना करने के बावजूद स्थानीय स्तर के अनेक काग्रकर्ताओं ने 'भारत छोड़ो' में हिस्सा लिया, लेकिन पार्टी की जो लाइन थी, उसके कारण किसान सभा का टूटना अपरिहार्य हो गया। यह टूट 1943 में हुई। मतभेद के इन वर्षों में अखिल भारतीय किसान सभा के तीन बड़े नेताओं—एन. जी. रंगा, स्वामी सहजानंद सरस्वती और इंदुलाल यागनिक—ने संगठन छोड़ दिया।

बहरहाल, विश्वयुद्ध के दौरान किसान सभा निष्क्रिय नहीं रही। उसने विभिन्न राहत कार्यक्रमों में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। उदाहरण के लिए बंगाल के अकाल (1943) में उसने आवश्यक वस्तुओं की कमी, राशनिंग आदि से पैदा होने वाली कठिनाइयों को कम किया। इस सबके साथ-साथ संगठन कार्य भी चलता रहा हालाँकि किसान सभा के लिए यह बहुत कठिन समय था। सभा युद्ध के खिलाफ थीं, अतः किसानों के एक बड़े वर्ग में अलोकप्रिय हो गई थी।

द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति भारत के लिए एक नए सवेरे की तरह थी। स्वतंत्रता मिलने ही वाली है, इसका आभासा होने लगा तथा सत्ता के हस्तांतरण के लिए बातचीत शुरू हो गई। इससे किसान-आंदोलन के विकास में गुणात्मक स्तर पर एक नया दौर आया। किसान उत्साह से भर गए और आजादी के बाद एक नई सामाजिक व्यवस्था कायम होगी इस चेतना ने समाज के अन्य वर्गों के साथ-साथ उन्हें भी काफी प्ररित किया। उन्होंने नए जोश-खरोश के साथ अपने अधिकारों के लिए संघर्ष शुरू किया। फलस्वरूप 1939 में जो संघर्ष स्थगित हो गए थे वे फिर से शुरू हो गए। पंजाब और बिहार इसमें आगे रहे। माँग उठी कि तुरंत जमींदारी उन्मूलन हो। आंध्र में खेतिहर मजदूरों का संगठन अभी कुछ वर्ष पूर्व ही बना था। उसने मजदूरी की दर बढ़ाने और सही तौल के लिए संघर्ष छेड़ दिया। त्रावणकोर के पुनाप्परा वायालार में किसानों और प्रशासन के बीच हिंसक टकराव हुए। तेलंगाना में किसानों ने संगठित रूप से जमींदारों के अत्याचारों का प्रतिरोध किया और निजाम के खिलाफ संघर्ष में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। देश के अन्य भागों में भी किसान संघर्ष चालू रहे।

बंगाल का तेभागा आंदोलन

ब्रिटिश भारत में बंगाल का तेभागा संघर्ष कई दृष्टियों से अविस्मरणीय माना जाएगा। तेभागा का अर्थ होता है एक तिहाई। 1946 के उत्तरार्ध में बंगाल के बटाईदारोंने ऐलान करना शुरू कर दिया कि वे अब जोतदारों यानी भूस्वामियों को उपज का आधा हिस्सा नहीं, बल्कि एक-तिहाई हिस्सा देंगे और हिस्सा बांटने तक उपज उनके

नोट

अपने खामारो (घर से लगे खलिहानों) में रहेगी, जोतदारों के खलिहानों में नहीं। इससे संदेह नहीं कि उन्हें यह माँग रखने के लिए प्रोत्साहन बंगाल भूराजस्व आयोग (जो फ्लाऊड आयोग के नाम से जयादा मशहूर है) की रिपोर्ट से मिला था। आयोग ने सरकार को जो रिपोर्ट दी थी, उसमें आधे की जगह एक-तिहाई ही की सिफारिश की गई थी। उधर हजोंग आदिवासी माँग कर रहे थे कि उनसे लगान उपज में नहीं, बल्कि नकद लिया जाए। तेभागा आंदोलन का नेतृत्व कर रही थी बंगाल प्रांतीय किसान सभा। आंदोलन शीघ्र ही जोतदारों और बर्गादाररों (बटाईदारों) के बीच हिंसक संघर्ष में बदल गया। बर्गादारों का कहना था कि वे उपज अपने खामार में ही रखेंगे।

तेभागा आंदोलन में अगले साल जनवरी में काफी उभार आया, जब सुहरावर्दी के मुसलिम लीग मंत्रिमंडल ने 22 जनवरी 1947 को कलकत्ता गजट में बंगाल बर्गादार अस्थायी नियमन विधेयक प्रकाशित किया। यह एसास होते ही कि तेभागा की उनकी माँग अब गैरकानूनी नहीं है, उन गाँवों के किसाना भी संघर्ष में शामिल हो गए जहाँ अब तक आंदोलन की आहट नहीं पहुंची थी। बहुत-सी जगहों पर किसानों ने जमींदारों के खलिहानों में रखा अनाज अपने खामारों तक ले जाने की कोशिश की, जिसके दौरान काफी हिंसा हुई।

तेभागा आंदोलन जब उग्र होने लगा, तो जोतदारों ने सरकार से अपील की और पुलिस किसानों का दमन करने पर उतारू हो गई। कई जगहों पर हिंसक संघर्ष हुए। खानपुर में 20 किसान मौत के घाट उतार दिए गए। दमन चक्र चलता रहा और फरवरी के अंत तक आंदोलन में ठहराव आ गया। मार्च में भी कुछ घटनाएँ हुईं, लेकिन वे एक मरते हुए आंदोलन के आर्तनाद की तरह थीं। मुसलिम लीम मंत्रिमंडल ने विधेयक विधानसभा से पारित कराने में कोई दिलचस्पी नहीं ली, पर 1950 में कांग्रेस सरकार ने जो बर्गादार विधेयक पारित किया, उसमें तेभागा आंदोलन की अधिकांश माँगें समाहित कर ली गई थीं।

तेभागा आंदोलन के मुख्य केन्द्र रहे दिनाजपुर, रंगपुर, जलपाईगुड़ी, मैमनसिंह और दिनापुर तथा कुछ हद तक 24 परगना और खुलना। शुरू में आंदोलन का आधार थे राजवंशी क्षत्रिय किसान, लेकिन जल्द ही मुसलमान, हजोंग, संथाल और उरांव भी इसके दायरे में आ गएं आंदोलन के मुख्य नेता थे, कृष्णविनोद राय, अवनी लाहिरी, सुनील सेन, भवानी सेन, मोनी सिंह, अनंत सिंह, विभूति गुहा, अजित राय, सुशील सेन, समर गांगुली और गुरुदास तालुकदार।

किसान आंदोलन तथा राष्ट्रीय आंदोलन

इतनी विभिन्न प्रवृत्तियों और संघर्ष-रूपों वाले किसान आंदोलन के बारे में निष्कर्षस्वरूप कुछ भी कहना आसान काम नहीं है। लेकिन इतना तो कहा ही जा सकता है कि 1930 और 1940 के दशक में इस उपमहाद्वीप के काफी बड़े हिस्से को प्रभावित करने वाले किसान संघर्षों ने यद्यपि तात्कालिक तौर पर कुछ ज्यादा हासिल नहीं भी किया, तब भी उन्होंने एक ऐसा माहौल जरूर तैयार किया, जिसके कारण स्वातंत्र्योत्तर भारत में कृषि सुधार आवश्यक हो गया। उदाहरण के लिए जमींदारी उन्मूलन किसी खास संघर्ष का सीधा नतीजा नहीं था, लेकिन किसान सभा ने ही इस माँग को लोकप्रिय बनाया और उसके प्रयत्नों के बिना यह संभव भी नहीं था।

आजादी के पहले जिन तात्कालिक माँगों को लेकर किसान संघर्ष हुए, वे थीं टैक्सों में कटौती, गैरकानूनी या सामंती वसूलियों और बेगार की समाप्ति, जमींदारों तथा उनके आदमियों के अत्याचार की समाप्ति, ऋण-बोझ में कमी, गैरकानूनी या अनुचित तरीकों से ले ली गई भूमि की वापसी, काश्तकारों की सुरक्षा इत्यादि। आंध्र और गुजरात के कुछ हिस्सां को छोड़कर कहीं भी खेतिहर मजदूरों की माँगों को आंदोलन में जगह नहीं मिली।

कहना न होगा कि सभी माँगें किसानों ने इस कारण उठाईं, क्योंकि परंपरा, प्रथा और कानूनी अधिकार आदि की अपनी समझ के कारण वे इन्हं अपना अधिकार मानते थे। दरअसल, कोई भी आंदोलन जनचेतना वे तात्कालिक स्वरूप पर ही निर्भर करता है। जिन चीजों को किसान गलत, गैरकानूनी या शोषणमूलक समझते थे, उनके खिलाफ संघर्ष छेड़ने को तैयार हो जाते थे। जाहिर है, ये संघर्ष तत्कालीन कृषि ढाँचे में आमूलचूल परिवर्तन के लिए नहीं हुए, बल्कि इनका मुख्य उद्देश्य उस व्यवस्था के कुछ अत्यंत पीड़ादायक पहलुओं का अंत करना था। इसके बावजूद इनसे भूस्वामी वर्ग की ताकत कम हुई और कृषि ढाँचे के रूपांतरण की जमीन तैयार हुई। किसान आंदोलन

नोट

का काम था किसानों में नई चेतना पैदा करना और फिर उस चेतना पर आधारित जनांदोलन की सृष्टि करना।

यह भी उल्लेखनीय है कि विभिन्न क्षेत्रों में न केवल सिान आंदोलन की माँगों, बल्कि संघर्षों का स्वरूप भी कमोबेश एक जैसा ही था। किसानों में जागरण लाने का काम मुख्यत: सभाओं, सम्मेलनों, रैलियों, पदर्शनों, सदस्यता अभियानों तथा किसान सभाओं के गठन द्वारा किया गया। जहाँ सीधी लड़ाई हुई, वहाँ सत्याग्रह या सविनय अवज्ञा का सहारा लिया गया और लगान तथा मालगुजारी न देने का अभियान चलाया गया। यह सब कई वर्षों से राष्ट्रीय आंदोलन का हिस्सा बन चुका थौ राष्ट्रीय आंदोलन की तरह ही किसान आंदोलन में भी हिंसक संघर्ष अपवाद ही थे, जिनय नहीं। हिंसक संघर्ष जहाँ भी हुए, उन्हें नेतृत्व का समर्थन प्राप्त नहीं था और आमतौर पर घोर दमन की स्वत: स्फूर्ति प्रतिक्रिया में हुए।

किसान आंदोनल और राष्ट्रीय आंदोलन का अटूट रिश्ता कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण था। वस्तु: कसिान आंदोलन वहीं उभर सके, जहाँ राष्ट्रीय आंदोलन की नींव डाली जा चुकी थी। केरल, पंजाब, आंध्र, उत्तर प्रदेश और बिहार इसके स्पष्ट उदाहरण हैं। इसमें काई आश्चर्य की बात भी नहीं थी, क्योंकि राष्ट्रीय आंदोलन ने ही वह पृष्ठभूमि तैयार की यानी किसानों में राजनीतिक चेतना का प्रसार तथा उनके संगठन एवं नेतृत्व की जिम्मेदारी संभालने के इच्छुक सक्षम राजनीतिक कार्यकर्ताओं का उदय, जिसमें किसान संघष्र संभव हो सका। किसान आंदोलन की विचारधारा भी राष्ट्रीयता पर आधारित थी। इसक नेता और कार्यकर्ता वर्ग-आधार पर किसानों के संगठन का संदेश ही नहीं फैला रहे थे, बल्कि राष्ट्रीय स्वतंत्रता के लिए संघर्ष करने की जरूरत पर भी बल दे रहे थे, जैसा कि पहले लिखा जा चुका है, वे किसान सभा के साथ-साथ कांग्रेस के भी सदस्य बनाते थे।

यह सच है कि कुछ इलाकों में, जैसे बिहार में कांग्रेस और किसान सभा के नेतृत्व में गंभीर मतभेद पैदा हो गया अयौ कभी-कभी तो ऐसा भी लगा कि किसान आंदोलन कांग्रेस से मुठभेड़ के रास्ते पर जाने वाला है, लेकिन ऐसा वहीं हुआ, जहाँ वामपंथी कार्यकर्ता और कांग्रेस के दक्षिणपंथी समर्थक अपनी-अपनी जिद पर अड़ गए और एक दूसरे के साथ चलने के लिए तैयार नहीं हुए। आमतौर पर 1942 तक किसान आंदोलन तथा राष्ट्रीय आंदोलन साथ-साथ चलते रहे। 1942 के बाद जब किसान आंदोलन राष्ट्रीय आंदोलन के रास्ते से ज्यादा दूर चला गया, तो न केवल उसका जनाधार कमजोर हुआ बल्कि उसके नेतृत्व में भी फूट पड़ने लगी। इस तरह किसान आंदोलन का उदय और विकास राष्ट्रीय स्वतंत्रता संग्राम के साथ अविच्छिन्न रूप से जुड़ा रहा।

व्यापार संघ आंदोलन (Trade Union Movement)

यूँ तो भारत बहुत प्राचीन काल से ही औद्योगिक देश था और यूरोपीय लोग भारत से तैयार किया हुआ माल ही लेने आये थे। परन्तु ये उद्योग कुटीर उद्योग ही थे। 18वीं शताब्दी के अन्तिम चरणों में इंग्लैण्ड में औद्योगिक क्रांति आई और इसके पश्चात् भारतीय उद्योग-धंधे लुप्तप्राय ही हो गए और भारत केवल कच्चा माल उत्पादन करने वाला देश ही बन गया।

परन्तु यह स्वाभाविक ही था कि यहां भी उद्योग-धंधे आरम्भ हों। भारत में आधुनिक उद्योग-धंधों की नींव 1850 और 1870 के बीच ही पड़ी। 1853 में लार्ड डलहौजी के रेलवे पत्र के पश्चात् भारतीय संचार साधनों में मशीनों का प्रयोग होने लगा। रेल लाइनों के बिछाने तथा इंजन के लिए कोयला निकालने में सहस्त्रो श्रमिकों का प्रयोग होने लगा। यही भारतीय श्रमिक वर्ग का आरम्भिक काल था। इसी रेलवे उद्योग से सम्बद्ध सहायक उद्योगों का विकास आवश्यक था। इसी प्रकार कोयला खनन में सहस्त्रो श्रमिक काम करने लगे।

1854 में बम्बई में प्रथम कपड़ा मिल खुली और उसी वर्ष कलकत्ता में प्रथम पटसन मिल लगी। इसी प्रकार चाय उद्योग में भी बहुत से श्रमिक काम करने लगे थे। कपड़ा उद्योग में 1886 में श्रमिकों की संख्या 74,000 थी जो 1905 में 1,95,000 हो गई। इसी प्रकार पटसन उद्योग में, 1979-80 में 27,494 श्रमिक काम करते थे जो 1906 में 154,962 हो गए, और कोयला खानों में 1904 में 75,749 श्रमिक लगे थे।

भारतीय श्रमिक वर्ग को कम मजदूरी, लम्बे कार्य के घंटे, मिलों में अस्वस्थ वातावरण, बालकों से काम लेना,

नोट

तथा किन्हीं भी सुविधाओं का न होना इत्यादि के सभी शोषणों से निबटना था जो कि इंग्लैण्ड तथा शेष संसार में प्राय: सभी श्रमिकों को आरम्भिक दिनों में सहने पड़े। इसके अतिरिक्त उन्हें शोषक औपनिवेशिक राज्य का दुर्व्यहार भी सहना पड़ता था।

परन्तु इस औपनिवेशिक परिस्थिति के कारण भारतीय श्रमिक आंदोलन में एक विशेषता आ गई। भारतीय श्रमिक वर्ग को दो परस्पर विरोधी तत्वों साम्राज्यवादी राजनीतक अवस्था तथा भारतीय और विदेशी पूंजीपतियों के शोषण का सामना करना पड़ता था। इस स्थिति के कारण यह आंदोलन अनिवार्य रूप से राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलन का हही भाग बन गया अर्थात् इस श्रमिक वर्ग ने अपने आर्थिक कल्याण तथा राष्ट्रीय स्वतंत्रता के लिए प्रयत्न किए।

व्यापार संघ की परिभाषा भृति अर्जित करने वाले लोगों का एक स्थाई संघ है जिसका उद्देश्य श्रमिकों के जीवन-स्तर को बनाए रखना अथवा उसे सुधारने का प्रयत्न करना है। राजनीतिक उद्देश्यों और आदर्शों ने तथा इसकी अपनी बढ़ती हुई शक्ति ने इस आंदोलन को बहुत प्रभावित किया है।

भारतीय व्यापार संघ के दो मुख्य पक्ष–श्रमिकों का औद्योगिक सौदेबाजी और इसका सैद्धान्तिक अनुरूपण को बृहद राष्ट्रवादियों के साम्राज्यवाद के विरुद्ध लड़े जा रहे संघर्ष तथा अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन के संदर्भ में देखना होगा।

यह विधि की विडम्बना है कि भारतीय उद्योगों में काम करने वाले श्रमिकों की स्थिति को सुधारने के लिए सब से पहले मांग भारत में मजदूरों से नहीं अपितु लंकाशायर में कपड़ा कारखानों के मालिकों की ओर से आई। उन्हें डर था कि भारतीय कपड़ा उद्योग सस्ती मजदूरी के कारण उनका प्रतिद्वन्द्वी न बन जाए और उन्होंने एक आयोग की मांग की जो भारतीय कारखानों में श्रमिकों की परिस्थितियों का अध्ययन करे। पहला अयोग 1875 में नियुक्त हुआ। और प्रथम कारखानों का कानून 1881 में पारित किया गया। इस कानून के अधीन 7 वर्ष से कम आयु के बच्चों को कारखानों में नहीं लगाया जा सकता था और 12 वर्ष से कम आयु के बच्चों के लिए काम करने के घंटों को भी सीमित किया गया और यह भी कहा गया कि खतरनाक मशीनों के चारों ओर बाड़ा लगना चाहिए। इसी प्रकार दूसरा कारखानों का कानून 1891 में पारित हुआ और उसमें स्त्रियों के काम करने का समय 11 घंटे कर दिया गया जिसमें एक डेढ़ घंटे का मध्यावकाश निश्चित किया गया। बच्चों के काम करने के लिए न्यूनतम आयु 7 और 12 से बढ़ाकर 9 से 14 कर दी गई। इसी प्रकार की परिस्थितियों में 1909 और 1911 के पटसन के कारखानों के लिए कानून बने। इसी प्रकार बीसवीं शताब्दी के आरम्भिक वर्षों में भातरीय श्रमिकों ने उभरती हुई रानैतिक जाग्रति का भी प्रदर्शन किया। बम्बई के मजदूरों ने लोकमान्य तिलक का जेल दण्ड दिए जाने के विरोध में छ: दिन की राजनैतिक हड़ताल की। इस कार्य से प्रभावित होकर लेनिन को कहना पड़ा कि भारतीय प्रोलतारी पहले ही इतना परिपक्व अर्थात् सर्वहारा वर्ग हो गया है कि वह वर्गजागरूक और राजनैतिक जन-संघर्ष चला सकता है।

प्रथम विश्वयुद्ध और गठित व्यापार संघवाद (First World War and Organised Trade Unionism)

प्रथम विश्वयुद्ध के दिनों में वस्तुओं के मूल्य बढ़े, उद्योगपतियों को अभूतपूर्व लाभ हुआ परन्तु मजदूरों की मजदूरी न्यूनतम ही रही। औसत लाभांश जो पटसन के कारखानों ने 1915-24 तक दिया वहह 140 प्रतिशत था (1919 में 420 प्रतिशत) जबकि श्रमिक की औसत मजदूरी केवल 12 पौंड वार्षिक रही। इसी प्रकार सूती कपड़ा कारखानों ने औसत लाभांश 120 प्रतिशत दिया और ऊंचे से ऊंचा 365 प्रतिशत।

इसी बीच महात्मा गाँधी का राष्ट्र के रंगमंच पर आगमन हुआ और उन्होंने अपने आंदोलन के आधार को विस्तृत करने का प्रयत्न किया। उन्होंने श्रमिकों और कृषकों को अपने आंदोलन में सम्मिलित किया। यह अनुभव किया गया कि श्रमिकों को राष्ट्रीय व्यापार संघ में गठित किया जाए और उन्हें भी राष्ट्रीय आंदोलन में लाया जाए। लगभग उसी समय रूस में अक्तूबर क्रांति हुई और अंतर्राष्ट्रीय साम्यवादी संगठन का गठन हुआ। जिन्होंने संसार के श्रमिकों का आह्वान किया कि उद्योगपतियों को उनके उद्योगों से वंचित कर दो और प्रोलतारी क्रान्ति लाओ। युद्ध के पश्चात्

नोट

राष्ट्र संघ का और अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन का गठन हुआ जिससे श्रमिकों की समस्या को अंतर्राष्ट्रीय भूमिका मिल गई। व्यापार संघ का राष्ट्रीय स्तर पर गठन करने के लिए पहल राष्ट्रीय नेताओं ने की और 31 अक्तूबर, 1920 को All India Trade Union Congress – A.I.T.U.G. का गठन किया गया। उस वर्ष के भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के प्रधान लाला लाजपत राय ही इस ट्रेड यूनियन कांग्रेस के प्रधान बनाए गए। इसके पश्चात् भी राष्ट्रीय नेताओं ने इस संगठन से अपना समीप का संबंध बनाए रखा और सी.आर. दास, वी.वी. गिरि, सरोजनी नायडू, जवाहरलाल नेहरू, सुभाष चंद्र बोस ने बारी-बारी इनके अधिवेशनों में प्रधान के यप में कार्य किया। 1927 तक अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस के साथ 57 श्रमिक संघों का संबंध स्थापित हो गया था जिनकी सदस्य संख्या 1,50,555 थी। आरम्भिक दिनों में इस संस्था पर ब्रिटिश श्रमिक दल के समाजवादी लोकतंत्रवादी विचारों का प्रभाव था। कुछ समाजवादी झुकाव के होते हुए भी ये लोग एन.एम. जोशी जैसे नरम दलीय लोगों के प्रभाव में रहे। जोशी जैसे लोगों का विचार था कि रमिक संगठनों की राजनैतिक गतिविधियां केवल रमिकों की आर्थिक अवस्थाा को सुधारने की सीमा से आगे नहीं जानी चाहिए। गाँधीजी के अहिंसावाद, प्रन्यासवाद तथा वर्ग सहयोग का इस आंदोलन पर बहुत प्रभाव हआ और हड़ताल के हथियार का प्रयोग कभी-कभी ही किया गया था। 1926 में व्यापार संघ अधिनियम द्वारा यह स्वीकार कर लिया गया कि हड़ताल संघों का वैध हथियार है परन्तु उन पर कुछ प्रतिबन्ध लगा दिया गया।

1920 के पश्चात् साम्यवादी आंदोलन के उत्थान के पश्चात् व्यापार संघ आंदोलन में कुछ क्रांतिकारी और सैनिक भावना आ गई। साम्यवादी आंतर्राष्ट्रीय संगठन की चौथी कांग्रेस ने अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस को संदेश भेजा कि उनको 'एक दिन के उचित काम के लिए उचित मजदूरी' से ही संतुष्ट नहीं होना चाहिए अपितु उन्हं अन्तिम उद्देश्य अर्थात् पूंजीवाद और साम्राज्यवाद को समाप्त करने के लिए प्रयत्न करना चाहिए। इसके अतिरिक्त भारतीय साम्यवादियों को आदेश दिया गया कि वे लोग व्यापार संघ आंदोलन को 'वर्ग आधार पर गठित करें और इसमें जो भी अन्य तत्त्व हैं उन्हें निकाल देना चाहिए।'

1926-27 के दिनों में अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस में दो गुट हो गए-एक 'सुधारवादी' और दूसरा 'क्रांतिकारी' जिनको जेनेवा एमस्टर्डम धुरी तथा मास्को गुट भी कहते थे। इसमें प्रथम गुट की इच्छा यह थी कि वे अंतर्राष्ट्रीय फेडरेशन ऑफ ट्रेड यूनियन्स से अपने आपको संलग्न कराये जिसका मुख्य कार्यालय एमस्टर्डम में था और दूसरे दल की इच्छा थी कि वह अपने आपको लाल अंतर्राष्ट्रीय श्रमिक संघ से संलग्न कराए जिसका संचालन मास्को से होता था। सम्भवत: साम्यवादी का प्रभाव अधिक था। 1928 में देश में अभूतपूर्व औद्योगिक अशान्ति रही। कुल 203 हड़तालें हुईं, जिनमें 5,06,851 लोग सम्मिलित हुए और 3,16,47,404 कार्य दिनों की हानि हुई। ये हड़तालें आर्थिक मांगों से नहीं अपितु राजनैतिक विचारों से प्रेरित थीं। साम्यवादी प्रत्रिका 'क्रांति' ने गरज कर कहा, "जब तक पूंजीवाद समाप्त नहीं हो जाएगा शान्ति नहीं होगी।" संलग्नता के प्रश्न पर भी साम्यवादी दुष्टिकोण प्रबल रहा। निश्चय हुआ कि अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस को सर्वप्रशान्त सचिवालय और मास्को में तृतीय अंतर्राष्ट्रीय से संलग्न किया जाए। इस निर्णय के विरोध में जोशी के नेतृत्व में नरमदलीय लोग इस संघ से बाहर आ गये और उन्होंने 1929 में अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन फेडरेशन स्थापित की।

1929 में ही एक श्रमिक अधिनियम बनाया गया जिसके अनुसार अन्य बातों के अतिरिक्त डाक, रेलवे, पानी और बिजली संभरण जैसी सार्वजनिक उपयोगी सेवाओं में उस समय तक हड़ताल नहीं हो सकती थी जब तक कि प्रत्येक श्रमिक लिखकर एक मास की पूर्व सूचना न दे दे। एक और विधेयक जिसे सार्वजनिक सुरक्षा विधेयक कहते थे, विधान सभा में राष्ट्रवादियों की सहायता से गिरा दिया गया। 1929 में अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस में एक और विभाजन हुआ और साम्यवादियों ने लाल ट्रेड यूनियन कांग्रेस का गठन किया।

स्ट्रेची आयोग की सिफारिशें

1880 में लिटन सरकार ने सर रिचर्ड स्ट्रेची की अध्यक्षता में एक आयोग नियुक्त किया जिसको साधारण सिद्धान्त निध रित करने थे और विशेषतय, बचाव तथा प्रतिरक्षण के लिए सुझाव देने थे। आयोग ने निम्नलिखित सिफारिशें कीं–

नोट

1. भूख से प्रभावित होने से पूर्व ही लोगों को काम मिले और उनकी मजदूरी समय-समय पर पुन: निश्चित की जाए ताकि लोगों को खाना मिल सके।
2. निस्सहाय निर्धनों को भोजन देना सरकार का कर्त्तव्य है और इसके लिए भिन्न-भिन्न वर्गों की सूची तैयार की जाये। यह सहायता, पके हुए भोजन, खाद्यान्न अथवा पैसे के रूप में हो सकती है परन्तु उन्हें दरिद्रशालाओं तथा सहायता शिविरों में रहना होगा।
3. प्रभावित क्षेत्र में अनन के संभरण पर निगाह रखनी चाहिए। निजी व्यापारियों पर विश्वास रखना चाहिए और अन्न का निर्यात तभी रोकना चाहिए जब यह निश्चित हो जाए कि ऐसा करने से समस्त देश की अन्न की स्थिति ठीक रहेगी।
4. भूमि कर तथा अन्य किरायों में कमी तथा छूट की नीति भी निर्धारित की गई।
5. अकाल सहायता का व्यय प्रान्तीय सरकारों को सहना होगा। यद्यपि जहाँ आवश्यक हो केन्द्रीय सहायता भी मिलेगी।
6. कड़े सूखे की स्थिति में दुधारू पशुओं को अधिक हरे भरे प्रदेशों में स्थानान्तरिक करने का भी प्रबंध किया गया।

सरकार ने आयाग की सिफारिशें साधारण रूप से स्वीकार कर लीं और एक अकाल कोष स्थापित करने के लिए राजस्व के अन्य स्रोतों का पता लगाने के लिये प्रयत्न किया गया। 1833 में अकाल संहिता भी निश्चित की गई थी जो कि प्रांतीय अकाल संहिता का आधार बनी जो कालान्तर में बनाई गई। इसमें सामधारण अवस्था में बचाव और राहत कार्यों के आरम्भ होने की स्थिति में, सुझाव दिए गए थे। इसमें अकाल ग्रस्त जिला घोषित करने से लेकर अन्य सभी अधिकारियों के कर्त्तव्यों की सूची दी गई थी। 1883 और 1896 के आकालों में इन संहिताओं में दिए गए सुझावों को परखने और संशोधित करने का अवसर मिला।

1896-97 के अकाल: 1880 और 1896 के बीच दो अकाल तथा सूखे पड़े। परन्तु 1896-97 के महान अकाल ने सभी प्रान्तों को न्यून अथवा अधिक रूप से प्रभावित किया और 3 करोड़ 40 लाख लोग प्रभावित हुए। मध्य प्रांत के अतिरिक्त, जहां मृतकों की संख्या बहुत अधिक थी, शेष स्थानों पर सहायता कार्य पर्याप्त रूप से सफल रहे। कुछ भागों में सहायता कार्य विस्तार से किए गए और लोगों को घरों में भी सहायता पहुंचाई गई। कुल व्यय 7 करोड़ 27 लाख हुआ। पंजाब के उपगवर्नर सर जेम्ज लायल की अध्यक्षता में स्थानीय आयोग ने 1880 के आयोग से सहमति प्रकट की परन्तु कुछ क्षेत्रों में थोड़े बहुत परिवर्तन किए गए जिससे समकालीन उपायों में कुछ लचीलापन आ गया।

1899-1900 का अकाल: पहले दुर्भिक्ष के तुरन्त पश्चात् एक और विपत्ति 1899-1900 में आई। इससे 1,89,000 वर्गमील का क्षेत्र और 2 करोड़ 80 लाख लोग प्रभावित हुए। अधिकारियों ने दुर्भिक्ष के आरम्भिक काल में सहायता कार्य आरम्भ करने से मनाही कर दी और फिर जब आरम्भ किये तो इतने अधिक लोग शिविरों में आ गए कि सभी व्यवस्था अस्तव्यस्त हो गइ। सहायता व्यय लगभग 10 करोड़ ₹ हुआ।

मेकडॉनल आयोग की सिफारिशें: लार्ड कर्जन ने सर एन्टनी मेकडॉनल की अध्यक्षता में एक आयोग नियुक्त किया जिसने 1901 में अपनी रिपोर्ट दी, जिसमें सहायता के स्वीकृत नियमों का संक्षिप्त रूप से वर्णन किया गया। इसमें नैतिक नीति के लाभों, पशु तथा बीजों के लिए शीघ्रता से धन बांटने तथा अस्थायी कुएँ खोदने की व्यवस्था के लाभों पर बल दिया गया था। इसमें प्रभावित क्षेत्र में एक दुर्भिक्ष आयुक्त की नियुक्ति का सुझाव था। इसमें अराजकीय सहायता का अधिक मात्रा में उपयोग, और बड़े-बड़े कार्यों के स्थान पर ग्राम स्तर के कार्यों को आरम्भ करने का सुझाव था। आयोग ने अधिक अच्छी परिवहन सुविधाओं, कृषक बैंकों, सिंचाई व्यवस्था तथा उत्तम कृषि साधनों की आवश्यकता पर भी बल दिया।

इस आयोग की मुख्य सिफारिशें स्वीकार कर ली गईं और कर्जन के भारत छोड़ने से पहले उसने अकाल से

नोट

निबटने के लिए कई उपाय किए। 1901 और 1941 के बीच बहुत से अकाल और सूखे की स्थितियां अनुभव की गईं जोकि प्राय: स्थानीय ही थीं। परन्तु 1906-7 तथा 1907-8 के दुर्भिक्ष अधिक गम्भीर थे।

बंगाल का अकाल 1942-43: 1942-43 में बंगाल में भीषण अकाल पड़ा जिसके फलस्वरूप सहस्त्रों लोग मृत्यु की शैया में सो गये। वास्तव में इस अकाल का कारण 1938 के पश्चात् दूसरे विश्वयुद्ध के कारण बर्मा से चावल का आयात बन्द हो गया और बंगाल चूँकि बर्मा युद्ध क्षेत्र के समीप था, अतएव वहाँ अन्न का इधर-उधर आना-जाना बन्द हो गया। परिणामस्वरूप बंगाल में खाद्यान की कमी हा गई और भीषण अकाल पड़ गया। परन्तु इसमे दैवयोग के स्थान पर मानव अधिक उत्तरदायी था। राहत कार्य देर से आरम्भ हुए आर अपर्याप्त थे। दूसरे, युद्ध प्रचार और युद्ध व्यय के कारण भी इस ओर अधिक ध्यान नहीं दिया गया। केन्द्रीय सरकार ने इसमें प्रांतीय सरकार की अधिक सहायता नहीं की और धन की कमी के कारण राहत कार्य सीमित रहे।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

सही विकल्प चुनिए (Choose the Correct Option)–

1. चंपारण में कृषकों की वास्तविक स्थिति की जांच गाँधी जी ने किसके साथ की–
   (क) सरोजनी नायडु (ख) राजेन्द्र प्रसाद (ग) बी.जी. तिलक (घ) एनी बेसेंट
2. केरा (खेड़ा) आंदोलन कब शुरू हुआ?
   (क) 1916 (ख) 1617 (ग) 1918 (घ) 1920
3. माप्पिला विद्रोह किस प्रदेश में शुरू हुआ।
   (क) तमिलनाडु (ख) आन्ध्रप्रदेश (ग) केरल (घ) कर्नाटक
4. मोपलाओं ने किसे अपना नेता चुना?
   (क) अली बंधुओं को (ख) अली मुसालियार को
   (ग) अबुलकलाम आजाद को (घ) मोहम्मद इकबाल को
5. एरनाड तालुका के मैजिस्ट्रेट द्वारा मस्जिद में घुसकर अली मुसालियार को गिरफ्तार करने की कोशिश कब की गई–
   (क) 20 अगस्त 1921 (ख) 20 अगस्त 1922 (ग) 22 अगस्त 1921 (घ) 22 अगस्त 1922

8.3 सारांश (Summary)

- भारतीय राजनीति में गांधीजी के आगमन से देश को नई आर्थिक तथा राजनैतिक दिशा मिली। चूंकि वह अपने आंदोलन के आधार को बड़ा बनाना चाहते थे, इसलिए उन्होंने ग्रामीण जनता तथा कृषकों को भी इस आन्दोलन में सम्मिलित करने का प्रयत्न किया।
- उत्तर बिहार के चम्पारन जिले के यूरोपीय नील के उत्पादक बिहारी कृषकों का अनेक रूप से उत्पीड़न करते थे, जो लगभग उसी प्रकार का था। जैसे बंगाल में था। गांधीजी ने बाबू राजेन्द्र प्रसाद की सहायता से, कृषकों की वास्तविक स्थिति की जांच की। उन्होंने कृषकों को अहिंसात्मक असहयोग आन्दोलन की शिक्षा दी।
- केरा (खेड़ा) आन्दोलन तो मुख्यत: बम्बई सरकार के विरुद्ध था। 1918 की वसन्त ऋतु में फसलें नष्ट हो गई और सूखे के कारण इस प्रदेश के कृषकों को बहुत कष्ट हुआ। बम्बई सरकार ने भूमि कर मांगा। यद्यपि भूमि कर नियमों में यह स्पष्ट कहा गया था कि यदि फसल साधारण से 25 प्रतिशत कम हो तो भूमि कर में पूर्णतया छूट मिलेगी, सरकार छूट देने को तैयार नहीं थी।

नोट

- दक्षिण मालाबार (केरल राज्य) के मुसलमान पट्टेदारों (कनामदार) तथा खेतीहरों (वेरूमपट्टमदार) को प्राय: मोपला कहते थे। आरम्भ में ये लोग हिन्दुओं की निम्न जाति तिरूया से थे और मुसलमान बन गए थे।
- 19वीं शताब्दी में मोपलाओं की कृषि शिकायतें बढ़ गईं जिनमें अत्यधिक मालगुज़ारी, पट्टेदारी की असुरक्षा, नवीनीकरण के समय अत्यधिक धन की मांग, तथा समय पर ज़मींदारों की वसूली सम्मिलित थीं।
- 1921 के मोपला विद्रोह के दो कारण थे। एक तो मोपलाओं पर ज़मीदारों का अत्याचार और दूसरा, अंग्रेज़ी सरकार की खिलाफत विद्रोही नीतियाँ थीं।
- मोपलाओं ने अली मुसालियार को, जो उनके एक सर्वमान्य धार्मिक नेता थे अपने राजा की पदवी देकर विद्रोह कर दिया। स्थान-स्थान पर सरकारी भवनों पर खिलाफल के झण्डे लहरा दिए गए और मोपला विद्रोह आरम्भ हो गया।
- विद्रोह का तात्कालिक कारण एरनाड तालुका के जिला मैजिस्ट्रेट ने जुटाया। उन्होंने 20 अगस्त 1921 को तिरूरांगड़ी में स्थित एक मस्जिद में घुसकर अली मुसालियार को बन्दी बनाने का प्रयत्न किया था।
- 1921 के अन्त तक मोपला विद्रोह क्रूरता पूर्वक दबा दिया गया। लगभग 2337 मोपला मारे गए तथा 1652 आहत हुए। ये आंकड़े सरकारी थे, यद्यिप गैरसरकारी अनुमानों के अनुसार हताहतों की संख्या 10,000 तक थी। पीछे लगभग 3000 मोपलाओं को आजीवन कालेपानी के कारावास का दण्ड दिया गया।
- मोपला विद्रोह अत्यन्त क्रूरता से दबा दिया गया और फिर ये लोग न किसी कृषक आन्दोलन और न ही किसी राजनैतिक आन्दोलन में सम्मिलित हुए।
- परन्तु इस विद्रोह का सब से घिनौना पक्ष था हिन्दुओं को बलपूर्वक मुसलमान बनाना। विद्रोह शांत होने पर जब इन लोगों ने पुन: हिन्दू धर्म में वापिस आने की सोची, तो स्थानीय कट्टर पन्थियों ने उन्हें साथ मिलाने से मनाही करदी। ये लोग जो कल तक ज़मीदार थे, अब दाने को तरस रहे थे। जब यह समाचार लगभग 3000 किलोमीटर दूर बसे, डी.ए.वी. कालिज लाहौर (अब पाकिस्तान) के प्रबन्धकर्ता महात्मा हंसराज को मिला तो उन्होंने अपनी शिक्षासंस्थाओं तथा आर्य समाज से कार्यकर्त्ताओं को भेजा, जिन्होंने पहले इन्हें अन्न तथा वस्त्रों की सहायता दी और फिर कांची के शंकराचार्य से एक आदेश निकलवाया कि ये बलपूर्वक धर्म परिवर्तित लोग हिन्दु ही हैं और इन्हें हिन्दू धर्म में पुन: प्रवेश मिला।
- यू.पी. और बिहार में जमींदारों के शोषण के विरुद्ध वीरतापूर्ण आंदोलन किए गए। 1936 में बिहार में 'बाकाश्त' (स्वयं जोती हुई) भूमि के विरुद्ध आन्दोलन आरम्भ किया गया। 'बाकाश्त' वह भूमि होती थी जो जमींदार की अपनी भूमि होती थी और जिसमें से जमींदार फसल का भाग ले जाता था न कि धन।
- 18 अक्तूबर, 1937 को किसान सभाओं ने सत्याग्रहियों पर हुए अत्याचार के विरुद्ध कृषक दिवस मनाया।
- जब 1937 में लोकप्रिय सरकारें बनीं तो कृषकों ने इनसे बहुत आशाएं रखीं परन्तु उन्हें निराशा हुई। अपनी मांगों की और ध्यान आकर्षित करने के लिए बिहार विधान सभा के अधिवेशन के पहले दिन 23,000 किसान, विधान सभा भवन के सामने एकत्रित हो गए। उनके नारे थे, "हमें पानी दो हम प्यासे हैं, हमें रोटी दो हम भूखे हैं, हमारे सभी ऋण छोड़ दो। हमे जमींदारों के शोषण से बचाओ।"
- किसान सभा के अतिवादी (radical) तत्त्व यह चाहते थे कि कांग्रेस की असन्तोषपूर्ण नीतियों के कारण कांग्रेस से सम्बन्ध विच्छेद कर लिया जाए परन्तु कांग्रेस के नेताओं ने विदेशियों के विरुद्ध एकता बनाए रखी। दु:खी होकर स्वामी सहजानन्द ने 1945 में किसान सभा से त्यागपत्र दे दिया जिसके फलस्वरूप किसान सभाओं पर कम्युनिस्ट पार्टी का प्रभुत्व छा गया।
- हमारी स्वतन्त्रता के पूर्व दस वर्षों में तीन प्रमुख कृषक आन्दोलन चले; बंगाल का तेभागा आन्दोलन, हैदराबाद दक्कन का तेलंगाना आन्दोलन तथा पश्चिमी भारत में वर्ली विद्रोह। तेभागा आन्दोलन में लम्बे काल तक वर्गदार (फसल के भागीदार) अधियार निर्धन कृषक, जोतदारों (धनी कृषकों), साहूकारों, व्यापारियों तथा अंग्रेजी प्रशासकों के विरुद्ध आन्दोलन करते रहे। सुहरावर्दी की सरकार ने एक वर्गदारी विधेयक पारित किया जिससे भाटक देने वालों को कुछ राहत मिली।

नोट

8.4 शब्दकोश (Keywords)

- काफिर : जो खुदा को न मानता हो, नास्तिक।
- गाज़ी : धर्म योद्धा, बड़ा वीर।
- मालगुजारी : एक प्रकार का कर जो किसानों से वसूला जाता था।

8.5 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. 20वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में होने वाले कृषक आंदोलनों की व्याख्या कीजिए।
2. माप्पिला विद्रोह का चरित्र धार्मिक था। विवेचन कीजिए।
3. 1930–40 के दशक में होने वाले किसान आंदोलनों का वर्णन कीजिए।

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer: Self Assessment)

1. (ख) 2. (ग) 3. (ग) 4. (ग)
5. (क)

8.6 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. *स्वतंत्रता का इतिहास*– बी.एल. ग्रोवर एवं यशपाल, एस. चन्द एण्ड कम्पनी लि., दिल्ली।
2. *स्वतंत्रता संग्राम*– विपिन चन्द्र, हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय दिल्ली विश्वविद्यालय।
3. *आधुनिक भारत*– एस.के. पाण्डे, प्रयाग एकेडमी, इलाहाबाद।

नोट

इकाई–9: भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना, होमरूल आंदोलन, नरमपंथी और गरमपंथी (Establishment of the Indian National Congress, Home Rule Movement, Moderates and Extremists)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

9.1 कांग्रेस की स्थापना, इसकी स्थापना के लिए उत्तरदायी कारक और इसकी उत्पत्ति के सिद्धांत (Establishment of Congress, Factors Responsible for its Foundation and Theories of its Origin)

9.2 होमरूल आंदोलन: लोकमान्य तिलक और एनी बेसेंट की भूमिका और इसकी असफलता (Home Rule Movement: Role of Lokmanya Tilak and Annie Besant and its Fall out)

9.3 नरमपंथी एवं गरमपंथी (Moderats and Extremists)

9.4 सारांश (Summary)

9.5 शब्दकोश (Keywords)

9.6 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

9.7 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- कांग्रेस पार्टी की स्थापना के लिए उत्तरदायी कारकों एवं उसकी उत्पत्ति के सिद्धांत की व्याख्या करने में;
- होमरूल आंदोलन का विश्लेषण करने में;
- नरमपंथी एवं गरमपंथी अवधारणा को समझने में;

प्रस्तावना (Introduction)

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना दिसंबर 1885 में हुई। उस समय के 72 राजनीतिक कार्यकर्ताओं ने इसकी नींव रखी थी। अखिल भारतीय स्तर पर यह भारतीय राष्ट्रवाद की पहली सुनियोजित अभिव्यक्ति थी। एक अवकाश प्राप्त अंग्रेज आई.सी.एस. अधिकारी ए.ओ. ह्यूम ने कांग्रेस की स्थापना में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। सवाल उठता है कि इन 72 लोगों ने कांग्रेस की स्थापना क्यों की और इसके लिए यही समय क्यों चुना?

इस सवाल के साथ एक मिथक अरसे से जुड़ा रहा है। अपने आप में काफी दमदार है, यह मिथक। 'सुरक्षा वाल्व' का यह मिथक पिछली कई पीढ़ियों से छात्रों और राजनीतिक कार्यकर्ताओं को घुट्टी में पिलाया जा रहा है। लेकिन इतिहास के सच को अगर हम टटोलें, तो पता चलेगा कि इस मिथक में इतना दम नहीं है, जितना कि आमतौर पर इसके बारे में माना जाता रहा है।

मिथक यह है कि ए.ओ. ह्यूम और उनके साथियों ने अंग्रेज सरकार के इशारे पर ही भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की

नोट

स्थापना की थी। तत्कालीन वाइसराय लॉर्ड डफरिन के निर्देश, मार्गदर्शन और सलाह पर ही ह्यूम ने इस संगठन को जन्म दिया था, ताकि उस समय भारतीय जनता में पनपते-बढ़ते असंतोष को हिंसा के ज्वालामुखी के रूप में बाहर आने और फूटने से रोका जा सके और 'असंतोष की वाष्प' को बिना किसी खतरे के बाहर निकलने के लिए सुरक्षित, सौम्य, शांतिपूर्ण और संवैधानिक निकास या 'सुरक्षा वाल्व' उपलब्ध कराया जा सके। इस तरह भारतीय जनता में खुदबुदाती एक क्रांतिकारी क्षमता का गला घोंट दिया गया। यानी इस मिथक का सार-संक्षेप यह है कि उस समय एक हिंसक क्रांति दस्तक दे रही थी, जो कांग्रेस की स्थापना के कारण टल गई। भारतीय इतिहास के ज्यादातर लेखकों ने यह बात स्वीकार की है। इसी निष्कर्ष के कारण उदारवादी लेखक कांग्रेस की स्थापना को सही कदम बताते हैं, तो प्रगतिशील इसका इस्तेमाल यह साबित करने के लिए करते हैं कि कांग्रेस अगर साम्राज्यवाद के प्रति निष्ठावान नहीं रही, तो भी कम-से-कम वह समझौतावादी तो रही है जब कि घोर दक्षिणपंथियों द्वारा इस मिथक का इस्तेमाल यह सिद्ध करने के लिए किया जाता रहा है कि कांग्रेस शुरू से ही गैर-राष्ट्रवादी रही है। ये सभी लोग एक बात पर सहमत हैं वह यह कि कांग्रेस का जन्म जिस तरीके से हुआ, उस तरीके ने इसके बुनियादी चरित्र और भविष्य में उसके कार्यों पर निर्णायक प्रभाव डाला।

9.1 कांग्रेस की स्थापना, इसकी स्थापना के लिए उत्तरदायी कारक और इसकी उत्पत्ति के सिद्धांत (Establishment of Congress, Factors responsible for its Foundation and Theories of its Origin)

'यंग इंडिया' में 1916 में प्रकाशित अपने लेख में नरमपंथी नेता लाला लाजपत राय ने 'सुरक्षा वाल्व' की इस परिकल्पना का इस्तेमाल कांग्रेस के नरमपंथी पक्ष पर प्रहार करने के लिए किया था। 'सुरक्षा वाल्व' की परिकल्पना पर लंबी चर्चा करते हुए अपने लेख में उन्होंने कहा था कि "कांग्रेस लॉर्ड डफरिन के दिमाग की उपज है।" इसके बाद अपनी बात आगे बढ़ाते हुए उन्होंने लिखा था कि "कांग्रेस की स्थापना का उद्देश्य राजनीतिक आजादी हासिल करने से कहीं ज्यादा यह था कि उस समय ब्रिटिश साम्राज्य पर आसन्न खतरों से उसे बचाया जा सके। कांग्रेस के लिए ब्रिटिश साम्राज्य के हित पहले स्थान पर थे और भारत के हित दूसरे स्थान पर। कोई यह नहीं कह सकता कि कांग्रेस अपने उस आदर्श (अँग्रेजी साम्राज्य के प्रति निष्ठा) के प्रति ईमानदार नहीं रही है।" लेख के उपसंहार में उन्होंने कहा था, "इसलिए यह है कांग्रेस की उत्पत्ति–ग्रंथि और प्रगतिशील राष्ट्रवादियों की दृष्टि में इसको निर्दोष ठहराने के लिए इतना काफी है।"

इसके करीब 25-30 वर्ष बाद इस विषय पर रजनीपाम दत्त के 'प्रामाणिक अध्ययन' ने तो 'सुरक्षा वाल्व' के मिथक को वामपंथी विचारधारा के 'कच्चे माल' के रूप में ही स्थापित कर दिया। इस मिथक को बड़े जोरदार ढंग से उठाते हुए उन्होंने लिखा कि सरकार की सीधी पहल और मार्गदर्शन के द्वारा कांग्रेस अस्तित्व में आई। इसके लिए "वाइसराय के साथ मिलकर एक गुप-चुप योजना" तैयार की गई थी, ताकि उस समय उठ रही "ब्रिटिश-विरोधी लहर और जन असंतोष की ताकतों से ब्रिटिश शासन की रक्षा के लिए इसका (कांग्रेस का) इस्तेमाल हथियार के तौर पर" किया जाए। यह एक आसन्न क्रांति को विफल करने की कोशिश, या यों कहें कि क्रांति के आने की की गई पेशबंदी थी। ठीक है कि समय रहते ही कांग्रेस एक राष्ट्रवादी संगठन के रूप में तबदील हो गई, इसके "निष्ठावान चरित्र पर राष्ट्रीय चरित्र हावी होने लगा" और यह जनांदोलनों की वाहक बन गई लेकिन इसके जन्म के समय का 'कलंक' इसकी राजनीति पर एक स्थायी दाग छोड़ गया। एक संगठन के रूप में इसका यह 'दोहरा चरित्र' कि इसे सरकार ने बनाया और फिर यह साम्राज्य-विरोधी आंदोलन की अगुआ बनी, "इसके समूचे इतिहास में नजर आता है।" इसने साम्राज्यवाद के खिलाफ संघर्ष किया और उसके साथ सहयोग भी किया। इसने जनांदोलनों की अगुआई की और जब जनता ने क्रांति के रास्ते पर बढ़ना शुरू किया तो उसे धोखा देकर साम्राज्यवाद का साथ दिया।

श्री दत्त के अनुसार इस तरह कांग्रेस के दो रुख थे–"एक पक्ष तो जनांदोलन के 'खतरे' के खिलाफ साम्राज्यवाद से सहयोग का था और दूसरा पक्ष राष्ट्रीय संघर्ष में जनता की अगुआई का था।" गोखले से लेकर गाँधी तक, कांग्रेस

नोट

नेतृत्व का यह दोहरापन दरअसल भारतीय बुर्जुआ वर्ग के दोहरे और ढुलमुल चरित्र को ही प्रतिबिंबित करता है, 'जो ब्रिटिश बुर्जुआ के खिलाफ संघर्षरत रहते हुए और भारत के लोगों का नेतृत्व करने की इच्छा रखते हुए भी इसके प्रति आशंकित था कि 'बहुत तेजी से' आगे बढ़ने से, साम्राज्यवादियों द्वारा भोगी जा रही सुविधाओं के खात्मे के साथ, उसको हासिल सुविधाएँ भी खत्म हो सकती हैं।" इस तरह कांग्रेस वास्तविक क्रांति यानी हिंसक क्रांति के विरोध का हथियार बन गई। लेकिन कांग्रेस की यह भूमिका गाँधी के समय में नहीं शुरू हुई, बल्कि "यह बात तो साम्राज्यवाद ने इसके जन्म के समय ही इसकी निर्दिष्ट सरकारी भूमिका के तौर पर इसे घुट्टी में पिलाई गई थी। इस दोहरी भूमिका की चरम परिणति माउंटबेटन समझौते के रूप में इसके अंतिम आत्मसमर्पण के तौर पर हुई।"

इसके पहले 1939 में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के तौर पर संघचालक एम.एस. गोलवलकर ने भी कांग्रेस की धर्मनिरपेक्षता के कारण उसे गैर-राष्ट्रवादी ठहराने के लिए सुरक्षा वाल्व की इस परिकल्पना का इस्तेमाल किया था। उन्होंने अपने पैम्फ 'वी' (हम) में कहा था कि हिंदू राष्ट्रीय चेतना को उन लोगों ने तबाह कर दिया जो 'राष्ट्रवादी' होने का दावा करते हैं और जिन्होंने 'लोकतंत्र के सिद्धांतों' को बढ़ावा दिया और यह विकृत धारणा फैलाई कि "हमारे पुराने दुश्मन और हमलावर मुसलमान भी कई मायनों में हिंदुओं के समान हैं।" इसका नतीजा यह हुआ कि "हमने अपने दुश्मनों को अपना दोस्त मान लिया और इस तरह हमने सच्ची राष्ट्रीयता की जड़ें खुद अपने हाथों ही खोद डालीं।" सच तो यह है कि भारत में चल रहा संघर्ष केवल भारतीयों और अँग्रेजों के बीच नहीं है, बल्कि यह 'एक त्रिकोणीय संघर्ष है। हिंदुओं को एक तरफ तो मुसलमानों से लड़ना पड़ रहा है और दूसरी तरफ अँग्रेजों से। हिंदुओं को 'विराष्ट्रीकरण' के रास्ते पर ले जाने के लिए, गोलवलकर के अनुसार, ह्यूम, कॉटन और वेडरबर्न द्वारा 1885 में तय की गई नीतियां ही जिम्मेदार थीं–"इन लोगों ने उस समय 'उबल रहे राष्ट्रवाद' के खिलाफ 'सुरक्षा वाल्व' के तौर पर कांग्रेस की स्थापना की। उस समय जाग रहे एक विशाल देव को सुला देने के लिए यह एक खिलौना था, राष्ट्रीय चेतना को तबाह कर देने का हथियार था और जहाँ तक उन लोगों के उद्देश्य की बात है वे इसमें पूरी तरह सफल रहे।"

उदारवादी सी. एफ. एंड्रूज और गिरिजा मुखर्जी ने भी 1938 में प्रकाशित 'भारत में कांग्रेस का उदय और विकास' में सुरक्षा वाल्व की बात पूरी तरह स्वीकार की गई है। हाँ, उन्हें इस बात का संतोष जरूर है कि इससे 'व्यर्थ के खून-खराबे' को टालने में मदद मिली। 1947 के पहले और बाद में दसियों विद्वानों और सैकड़ों लेखकों ने इन चार विचारधाराओं में से ही किसी-न-किसी को दोहराया है।

ह्यूम और वह गोपनीय रिपोर्ट

सुरक्षा वाल्व की इस परिकल्पना को ऐतिहासिक साक्ष्य बना देने में सात खंडों वाली उस 'गोपनीय रिपोर्ट' की निर्णायक भूमिका रही, जिसके बारे में ह्यूम का कहना है कि 1878 की गर्मियों में शिमला में उन्होंने इसे पढ़ा था और इसे पढ़ने के बाद उन्हें इसका पक्का यकीन हो गया कि भारत में "असंतोष उबल रहा है" और एक बड़ी साजिश रची जा रही है। निचले तबके के लोग ब्रिटिश शासन को हिंसा के द्वारा उखाड़ फेंकने वाले हैं।

इसके पहले कि हम इन सात खंडों के रहस्य की छानबीन करें, यह जान लेना बेहतर होगा कि इस रिपोर्ट की चर्चा सबसे पहले कैसे शुरू हुई और बाद में यह बात कैसे आगे बढ़ी। वेडरबर्न ने ए.ओ. ह्यूम की जीवनी लिखी थी, जो 1913 में प्रकाशित हुई। सबसे पहले इसी जीवनी में सात खंडों की इस गोपनीय रिपोर्ट की चर्चा की गई थी। ह्यूम के पास कांग्रेस की स्थापना से संबंधित जो दस्तावेज थे, उन्हीं में वेडरबर्न को एक ऐसा दस्तावेज मिला, जिस पर कोई तारीख नहीं पड़ी थी। वेडरबर्न ने ह्यूम की जीवनी में इस दस्तावेज का विस्तार से हवाला दिया है। लाला लाजपत राय के अनुसार, इस तथ्य के बावजूद कि "ह्यूम आजादी के प्रेमी थे," वह सबसे पहले तो एक "अंग्रेज देशभक्त" ही थे। जब उन्होंने देखा कि ब्रिटिश शासन पर एक "गंभीर विपत्ति आने वाली है," तो उन्होंने असंतोष के सुरक्षित निकास के लिए एक सुरक्षा वाल्व बनाने का फैसला किया।

अपनी इस बात को साबित करने के लिए लाला लाजपत राय ने ह्यूम के दस्तावेज से एक लंबा अंश उद्धरित किया, जो वेडरबर्न की किताब के पृष्ठ 80-81 पर छपा था। ह्यूम के दस्तावेज के इस अंश के साथ वेडरबर्न ने अपनी

नोट

टिप्पणियाँ भी दी थीं। चूँकि बाद के सभी लेखकों ने इस अंश को उद्धरित किया है या इसका हवाला दिया है, इसलिए यह जरूरी है कि इस अंश को हम यहाँ फिर से उद्धरित करें। ह्यूम ने लिखा–

मुझे इस रिपोर्ट के कई खंड दिखाए गए, जिसमें छोटी-बड़ी ढेर सारी प्रविष्ठियाँ थीं–कई तरह की सूचनाओं के आधार पर ये प्रविष्ठियाँ दर्ज की गई थीं। ये या तो इन सूचनाओं का अँगेजी अनुवाद थीं या अँग्रेजी में उन्हें संक्षेप में लिख दिया गया था। इन सभी सूचनाओं को जिलेवार क्रमबद्ध किया गया था... कहा जाता है कि उस समय तीस हजार से भी ज्यादा मुखबिरों द्वारा भेजी गई सूचनाओं के आधार पर ये असंख्य प्रविष्टियाँ इस विस्तृत रिपोर्ट में की गई थीं। उन्होंने (ह्यूम ने) लिखा है कि इस रिपोर्ट के ये खंड सिर्फ एक हफ्ते तक उनके कब्जे में रहे... इसमें की गई ज्यादातर प्रविष्टियाँ समाज के निचले तबके के बीच होने वाली बातचीत के आधार पर तैयार की गई बताई जाती हैं, और इन सारी प्रविष्टियों से यह पता चलता है कि मौजूदा हालात से इन गरीब लोगों में निराशा घर कर गई है और उन्हें लगता है कि भूख उन्हें मार डालेगी। अब वे कुछ करना चाहते हैं, एकजुट होना चाहते हैं और जो कुछ वे करना चाहते हैं, वह है हिंसक संघर्ष। पढ़े-लिखे लोगों का एक छोटा वर्ग भी इन लोगों के साथ है। यह शिक्षित तबका तंग आकर शायद अनुचित रूप से सरकार के विरुद्ध है। यह शिक्षित तबका भी आंदोलन में शामिल होगा, उसे नेतृत्व प्रदान करेगा और असंतोष के विस्फोट को राष्ट्रीय विद्रोह के रास्ते पर मोड़ देगा।

लाला लाजपत राय ने हालाँकि इस किताब से उद्धरण तो दिए, सात खंडों की इस रिपोर्ट के चरित्र और उत्पत्ति वगैरह के बारे में उन्होंने कुछ नहीं लिखा था। लेकिन बहुत जल्दी ही इस रिपोर्ट के बारे में तरह-तरह की बातें सामने आने लगीं। 1933 में गुरमुख निहाल सिंह ने इन सात खंडों को 'सरकारी रिपोर्ट' बताया, तो दूसरी तरफ एंड्रूज और मुखर्जी ने कहा कि "ये सी.आई.डी. द्वारा तैयार की गई गोपनीय रिपोर्टें थीं" और ह्यूम को ये रिपोर्टें 'उनकी सरकारी हैसियत' के तहत मिली थीं। लेकिन रजनी पाम दत्त इन सब लोगों से भी एक कदम आगे बढ़ गए। उन्होंने लाला लाजपत राय द्वारा वेडरबर्न की किताब से उद्धरित अंशों के पेश करते हुए लिखा, "ह्यूम को उनकी सरकारी हैसियत के तहत पुलिस की ये गोपनीय रिपोर्टें हासिल हुई थीं।" इन लोगों के इस कपोल-कल्पित साक्ष्य को बाद के इतिहासकारों ने, जिनमें

डफरिन ने 1888 में सेंट एंड्रूज दिवस पर भोज के समय अपने भाषण में सार्वजनिक रूप से कांग्रेस पर आरोप लगाया था कि वह अपने निहित स्वार्थों के लिए सामाजिक सुधारों को नजरअंदाज कर राजनीतिक आंदोलन चला रही है। उनका कहना था कि सामाजिक सुधारों से करोड़ों लोगों का उत्थान होगा। इससे पहले विदेश सचिव के नाम एक निजी खत में भी डफरिन ने यही बातें लिखी थीं।

डफरिन के निजी दस्तावेजों (ये दस्तावेज 1950 से ही लोगों को पढ़ने के लिए उपलब्ध हैं) यदि ध्यान से पढ़ा जाए तो साफ पता चलेगा कि कांग्रेस के गठन में डफरिन की भूमिका या कांग्रेस को उनके सहयोग की बात बिल्कुल झूठी है। ह्यूम ने कभी भी सामाजिक मुद्दों पर चर्चा के लिए बैठकें करते रहे। इसका प्रमाण डफरिन का यह पत्र है जो उन्होंने ह्यूम से पहली बाद मिलने के बाद बंबई के गवर्नर लार्ड रे (Reay) को लिखा था। पत्र में लिखा था : ह्यूम ने मुझे बताया है कि वह और उनके दोस्त एक राजनीतिक सम्मेलन आयोजित करने जा रहे हैं। जहाँ तक मैं समझता हूँ, ठीक उसी तरह जैसे कैथोलिक विमुक्ति के पहले ओ कॉनेल ने किया था।"

जब स्वयं डफरिन और उनके उदारवादी सहयोगी (बंबई और मद्रास के गवर्नर) भी कांग्रेस से सहानुभूति नहीं रखते थे, तो उनके रुढ़िवादी सहयोगियों अल्फ्रेड, जे.बी. लायल, डी.एम.वालेस, ए. कोल्विन और एस.सी. बेले की बात ही छोड़िए।

1885 में उन्होंने रे (Reay) को खत लिखकर चेतावनी दी थी कि ह्यूम की कांग्रेस से सावधान रहिए। "सुधारवादियों और दक्षिणपंथियों में से किसी के भी नजदीक मत जाइए।" जून 1885 में रे ने इसका जवाब लिखा। नई राजनीतिक सरगर्मी से भयातुर रे ने डफरिन को भारतीय प्रतिनिधियों से सावधान रहने को कहा। उन्हें लगा कि भारतीय जनता ने एक 'भारतीय राष्ट्रीय दल' का गठन किया है। उन्होंने भारतीय प्रतिनिधियों की तुलना आयरलैंड के प्रतिनिधियों से की।

नोट

क्या आप जानते हैं डफरिन ने 1888 में ही पहली बार कांग्रेस की आलोचना की हो, ऐसी बात नहीं है। 1888 में उन्होंने रे (Reay) को लिखा था कि "हम कांग्रेस को साबुत नहीं रहने देंगे।"

वास्तव में मई 1885 के बाद से ही डफरिन, ह्यूम से नफरत करने लगे थे और उनसे दूर रहने लगे थे। यही नहीं, इसके बाद से डफरिन ने बंगाली बाबुओं और मराठी ब्राह्मणों पर हमला बोलना शुरू कर दिया। डफरिन का मानना था कि इनके उद्देश्य संदिग्ध हैं और ये भारत में आयरलैंड-जैसा क्रांतिकारी विद्रोही आंदोलन चलाना चाहते हैं। मई-जून 1886 में डफरिन ने ह्यूम को धूर्त, पागल, बेईमान और न जाने क्या-क्या कहा। ह्यूम का कसूर महज इतना था कि वह हिंदुस्तान में 'होम रूल' आंदोलन के मुख्य प्रेरक हो गए थे।

1870 के दशक के अंत में और 1880 के दशक के शुरू में भारतीय जनता राजनीतिक तौर पर काफी जागरूक हो चुकी थी। 1885 में इस राजनीतिक चेतना ने करवट बदली। भारतीय राजनीतिक और राजनीति में सक्रिय बुद्धिजीवी, संकीर्ण हितों के लिए आवाज उठाने के बजाय राष्ट्रीय हितों के लिए राष्ट्रीय स्तर पर संघर्ष करने को छटपटाने लगे थे। उनके इस प्रयास को सफलता मिली, एक 'राष्ट्रीय दल' का गठन हुआ–एक ऐसा दल, जो राष्ट्रीय चेतना का प्रतीक था, भारतीय राजनीति के लिए एक प्लेटफार्म, एक संगठन, एक मुख्यालय।

इस 'राष्ट्रीय दल' के गठन के लिए जो राजनीतिक गतिविधियाँ हो रही थीं, अँग्रेज सरकार उससे बखूबी परिचित थी। उसे पूर्वाभास हो गया था कि क्या होने वाला है। राजनीति में सक्रिय भारतीयों को संदेह की नजर से देखा जाने लगा। हुकूमत को लगा कि असहयोग, देशद्रोह और आयरलैंड की तरह के आंदोलनों का दौर शुरू होने वाला है।

विदेशी हुकूमत का संदेह तात्कालिक नहीं था। इसका ठोस ऐतिहासिक आधार था। उस समय की राष्ट्रीय माँगें थीं– आयातित सूती वस्त्रों पर आयात शुल्क में कमी न करना, हथियार रखने का अधिकार देना, प्रेस की आजादी, सेना पर खर्च में कटौती, प्राकृतिक आपदाओं के शिकार लोगों की सहायतार्थ और अधिक राशि आवंटित करना, प्रशासनिक सेवा का भारतीयकरण, अर्धसैनिक बलों एवं स्वैच्छिक संगठनों में भारतीयों को भी शामिल होने का अधिकार, भारतीय न्यायाधीशों को यूरोपीय नागरिकों पर आपराधिक मुकद्दमे की सुनवाई का अधिकार, अँग्रेज मतदाताओं के बीच इस तरह का प्रचार कि वे उसी दल को वोट दें जो भारतीयों के हितों का ख्याल रखे। उन माँगों को यदि अलग-अलग करके देखा जाए, तो ये बड़ी सतही लगेंगी, पर ब्रिटिश हुकूमत इन माँगों को भी आसानी से मानने वाली नहीं थी क्योंकि उसे लगता था कि यदि ये माँगें मान ली गईं तो भारतीय जनता पर अँग्रेजी हुकूमत का शिकंजा ढीला हो जाएगा।

नोट्स 1885 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना न तो अप्रत्याशित घटना थी और न ही कोई ऐतिहासिक दुर्घटना। 1860 और 1870 के दशक से ही भारतीयों में राजनीतिक चेतना पनपने लगी थी। कांग्रेस की स्थापना इस बढ़ती चेतना की पराकाष्ठा थी।

1875 से 1885 के दौरान भारत में जो नई राजनीतिक चेतना पनपी, वह मुख्यत: युवा वर्ग की देन थी। ये युवा ज्यादा लड़ाकू और राष्ट्रवादी थे। इनमें से अधिसंख्य इन्हीं 10 वर्षों के भीतर राजनीति में आए थे। इन्होंने एक नया संगठन बनाया, क्योंकि इन्हें लगा कि पुराने संगठन दकियानूसी हो गए हैं, उनका जनाधार भी ठोस नहीं है। न उनके पास कोई ठोस कार्यक्रम है, न नीतियाँ। बतौर उदाहरण बंगाल का 'ब्रिटिश-इंडियन ऐसोसिएशन' धीरे-धीरे जमीदारों के हितों का पोषक बन गया था और अंग्रेजों के खिलाफ उसकी आवाज मद्धिम पड़ गई थी। 'बांबे एसोसिएशन' और 'मद्रास नेटिव ऐसोसिएशन' दक्षिणपंथी और मरणासन्न हो गए थे।

यही कारण था कि 1876 में बंगाल के युवा राष्ट्रवादियों ने सुरेन्द्रनाथ बनर्जी और आनंद मोहन बोस के नेतृत्व में

नोट

'इंडियन एसोसिएशन' का गठन किया। मद्रास के युवा नेताओं–एम.वी. राघव चेरियार, जी. सुब्रह्मण्यम अय्यर, पी. आनंद चारलू आदि ने 1884 में 'मद्रास महाजन सभा' का गठन किया। बंबई में युवा राष्ट्रवादी बुद्धिजीवी नेता के. टी. तेलंग और फिरोजशाह मेहता राजनीतिक मतभेदों के कारण पुराने नेताओं दादा भाई फ्रामजी और दिनशा पेटिट से अलग हो गए और 1885 में 'बांबे प्रेसीडेंसी ऐसोसिएशन' का गठन किया। पुराने संगठनों में केवल एक संगठन 'पूना सार्वजनिक सभा' का अस्तित्व बरकरार रहा, क्योंकि इसका नेतृत्व पहले से ही राष्ट्रवादी बुद्धिजीवियों के हाथ में था। इन वर्षों के दौरान देश में एक नई राजनीतिक चेतना अँगड़ाई लेने लगी थी। नए राजनीतिक जीवन की उत्पत्ति का संदेश मिलने लगा था। यह संदेश देकर आए राष्ट्रवादी अखबार–'हिंदू', 'ट्रिब्यून', 'बंगाली', 'मराठा' और 'केसरी'। ये सभी राष्ट्रवादी अखबार इसी दौरान निकलने शुरू हुए और 1918 तक भारतीय राजनीति पर छाए रहे। 'अमृत बाजार पत्रिका' ही एक अपवाद था। इसका प्रकाशन पहले से ही हो रहा था। 1878 में यह अँग्रेजी भाषा का अखबार हो गया।

1885 आते-आते एक अखिल भारतीय राजनीतिक संगठन का जन्म अवश्यंभावी हो गया, एक ऐतिहासिक जरूरत। देश के सभी राष्ट्रवादियों ने इस जरूरत को बड़ी शिद्दत के साथ महसूस किया। 1877 के बाद इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए जो भी प्रयास किए गए, उस पर आज के कई इतिहासकार विस्तृत रूप से लिख चुके हैं। 1883 के बाद इन प्रयासों में काफी तेजी आई और राजनीतिक गतिविधियों ने जोर पकड़ा। कलकत्ता से प्रकाशित 'इंडियन मिरर' ने तो इस सवाल को लेकर जिहाद छेड़ दिया था। दिसंबर 1883 में 'इंडियन ऐसोसिएशन' ने 'अखिल भारतीय राष्ट्रीय सम्मेलन' का आयोजन किया था और दिसंबर 1885 में दूसरा सम्मेलन करने की घोषणा की थी (यही कारण था कि अखिल भारतीय राष्ट्रीय सम्मेलन से जुड़े सुरेन्द्रनाथ बनर्जी 1885 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के स्थापना सत्र में शामिल न हो सके)।

इस बीच भारतीयों में काफी आत्मविश्वास आ चुका था। इससे पहले के 10 वर्षों के दौरान तमाम आंदोलनों से उनमें लड़ाकू प्रवृत्ति आ गई थी। 1875 के बाद से 'वस्त्र आयात शुल्क' को लेकर लगातार आंदोलन चलता रहा। यह आंदोलन भारतीय वस्त्र-उद्योग के हित में आयात शुल्क को बरकरार रखने के लिए चलाया जा रहा था। 1877-78 के दौरान सरकारी नौकरियों के भारतीयकरण के लिए जबरदस्त आंदोलन चला। सरकार ने जब 'वर्नाकुलर प्रेस ऐक्ट' के माध्यम से प्रेस पर नियंत्रण करना चाहा, तो प्रेस ने आंदोलन छेड़ा। 'आर्म्स-एक्ट' के माध्यम से जब भारतीयों का हथियार रखने का अधिकार छीना जाने लगा तो आंदोलन छिड़ा।

सन् 1881-82 में 'बागान मजदूर और स्वदेशी आब्रजन अधिनियम' के खिलाफ आंदोलन चलाया गया। इस कानून ने बागान मजदूरों को एक तरह से दास बना दिया था। 1883 में 'इलबर्ट विधेयक' के समर्थन में आंदोलन हुआ। इस विधेयक में यह प्रावधान था कि भारतीय न्यायाधीश यूरोपीय नागरिकों पर आपराधिक मुकद्दमे की सुनवाई कर सकते हैं। यूरोपीय नागरिकों ने इस विधेयक को पास नहीं होने दिया, लेकिन इससे भारतीयों ने एक राजनीतिक सबक जरूर सीखा। भारतीयों की पराजय का कारण था कि इनका कोई देशव्यापी संगठन नहीं था, जबकि यूरोपीय नागरिकों का विरोध संगठित था।

भारत और ब्रिटेन में एक साथ राजनीतिक आंदोलन चलाने के उद्देश्य से जुलाई 1883 में देशव्यापी स्तर पर धन इकट्ठा करने का काम शुरू हुआ। 1885 में भारतीयों ने, स्वैच्छिक संगठनों में भागीदारी के लिए आंदोलन छेड़ा और उसके बाद अँग्रेज मतदाताओं से अपील की कि वे उसी उम्मीदवार को वोट दें, जो भारतीय हितों का रक्षक हो। कई भारतीय नेताओं को ब्रिटेन भेजा गया, जहाँ उन्होंने सार्वजनिक सभाओं में भाषण दिए।

इस तरह स्पष्ट हो जाता है कि कांग्रेस की स्थापना, 1885 से पहले के कुछ वर्षों से देश में चल रहे राजनीतिक कार्यकलाप और गतिविधियों की स्वाभाविक परिणति थी। उस समय तक देश की राजनीतिक परिणति ऐसी बन गई थी कि यह जरूरी हो गया था कि कुछ बुनियादी काम और लक्ष्य तय किए जाएँ और उनके लिए संघर्ष शुरू किया जाए। इन लक्ष्यों को हासिल करने के लिए यह जरूरी था कि देश के राजनीतिक कार्यकर्ता मंच पर आएँ। अखिल भारतीय आधार पर गठित कोई एक संगठन ही ऐसा मंच प्रदान कर सकता था। ये सभी लक्ष्य एक-दूसरे पर आधारित थे और इन्हें तभी हासिल किया जा सकता था, जब राष्ट्रीय स्तर पर कोई कोशिश शुरू की जाती। 28 दिसंबर 1885

नोट

को बंबई में हुए सम्मेलन में जिन लोगों ने हिस्सा लिया था, उनके लिए ये बुनियादी लक्ष्य ही सबसे ज्यादा महत्त्वपूर्ण थे और वे यह आशा लेकर ही वहाँ गए थे कि इन लक्ष्यों को हासिल करने की प्रक्रिया की शुरूआत बंबई से हो सकेगी। कांग्रेस की सफलता या विफलता और बाद के वर्षों में उसके चरित्र का निर्धारण, बजाय इसके कि उसकी स्थापना किन लोगों ने की, इससे किया जाना चाहिए कि अपनी स्थापना के शुरूआती वर्षों में इन लक्ष्यों को हासिल करने में वह कहाँ तक सफल रही।

राष्ट्र का निर्माण

उस समय भारत ने राष्ट्र बनने की प्रक्रिया के रास्ते पर कदम बढ़ाया ही था। भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के प्रणेताओं के सामने पहला लक्ष्य यही था कि भारतीयों को एक राष्ट्र के रूप में जोड़ने और भारतीय जनता के रूप में उनकी पहचान बनाने की यह प्रक्रिया आगे बढ़ाई जाए। उपनिवेशवादी प्रशासक और उनके अनुयायी तब अकसर यह कहा करते थे कि भारत "एक नहीं हो सकता" या आजाद नहीं हो सकता क्योंकि यह एक राष्ट्र नहीं हैं, बल्कि यह महज एक भौगोलिक शब्दावली है और सैकड़ों अलग-अलग धर्मों व जातियों के लोगों का समूह है। नई पीढ़ी को यह जिम्मेदारी दी जानी है कि वह अपनी सफलताओं के द्वारा देश की सेवा करे। हमें यानी वर्तमान पीढ़ी के लोगों को इसी बात का संतोष होना चाहिए कि हमने मुख्यत: अपनी असफलताओं के द्वारा ही देश की सेवा तो की। हालाँकि यह काफी कठिन है, फिर भी इन असफलताओं के भीतर से ही वह शक्ति उभरेगी जो आगे चलकर महान लक्ष्यों और कार्यों को पूरा करेगी।"

ह्यूम की भूमिका

अब एक बार हम ह्यूम की तरफ वापस लौटते हैं। आखिर क्या थी ह्यूम की भूमिका? अगर कांग्रेस की स्थापना करने वाले लोगों में इतनी ही क्षमता, योग्यता और देशभक्ति थी, तो उन्हें क्या जरूरत थी कि वे ह्यूम को कांग्रेस का मुख्य संगठनकर्ता बनाते? इस सवाल का तो सही जवाब उस समय की परिस्थितियों में ही छिपा है। भारतीय उपमहाद्वीप के विस्तृत आकार की तुलना में, 1880 के दशक की शुरूआत में राजनीतिक सोच रखने वाले लोग बहुत कम थे और ब्रिटिश शासकों के खुले विरोध की परंपरा की जड़ें भी तब कतई जम नहीं पाई थी।

दादाभाई नौरोजी, न्यायमूर्ति रानाडे, फिरोजशाह मेहता, जी. सुब्रह्मण्यम अय्यर और एक साल बाद आए सुरेन्द्रनाथ बनर्जी जैसे उत्साही और नेताओं ने इसलिए ह्यूम से सहयोग लिया कि वे बिलकुल शुरू-शुरू में ही सरकार से दुश्मनी नहीं मोल लेना चाहते थे। उनका सोचना था कि अगर कांग्रेस जैसे सरकार-विरोधी संगठन का मुख्य संगठनकर्ता ऐसा आदमी हो जो अवकाश प्राप्त ब्रिटिश अधिकारी हो तो इस संगठन के प्रति सरकार को शक-शुबहा कम होगा और इस कारण कांग्रेस पर सरकारी हमले की गुँजाइश कम होगी।

दूसरे शब्दों में अगर ह्यूम और दूसरे अँग्रेज उदारवादियों ने कांग्रेस का इस्तेमाल 'सुरक्षा वाल्व' के तौर पर करना भी चाहा हो, तो कांग्रेस के नेताओं ने उनका साथ इस आशा से पकड़ा था कि ये लोग कांग्रेस के लिए 'तड़ित चालक' जैसा काम करेंगे और आंदोलन पर गिरने वाली दमन की बिजली से उसे बचा सकेंगे और जैसा कि बाद में हालात गवाह हैं, इस मामले में कांग्रेस के नेताओं का अंदाजा और उम्मीदें ही सही निकलीं।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

1. सही विकल्प चुनिए (Choose the Correct Option)–

1. कांग्रेस पर सुरक्षा वाल्व सिद्धांत किसने दिया था?
   (क) बी.जी तिलक (ख) लाला लाजपत राय (ग) सुरेन्द्रनाथ बनर्जी (घ) गोपालकृष्ण गोखले
2. कांग्रेस की स्थापना दिसम्बर 1885 में किसने की?
   (क) ए.ओ. ह्यूम (ख) डफरिन (ग) वेडरबर्न (घ) लार्ड रे

नोट

3. सुरेन्द्रनाथ बनर्जी और आनंद मोहन बोस के नेतृत्व में 'इंडियन एसोसिएशन' की स्थापना कब की गई?
   (क) 1872 (ख) 1874 (ग) 1876 (घ) 1878
4. 'इंडियन मिरर' कहाँ से प्रकाशित होता था?
   (क) बम्बई (ख) कलकत्ता (ग) इलाहाबाद (घ) दिल्ली
5. इंडियन एसोसिएशन ने पहले 'अखिल भारतीय राष्ट्रीय सम्मेलन' का आयोजन कब किया?
   (क) 1883 (ख) 1884 (ग) 1885 (घ) 1888

9.2 होमरूल आंदोलन: लोकमान्य तिलक और एनी बेसेंट की भूमिका और इसकी असफलता (Home Rule Movement: Role of Lokmanya Tilak and Annie Besant and its Fall out)

बाल गंगाधर तिलक छह साल की लंबी सजा काटने के बाद 16 जून, 1914 को जेल से छूटे। कैद का अधिकांश समय मंडाले जेल (बर्मा) में बीता था। भारत लौटे, तो उन्हें लगा कि वह जिस देश को छोड़ कर गए थे, वह काफी बदल गया है। स्वदेशी आंदोलन के क्रांतिकारी नेता अरविंद घोष संन्यास की राह पकड़ पांडिचेरी पहुँच गए थे और लाला लाजपत राय अमरीका में थे। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस सूरत के विभाजन, स्वदेशी आंदोलनकारियों पर अँग्रेजी हुकूमत के दमनकारी प्रहारों और 1909 के सांविधानिक सुधारों के कारण नरमपंथी राष्ट्रवादियों की निराशा के सम्मिलित सदमे से अभी तक उबर नहीं पाई थी।

तिलक ने सोचा कि सबसे पहले तो कांग्रेस में फिर से शामिल हुआ जाए और बाकी नरमपंथियों को भी इसमें घुसाया जाए। तिलक का यह विश्वास हो चला था कि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस, भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन का पर्याय बन चुकी है और बिना इसकी इजाजत के कोई भी राजनीतिक आंदोलन सफल नहीं हो सकता। नरमपंथियों को समझाने-बुझाने, उनका विश्वास जीतने तथा भविष्य में अँग्रेजी हुकूमत दमन का रास्ता न अख्तियार करे, इस उद्देश्य से उन्होंने घोषणा की, "मैं साफ-साफ कहता हूँ कि हम लोग हिन्दुस्तान में प्रशासन-व्यवस्था का सुधार चाहते हैं, जैसा कि आयरलैंड में वहाँ के आंदोलनकारी माँग कर रहे हैं। अंग्रेजी हुकूमत को उखाड़ फेंकने का हमारा कोई इरादा नहीं है। इस बात को कहने में मुझे कोई हिचक नहीं है कि भारत के विभिन्न भागों में जो हिंसात्मक घटनाएँ हुई हैं, न केवल मेरी विचारधारा के विपरीत हैं, बल्कि इनके कारण हमारे राजनीतिक विकास की प्रक्रिया भी धीमी हुई है।" उन्होंने अँग्रेजी हुकूमत के प्रति अपनी निष्ठा दोहराई और भारतीय जनता से अपील की कि वह संकट की घड़ी में अँग्रेजी हुकूमत का साथ दे।

नरमपंथी खेमे के तमाम नेता अब महसूस करने लगे थे कि 1907 में, सूरत में जो कुछ उन्होंने किया, वह गलत था। वे कांग्रेस की अकर्मण्यता से भी क्षुब्ध थे। इन्हें तिलक की अपील बहुत भाई। इसके अलावा इन पर एनी बेसेंट का लगातार दबाव पड़ रहा था कि देश में राष्ट्रवादी राजनीतिक आंदोलन को फिर से तेज करो। एनी बेसेंट अभी हाल ही में कांग्रेस में शामिल हुई थीं। 1914 में वह 66 वर्ष की थीं, उनके राजनीतिक जीवन की शुरुआत इंग्लैंड में हुई थी, जहाँ उन्होंने स्वतंत्र चिंतन (फ्री थॉट), उग्र-सुधारवाद (रैडिकलिज्म), फबियनवाद और ब्रह्मविद्या (थियोसॉफी) के प्रचार में हिस्सा लिया। 1893 में वे भारत आईं, उद्देश्य था 'थियो-सॉफिकल सोसाइटी' के लिए काम करना। उन्होंने मद्रास के एक उपनगर अडियार में अपना दफ्तर खोला और 1907 से ब्रह्मविद्या (थियोसॉफी) का प्रचार करने लगी। थोड़े समय में ही उन्होंने समर्थकों की एक बड़ी संख्या तैयार कर ली। इसमें ज्यादातर उन समदायों के शिक्षित व्यक्ति शामिल हुए थे, जिनमें अभी तक सांस्कृतिक पुनर्जागरण नहीं हुआ था। 1914 में एनी बेसेंट ने अपनी गतिविधियों का दायरा बढ़ाने का निर्णय किया और 'आयरलैंड की होमरूल लीग' की तरह भारत में भी स्वशासन की माँग को लेकर आंदोलन चलाने की योजना बनाई। उन्हें लगा कि इसके लिए कांग्रेस की अनुमति और गरमपंथी आंदोलनकारियों का सहयोग लेना जरूरी है। गरमपंथियों का सहयोग पाने के लिए उन्हें कांग्रेस में शामिल करना जरूरी था। एनी बेसेंट कांग्रेस के नरमपंथी नेताओं को समझाने लगीं कि वे तिलक व उनके गरमपंथी सहयोगियों को कांग्रेस में शामिल होने की इजाजत दे दें।

नोट

लेकिन 1914 के कांग्रेस अधिवेशन ने उनकी कोशिशों पर पानी फेर दिया। फीरोजशाह मेहता और बंबई के उनके नरमपंथी समर्थकों ने गोखले और बंगाल के नरमपंथियों को, गरमपंथियों को बाहर रखने के लिए, मना लिया। इसके बाद तिलक और एनी बेसेंट ने खुद अपने बूते पर राजनीतिक आंदोलन चलाने का फैसला किया और साथ-ही-साथ व कांग्रेस पर दबाव भी डालती रहीं कि वह गरमपंथियों को पुनः अपना सदस्य बना लें।

1915 के शुरू में एनी बेसेंट ने दो अखबारों–'न्यू इंडिया' (New India) और 'कामनवील' (Commonweal) के माध्यम से आंदोलन छेड़ दिया। जनसभाएँ और सम्मेलन आयोजित किए। उनकी माँग थी कि जिस तरह से गोरे उपनिवेशों में वहाँ की जनता को अपनी सरकार बनाने का अधिकार दिया गया है, भारतीय जनता को भी स्वशासन का अधिकार मिले। अप्रैल 1915 के बाद ऐनी बेसेंट ने और भी कड़ा और जुझारू रुख अख्तियार किया।

इसी बीच लोकमान्य तिलक ने भी अपनी राजनीतिक गतिविधि शुरू कर दी लेकिन वे काफी सतर्क थे। वे नहीं चाहते थे कि कांग्रेस का नरमपंथी खेमा नाराज हो या कांग्रेस को यह लगे कि तिलक की गतिविधियाँ कांग्रेस की नीतियों से मेल नहीं खातीं। उनकी दिली ख्वाहिश कांग्रेस में किसी तरह शामिल होने की थी। तिलक ने 1915 में पूना में अपने समर्थकों का एक सम्मेलन बुलाया, जिसमें यह फैसला किया गया कि ग्रामीण जनता को कांग्रेस के उद्देश्यों और उसकी गतिविधियों से परिचित कराने के लिए एक संस्थान का गठन किया जाए। इस फैसले के बाद उसी वर्ष अगस्त और सितम्बर में महाराष्ट्र के विभिन्न नगरों में, जो स्थानीय संगठन बने, वे राजनीतिक गतिविधि को तेज करने के बजाय सारी ऊर्जा कांग्रेस में एकता स्थापित करने पर खर्च करते रहे। वे बराबर जोर देते रहे कि किसी भी आंदोलन के लिए कांग्रेस में एकता बहुत जरूरी है। नरमपंथी कांग्रेस के कुछ रुढ़िवादियों पर दबाव डालने के लिए तिलक ने कभी-कभी धमकी का भी सहारा लिया, पर उन्हें विश्वास था कि अधिकतर नरमपंथी नेताओं का वह समझा-बुझाकर मना लेंगे।

गरमपंथियों की सफलता

दिसम्बर 1915 में कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन हुआ और तिलक तथा एनी बेसेंट के प्रयासों को सफलता मिली। गरमपंथियों को कांग्रेस में वापस लेने का फैसला किया गया। फीरोजशाह मेहता के निधन के कारण बंबई के नरमपंथियों का विरोध बेअसर साबित हुआ। गोखले का भी निधन हो चुका था। गरमपंथियों को कांग्रेस में वापस लाने में तो एनी बेसेंट सफल रही, पर 'होम रूल लीग' के गठन के अपने प्रस्ताव पर वह कांग्रेस और मुसलिम लीग की मंजूरी नहीं ले सकीं। लेकिन स्थानीय स्तर पर कांग्रेस समितियों को पुनर्जीवित करने के लिए प्रचार-कार्यों के उनके प्रस्ताव को कांग्रेस ने मान लिया। लेकिन उन्हें उस समय की कांग्रेस का चरित्र और उसकी ताकत का पता था। वे जानतीं थीं कि कांग्रेस ने इन कार्यक्रमों को मंजूरी तो दे दी है, लेकिन वह इस अमल नहीं करेगी, इसीलिए उन्होंने अपने प्रस्ताव के साथ यह शर्त भी रखी थी कि यदि सितंबर 1916 तक कांग्रेस इन कार्यक्रमों पर अमल नहीं करेगी, तो वह खुद अपना संगठन (लीग) बना लेंगी।

तिलक को कांग्रेस में वापस आने का अधिकार मिल गया था और उन्होंने कांग्रेस से किसी तरह का कोई वादा भी नहीं किया था, इसलिए उन्होंने अप्रैल 1916 में बेलगाँव में हुए प्रांतीय सम्मेलन में 'होम रूल लीग' के गठन की घोषणा कर दी। एनी बेसेंट के समर्थक भी अब कुसमुसाने लगे। वे सितंबर तक इंतजार करने को तैयार नहीं थे। उन्होंने एनी बेसेंट पर दबाव डालकर 'होम रूल ग्रुप' की स्थापना की अनुमति ले ली। जमुनादास द्वारकादास, शंकरलाल बैंकर और इंदुलाल यागनिक ने बंबई से एक अखबार 'यंग इंडिया' का प्रकाशन शुरू किया और अँग्रेजी तथा क्षेत्रीय भाषाओं में परचे निकालने के लिए देश के कोने-कोने से चंदा इकट्ठा करने लगे। एनी बेसेंट ने सितम्बर तक इंतजार किया। कांग्रेस पूरी तरह निष्क्रिय थी। उन्होंने भी 'होम रूल लीग' की स्थापना की घोषणा कर दी और अपने समर्थक जॉर्ज अरुंडेल को संगठन-सचिव नियुक्त किया। तिलक और एनी बेसेंट ने अपनी-अपनी 'लीग' के लिए कार्यक्षेत्रों का बँटवारा भी कर दिया, जिससे कहीं कोई गड़बड़ी न हो। तिलक की 'लीग' के जिम्मे आया कर्नाटक, महाराष्ट्र (बंबई छोड़कर), मध्य प्रांत और बेरार। देश के बाकी हिस्से एनी बेसेंट की 'लीग' के जिम्मे आए। इन दोनों ने अपना विलय नहीं किया। कारण, बकौल एनी बेसेंट, "उनके (तिलक) कुछ समर्थक मुझे पसंद नहीं करते थे और

नोट

मेरे कुछ समर्थक उन्हें नापसंद करते थे। लेकिन मेरे-उनके बीच किसी तरह का कोई झगड़ा नहीं था।"

तिलक ने महाराष्ट्र का दौरा किया। 'होम रूल आंदोलन' का खूब प्रचार किया। जनता को समझाया कि इसकी जरूरत क्यों है, इसके उद्देश्य क्या हैं। उन्हीं के शब्दों में–"भारत उस बेटे की तरह है, जो अब जवान हो चुका है। समय का तकाजा है कि बाप या पालक इस बेटे को उसका वाजिब हक दे दे। भारतीय जनता को अब अपना हक लेना ही होगा। उन्हें इसका पूरा अधिकार है।" तिलक ने क्षेत्रीय भाषा में शिक्षा और भाषाई राज्यों की माँग को 'स्वराज' की माँग से जोड़ दिया। उन्होंने कहा, "मराठी, तेलुगु, कन्नड़ व अन्य भाषाओं के आधार पर प्रांतों के गठन की माँग का अर्थ ही है कि शिक्षा का माध्यम क्षेत्रीय भाषा हो। क्या अँग्रेज अपने यहाँ लोगों को फ्रांसीसी में शिक्षा देते हैं? क्या जर्मन अपने लोगों को अँग्रेजी में शिक्षा देते हैं या तुर्क फ्रेंच में शिक्षा देते हैं?" 1915 में बंबई के प्रांतीय सम्मेलन में तिलक ने गोखले के निधन पर शोक प्रस्ताव रखा। वी.वी. अलुर इसका समर्थन करने के लिए जैसे ही खड़े हुए, तिलक ने कहा, "कन्नड़ भाषा का अधिकार जताने के लिए कन्नड़ में बोलिए।" इससे पता चलता है कि तिलक में क्षेत्रीय या मराठी संकीर्णता नहीं थी।

गैरब्राह्मणों के प्रतिनिधित्व और छुआछूत के मामले में तिलक जातिवादी नहीं थे। महाराष्ट्र के गैरब्राह्मणों ने एक बार जब सरकार को अलग से ज्ञापन भेजा और कहा कि उन्नत वर्गों की माँगों से उनका कोई संबंध नहीं है, तो कई लोगों ने इसका विरोध किया। लेकिन तिलक ने इन विरोध करने वालों को समझाया, "आप लोग धैर्य से काम लीजिए। यदि हम उन्हें यह समझा सकें कि हम उनके साथ हैं और उनकी मांगों और हमारी माँगों में कोई फर्क नहीं है, तो मुझे पक्का विश्वास है कि असमानता मिटाने के लिए छिड़ा उनका आंदोलन हमारे संघर्ष से जुड़ जाएगा।" उन्होंने गैरब्राह्मणों को समझाया कि झगड़ा ब्राह्मणों और गैरब्राह्मणों का नहीं है, भेद-शिक्षित और अशिक्षित के बीच है। ब्राह्मण गैरब्राह्मण की तुलना में ज्यादा शिक्षित हैं, इसलिए गैरब्राह्मणों की वकालत करने वाली सरकार भी मजबूर होकर सरकारी नौकरियों में ब्राह्मणों को ही भरती करती है। सरकार ब्राह्मणों के प्रति अपने निरंकुश रवैये के बावजूद, उन्हें प्रशासन में जगह दे रही है, क्योंकि वह मानती है कि पढ़े-लिखे लोग ही प्रशासन चला सकते हैं। छुआछूत उन्मूलन के लिए आयोजित एक सम्मेलन में तिलक ने कहा था, "यदि भगवान भी छुआछूत को बरदाश्त करे, तो मैं भगवान को नहीं मानूँगा।"

तिलक के उस समय दिए गए भाषणों में कहीं से भी धार्मिक अपील नहीं झलकती। 'होम रूल' की माँग पूरी तरह धर्मनिरपेक्षता पर आधारित थी। तिलक का कहना था कि अंग्रेजों से विरोध का कारण यह नहीं है कि वे किसी दूसरे धर्म के अनुयायी हैं, उनका विरोध तो हम इसलिए करते हैं, क्योंकि वे भारतीय जनता के हित में कोई काम नहीं कर रहे हैं। तिलक के शब्दों में, "अँग्रेज हो या मुसलमान, यदि वह इस देश की जनता के हित के लिए काम करता है, तो वह हमारे लिए पराया नहीं है। इस पराएपन का धर्म या व्यवसाय से कोई रिश्ता नहीं है। यह सीधे-सादे हितों से जुड़ा प्रश्न है...।"

तिलक ने छह मराठी और दो अँग्रेजी परचे निकालकर, अपने प्रचार कार्य को और तेज कर दिया। इन परचों की 47 हजार प्रतियाँ बेची गईं। बाद में इन परचों को गुजराती और कन्नड़ भाषा में भी छापा गया। 'लीग' की छह शाखाएँ बनाई गईं। मध्य महाराष्ट्र, बंबई नगर, कर्नाटक और मध्य प्रांत में एक-एक तथा बेरार में दो।

होम रूल आंदोलन ने जैसे की जोर पकड़ना शुरू किया, सरकार ने दमनात्मक कार्रवाइयाँ तेज कर दीं। इस आंदोलन पर वार करने के लिए सरकार ने एक विशेष दिन चुना। 23 जुलाई 1916 तिलक का 60वाँ जन्मदिन था। एक बड़े समारोह का आयोजन किया गया और तिलक को एक लाख रुपए की थैली भेंट की गई। सरकार ने भी इस अवसर पर उन्हें इनाम दिया। उन्हें एक 'कारण बताओ नोटिस' दिया गया, जिसमें लिखा था कि आपकी गतिविधियों के चलते आप पर प्रतिबंध क्यों न लगा दिया जाए। उन्हें 60 हजार रुपए का मुचलका भरने को कहा गया। तिलक के लिए शायद यह सबसे महत्त्वपूर्ण उपहार था। उन्होंने कहा, "अब होम रूल आंदोलन जंगल में आग की तरह फैलेगा। सरकारी दमन विद्रोह की आग को और भड़काएगा।"

तिलक की ओर से मुहम्मद अली जिन्ना के नेतृत्व में वकीलों की एक पूरी टीम ने मुकद्दमा लड़ा। मजिस्ट्रेट की अदालत

नोट

में तो तिलक मुकद्दमा हार गए पर नवंबर में हाईकोर्ट ने उन्हें निर्दोष करार दिया। इस जीत की सभी ओर से सराहना हुई। गाँधी के 'यंग इंडिया' अखबार ने लिखा, "यह अभिव्यक्ति की आजादी की बहुत बड़ी जीत है। होम रूल आंदोलन के लिए एक बहुत बड़ी सफलता है।" इस अवसर का तिलक ने भी फायदा उठाया और अपने सार्वजनिक भाषणों में कहने लगे कि होम रूल या स्वशासन की माँग व्यक्त करने के लिए सरकार ने अनुमति दे दी है। तिलक और उनके सहयोगियों ने प्रचार कार्य तेज कर दिया और अप्रैल 1917 तक उन्होंने 14 हजार सदस्य बना लिए।

एनी बेसेंट की 'लीग' ने भी सितंबर 1916 से काम शुरू कर दिया पर उनका संगठन बहुत ढीला था। कोई भी तीन व्यक्ति मिलकर कहीं भी शाखा खोल सकते थे, जबकि तिलक की लीग का संगठन बहुत मजबूत था, सभी छह शाखाओं के काम और कार्यक्षेत्र निर्धारित थे। एनी बेसेंट की लीग की दो सौ शाखाएँ थीं। कुछ शाखाएँ कस्बों और नगरों में थीं, बाकी गाँवों में। एक शाखा के तहत कुछेक गाँव ही आते थे। हालाँकि कार्यकारी परिषद् का चुनाव किया जाता था, लेकिन सारा काम एनी बेसेंट और उनके सहयोगी अरुंडेल, सी.पी. रामास्वामी अय्यर तथा बी.पी. वाडिया देखते थे। सदस्यों को निर्देश देने का कोई संगठित तरीका नहीं अपनाया गया। या तो व्यक्तिगत रूप से सदस्यों को निर्देश दे दिए जाते या फिर 'न्यू इंडिया' में अरुंडेल के लेखों को पढ़कर लोग जानते कि उन्हें क्या करना है। एनी बेसेंट की लीग तिलक की लीग की तुलना में सदस्य बनाने में भी पीछे रही। मार्च 1917 तक उनकी लीग के सदस्यों की संख्या केवल सात हजार थी। जवाहरलाल नेहरू (इलाहाबाद), बी. चक्रवर्ती और जे. बनर्जी (कलकत्ता) भी इसमें शामिल हो गए।

फिलहाल शाखाओं की गिनती से लीग की ताकत का अनुमान लगाना कठिन है, क्योंकि इनमें से कुछ तो काफी सक्रिय थीं और कुछ निष्क्रिय क्योंकि वे ज्यादातर 'थियोसॉफिकल सोसाइटी' की गतिविधियों तक ही सीमित थीं। बतौर उदाहरण, मद्रास नगर में शाखाओं की संख्या सबसे ज्यादा थी, लेकिन बंबई, उत्तर प्रदेश के नगरों और गुजरात के ग्रामीण इलाकों की शाखाएँ काफी सक्रिय थीं, हालाँकि उनकी संख्या कम थी।

इन सारी गतिविधियों का एकमात्र लक्ष्य था 'होम रूल' की माँग के लिए बड़े पैमाने पर आंदोलन छेड़ना। इसके लिए राजनीतिक शिक्षा देना और राजनीतिक बहस शुरू करना बहुत जरूरी था। अरुंडेल ने 'न्यू इंडिया' के माध्यम से अपने समर्थकों को राजनीतिक बहस छेड़ने राष्ट्रीय राजनीति के बारे में जानकारी देने वाले पुस्तकालयों की स्थापना, छात्रों को राजनीतिक शिक्षा देने के लिए कक्षाओं का आयोजन, परचे बाँटने, चंदा इकट्ठा करने, सामाजिक कार्य करने, राजनीतिक सभाओं के आयोजन, दोस्तों के बीच 'होम रूल' के समर्थन में तर्क देने तथा उन्हें आंदोलन में भागीदार बनाने के लिए कार्य करने को कहा। कई शाखाओं ने इन पर अमल किया। राजनीतिक बहस चलाने पर विशेष रूप से ध्यान दिया गया।

होम रूल का प्रचार कितना तेज हुआ, इसका अंदाज इसी तथ्य से लगा सकते हैं कि सितंबर 1916 तक (एनी बेसेंट की लीग की स्थापना तक) 'प्रचार फंड' से छापे जाने वाले तीन लाख परचे बाँटे जा चुके थे। यह 'प्रचार फंड' कुछ महीने पहले ही स्थापित किया गया था। इन परचों में तत्कालीन सरकार का कच्चा चिट्ठा होता था और स्वराज के समर्थन में तर्क दिए जाते थे। एनी बेसेंट की लीग की स्थापना के बाद इन परचों को फिर छापा गया। कई क्षेत्रीय भाषाओं में भी इनका प्रकाशन हुआ। साथ-साथ जनसभाओं का आयोजन ओर भाषण का क्रम भी जारी रहा। जब भी किसी मुद्दे को लेकर देशव्यापी प्रतिरोध का आह्वान किया जाता, लीग की सारी शाखाएँ इसका समर्थन करतीं। नवंबर 1916 में, जब एनी बेसेंट पर बेरार व मध्य प्रांत में जाने पर प्रतिबंध लगाया गया, तो अरुंडेल की अपील पर लीग की तमाम शाखाओं ने विरोध बैठकें आयोजित कीं और वाइसराय तथा गृह सचिव को विरोध प्रस्ताव भेजे। इसी तरह 1917 में, जब तिलक पर पंजाब और दिल्ली जाने पर प्रतिबंध लगाया गया तो पूरे देश में विरोध-बैठकें हुईं। लीग की तमाम शाखाओं ने इसका डटकर विरोध किया।

कांग्रेस की अकर्मण्यता से क्षुब्ध अनेक नरमपंथी कांग्रेसी भी 'होम रूल' आंदोलन में शामिल हो गए। गोखले की 'सर्वेंट ऑफ इंडिया सोसाइटी' के सदस्यों को लीग का सदस्य बनने की इजाजत नहीं थी, लेकिन उन्होंने जनता के बीच भाषण देकर और परचे बाँटकर 'होम रूल' आंदोलन का समर्थन किया। उत्तर प्रदेश में अनेक नरमपंथी राष्ट्रवादियों

नोट

ने लखनऊ कांग्रेस सम्मेलन (1916) की तैयारी के सिलसिले में होम रूल लीग के कार्यकर्ताओं के साथ गाँवों-कस्बों का दौरा किया। इनकी ज्यादातर बैठकें स्थानीय अदालतों के पुस्तकालयों में होतीं, जहाँ छात्र, व्यवसायी व अन्य पेशों से जुड़े हुए लोग इकट्ठा होते। और अगर बैठक किसी बाजार के दिन होती तो इसमें गाँवों से आए किसान भी शरीक होते। इन बैठकों में हिन्दुस्तान की गरीबी और बेहाली का मुद्दा उठाया जाता। अतीत की समृद्धि की याद दिलाई जाती और यूरोप के स्वतंत्रता आंदोलनों पर प्रकाश डाला जाता, उससे प्रेरणा लेने की अपील की जाती। इन बैठकों में हिंदी भाषा का इस्तेमाल किया जाता था। नरमपंथियों का होम रूल लीग को समर्थन देना, कोई अचरज की बात नहीं थी, क्योंकि लीग, नरमपंथियों के राजनीतिक प्रचार व शैक्षणिक कार्यक्रमों को ही अमली जामा पहला रही थी।

1916 में कांग्रेस का लखनऊ अधिवेशन होम रूल लीग के सदस्यों के लिए अपनी ताकत दिखाने का एक अच्छा मौका था। तिलक के समर्थकों ने तो एक परंपरा ही बना दी, जिस पर कांग्रेस बहुत साल तक टिकी रही। उनके समर्थकों ने लखनऊ पहुँचने के लिए एक ट्रेन आरक्षित की, जिसे कुछ लोगों ने 'कांग्रेस स्पेशल' का नाम दिया, तो कुछ ने 'होम रूल स्पेशल' कहा। अरुंडेल ने लीग के हर सदस्य से कहा था कि वह लखनऊ अधिवेशन का सदस्य बनने की हरसंभव कोशिश करे।

कांग्रेस-लीग समझौता

लखनऊ कांग्रेस अधिवेशन में तिलक को पुनः कांग्रेस में शामिल कर लिया गया। अध्यक्ष अंबिकाचरण मजूमदार ने कहा, "10 वर्षों के दुखद अलगाव तथा गलत-फहमी के कारण बेवजह के विवादों में भटकने के बाद भारतीय राष्ट्रीय दल के दोनों खेमों ने अब यह महसूस किया है कि अलगाव उनकी पराजय है और एकता उनकी जीत। अब भाई-भाई फिर मिल गए हैं।"

इसी अधिवेशन में महत्त्वपूर्ण 'कांग्रेस-लीग' समझौता हुआ, जो 'लखनऊ पैक्ट' के नाम से जाना जाता है। इस समझौते में एनी बेसेंट और तिलक ने महत्त्वपूर्ण भूमिकाएँ निभाईं। मनमोहन मालवीय समेत कई वरिष्ठ नेता इसके बिलकुल खिलाफ थे। उनका आरोप था कि यह समझौता मुसलिम लीग को बहुत तवज्जो देता है। तिलक ने इस आरोप पर कहा, "कुछ महानुभावों का यह आरोप है कि हम हिंदू अपने मुसलमान भाइयों को ज्यादा तवज्जो दे रहे हैं। मैं कहता हूँ कि यदि स्वशासन का अधिकार केवल मुसलिम समुदाय को दिया जाए तो मुझे कोई एतराज नहीं होगा, राजपूतों को यह अधिकार मिले, तो परवाह नहीं। यदि यह अधिकार हिंदुओं के सबसे पिछड़े वर्गों को भी दिया जाए हमें कोई एतराज नहीं। मेरा यह बयान समूची भारतीय राष्ट्रीय भावना का प्रतिनिधित्व करता है। जब भी आप किसी तीसरी पार्टी से लड़ रहे होते हैं, तो सबसे जरूरी होती है, आपसी एकता, जातीय एकता, धार्मिक एकता और विभिन्न राजनीतिक विचारधाराओं की एकता।"

तिलक को बहुत रुढ़िवादी हिंदू माना जाता था। वह भारतीय प्राच्य विद्या के प्रकांड विद्वान थे। जब उन्होंने इस तरह का बयान दिया, तो किसी और को विरोध करने की हिम्मत नहीं हुई। हालांकि मुसलमानों के लिए अलग निर्वाचन क्षेत्रों के सिद्धांत को स्वीकारना विवादास्पद था, लेकिन यह इसलिए स्वीकार किया गया कि कहीं अल्पसंख्यकों को यह न लगे कि बहुसंख्यक उन पर प्रभुत्व स्थापित करना चाहते हैं।

लखनऊ कांग्रेस अधिवेशन ने संवैधानिक सुधारों की माँग फिर उठाई। सदस्यों का मानना था कि स्वशासन के लक्ष्य की प्राप्ति में यह माँग सहायक होगी। हालाँकि इस माँग में वे सारी चीजें शामिल नहीं थीं, जैसा कि होमरूल लीग के सदस्य चाहते थे, लेकिन उन्होंने इस पर कोई विवाद नहीं खड़ा किया। वे हर हाल में कांग्रेस में एकता बनाए रखना चाहते थे। तिलक ने एक और प्रस्ताव रखा कि कांग्रेस अधिवेशन के निर्णयों तथा कार्यक्रमों को अमली रूप देने के लिए एक कार्यकारिणी का गठन किया जाए। पर नरमपंथियों के विरोध के कारण यह प्रस्ताव मंजूर न हो सका। वास्तव में तिलक चाहते थे कि कांग्रेस अकर्मण्य न रहे, थोड़ा सजीव बने और काम करें।

तिलक का प्रस्ताव तो नामंजूर हो गया, पर चार साल बाद जब 1920 में महात्मा गाँधी ने कांग्रेस संविधान को संशोधित कर उसे नया रूप दिया–एक ऐसा स्वरूप, जो किसी आंदोलन को लंबे समय तक चलाने के लिए जरूरी था–तो उन्होंने

नोट

भी तिलक के इसी प्रस्ताव को मानना जरूरी समझा।

कांग्रेस अधिवेशन की समीक्षा के तुरंत बाद उसी पंडाल में दोनों होम रूल लीगों की बैठक हुई जिसमें लगभग एक हजार प्रतिनिधियों ने भाग लिया। 'कांग्रेस लीग' समझौते की सराहना की गई और तिलक तथा एनी बेसेंट ने बैठक को संबोधित किया। लखनऊ से लौटते समय इन दोनों नेताओं ने उत्तर, मध्य और पूर्वी भारत के अनेक क्षेत्रों का दौरा किया।

सरकारी दमन

होम रूल आंदोलन के बढ़ते प्रभाव को देखकर सरकार का चिंतित होना स्वाभाविक था। मद्रास सरकार जरा ज्यादा ही कठोर हो गई। उसने छात्रों के राजनीतिक बैठकों में भाग लेने पर प्रतिबंध लगा दिया। पूरे देश में इसका विरोध हुआ। तिलक ने कहा, "सरकार को मालूम है कि देश-प्रेम की भावना छात्रों को ज्यादा उत्तेजित करती है। वैसे भी कोई भी देश युवा वर्ग की ताकत से ही उन्नति कर सकता है।"

मद्रास सरकार ने जून 1917 में एनी बेसेंट, जॉर्ज अरुंडेल तथा वी.पी. वाडिया को गिरफ्तार कर लिया। इसके खिलाफ देशव्यापी प्रदर्शन हुए। सर एस. सुब्रह्मण्यम अय्यर ने सरकारी उपाधि (नाइटहुड) अस्वीकार कर दी। मदनमोहन मालवीय , सुरेन्द्रनाथ बनर्जी और मुहम्मद अली जिन्ना जैसे तमाम नरमपंथी नेता, जो अब तक लीग में शामिल नहीं थे, इसमें शामिल हो गए और उन्होंने बेसेंट व अन्य नेताओं की गिरफ्तारी के खिलाफ आवाज उठाई। 28 जुलाई, 1917 को कांग्रेस की एक बैठक में तिलक ने कहा कि यदि सरकार इन लोगों को तुरंत रिहा नहीं करती है, तो शांतिपूर्ण असहयोग आंदोलन चलाया जाए। इस प्रस्ताव को सभी प्रांतीय कांग्रेस समितियों के पास मंजूरी के लिए भेजा गया। बेरार और मद्रास की कांग्रेस समितियाँ तो इस पर तुरंत कार्रवाई के पक्ष में थीं, लेकिन बाकी समितियाँ कोई निर्णय करने से पहले थोड़ा इंतजार करने के पक्ष में थीं। गाँधीजी के कहने पर शंकरलाल बैंकर और जमनादास, द्वारकादास ने ऐसे एक हजार लोगों के दस्तखत इकट्ठे किए जो सरकारी आदेशों की अवहेलना करके, जुलूस की शक्ल में जाकर एनी बेसेंट से मिलना चाहते थे। इन लोगों ने 'स्वराज' के समर्थन में किसानों और मजदूरों से हस्ताक्षर कराना शुरू किया। गुजरात के कस्बों और गाँवों का दौरा किया और वहाँ लीग की शाखाएँ स्थापित करने में मदद की। होम रूल लीग के सदस्यों की संख्या में अप्रत्याशित वृद्धि हुई।

इस प्रकार सरकारी दमन ने आंदोलन को और बढ़ावा दिया, आंदोलनकारियों को और जुझारू बनाया। मांटाग्यू ने अपनी डायरी में लिखा है, "शिव ने अपनी पत्नी को 52 टुकड़ों में काटा, भारत सरकार ने जब एनी बेसेंट को गिरफ्तार किया, तो उसके साथ ठीक ऐसा ही हुआ।"

इन घटनाओं के बाद इंग्लैंड की सरकार ने अपनी नीतियाँ बदलीं। अब उसका रुख समझौतावादी हो गया। नए गृह सचिव मांटाग्यू ने हाउस ऑफ कामंस में ऐतिहासिक घोषणा की, "ब्रिटिश शासन की नीति है कि भारत के प्रशासन में भारतीय जनता को भागीदार बनाया जाए और स्वशासन के लिए विभिन्न संस्थानों का क्रमिक विकास किया जाए जिससे भारत में ब्रिटिश साम्राज्य से जुड़ी कोई उत्तरदायी सरकार स्थापित की जा सके।" यह बयान मॉरले के बयान से एकदम विपरीत था। 1909 में संवैधानिक सुधारों को पार्लियामेंट में रखते समय मॉरले ने साफ-साफ कहा था कि इन सुधारों का उद्देश्य देश में 'स्वराज' की स्थापना कतई नहीं है। मांटाग्यू की घोषणा का सबसे बड़ा फायदा यह हुआ कि अब होम रूल या स्वराज की माँग को देशद्रोही नहीं कहा जा सकता था। लेकिन इसका अर्थ यह भी नहीं था कि ब्रिटिश हुकूमत स्वराज की माँग मानने ही जा रही थी। मांटाग्यू की घोषणा में यह बात भी थी कि स्वशासन की स्थापना तभी होगी, जब उसका उचित समय आएगा और समय आया है या नहीं इसका फैसला अँग्रेजी हुकूमत करेगी। अँग्रेजी हुकूमत के लिए इतनी छूट काफी थी। इससे साफ जाहिर था कि वह भारतीयों के हाथ में निकट भविष्य में सत्ता सौंपने नहीं जा रही है।

सितंबर 1917 में एनी बेसेंट को रिहा कर दिया गया इस समय एनी बेसेंट की लोकप्रियता चरम सीमा पर थी। दिसंबर 1917 में कांग्रेस के वार्षिक अधिवेशन में तिलक के प्रस्ताव पर उन्हें अध्यक्ष चुन लिया गया।

नोट

लेकिन 1918 में अनेक कारणों से होम रूल आंदोलन कमजोर पड़ गया, 1917 में भारी सफलता मिलने के बावजूद यह आंदोलन मृतप्राय हो गया। एनी बेसेंट की गिरफ्तारी से उत्तेजित होकर जो नरमपंथी इस आंदोलन में शामिल हुए थे, उनकी रिहाई के बाद निष्क्रिय हो गए। सरकार ने सुधारों का आश्वासन दिया था। इन नेताओं को लगा कि अब आंदोलन की जरूरत नहीं है। इसके अलावा कानून निषेध आंदोलन चलाने की चर्चा से भी वे नाराज थे। इसीलिए इन्होंने सितंबर 1918 के बाद से कांग्रेस की बैठकों में भाग लेना छोड़ दिया। 1918 में सुधार-योजनाओं की घोषणा से राष्ट्रवादी खेमे में एक और दरार पड़ गई। कुछ लोग इसे ज्यों-का-त्यों स्वीकार करने के पक्ष में थे तो कुछ लोग इसे पूरी तरह नामंजूर करना चाहते थे। कुछ लोगों का मानना था कि इसमें कई कमियाँ तो हैं पर इसे आजमाना चाहिए। इन सुधारों और शांतिपूर्ण असहयोग आंदोलन के मुद्दों पर खुद एनी बेसेंट दुविधा में थीं। कभी तो वह इसे गलत कहतीं और कभी अपने समर्थकों के दबाव के कारण ठीक कहतीं। शुरू में तिलक के साथ एनी बेसेंट ने भी कहा कि इन सुधार-योजनाओं को भारतीय जनता मंजूर न करे, यह उसका अपमान है, पर बाद में उन्होंने इसे मान लेने की अपील की। तिलक काफी समय तक अपने निर्णय पर अडिग रहे, लेकिन एनी बेसेंट की ढुलमुल नीतियों और नरमपंथियों के रुख में बदलाव के कारण वह अकेले अपने बूते पर इन सुधारों का विरोध करते हुए आंदोलन की गाड़ी को आगे खींचने में असमर्थ हो गए और साल के अंत में इंग्लैंड चले गए। वहाँ उन्होंने 'इंडियन अनरेस्ट' के लेखक चिराल पर मानहानि का मुकद्दमा दायर कर रखा था। इसी मुकद्दमे की पैरवी के चक्कर में वह कई महीने तक इंग्लैंड में पड़े रहे। एनी बेसेंट एक सशक्त नेतृत्व देने में असमर्थ थीं और तिलक विदेश में थे। नतीजतन 'होम रूल आंदोलन' नेतृत्वविहीन हो गया।

होम रूल आंदोलन की सबसे बड़ी उपलब्धि यह रही कि इसने भावी राष्ट्रीय आंदोलन के लिए जुझारू योद्धा तैयार किए। महात्मा गाँधी के नेतृत्व में यही जुझारू आंदोलनकारी आजादी की मशाल लेकर आगे बढ़े। होम रूल आंदोलन ने उत्तर प्रदेश, गुजरात, सिंध, मद्रास, मध्य प्रांत तथा बेरार जैसे अनेक नए क्षेत्रों को राष्ट्रीय आंदोलन में शामिल किया।

1919 में प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति के साथ हिन्दुस्तान में आजादी की लड़ाई लड़ने के लिए एक नयी पीढ़ी तैयार हो गई थी। इन्हें होम रूल आंदोलनकारियों ने ही तैयार किया था पर वे इनकी रहनुमाई न कर सके। इस पीढ़ी को तलाश थी किसी रहनुमा की। मोहनदास करमचंद गाँधी ने जब आजादी की लड़ाई की बागडोर सँभाली तो इन नौजवानों को एक ऐसा नेता मिला, जो दक्षिण अफ्रीका में भारतीयों के संघर्ष का नेतृत्व कर चुका था और चंपारण (बिहार), अहमदाबाद और खेड़ा में किसानों और मजदूरों के हितों के लिए संघर्ष कर चुका था। 1919 में जब गाँधीजी ने 'रौलट ऐक्ट' के खिलाफ सत्याग्रह की अपील की, तो वे सभी लोग इसमें शामिल हो गए, जिन्हें होम रूल आंदोलन ने राजनीतिक रूप से जागरूक बनाया था।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

2. रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks)–

1. बाल गंगाधर तिलक ..... की लंबी सजा के बाद 16 जून, 1914 को मांडले जेल से लौटे थे।
2. 1915 में एनी बेसेंट ने दो अखबारों "न्यू इंडिया (छमू प्दकपं) और ..... के माध्यम से आंदोलन को आगे बढ़ाया
3. तिलक ने अप्रैल 1916 में ..... में हुए प्रांतीय सम्मेलन में होम रूल लीग के गठन की घोषणा की।
4. 23 जुलाई 1916 को तिलक का ..... जन्मदिन था।
5. एनी बेसेंट की लीग ने ..... से काम करना शुरू कर दिया।

9.3 नरमपंथी एवं गरमपंथी (Moderats and Extremists)

उदारवादी राजनीति अथवा राजनीतिक भिक्षावृत्ति का युग (Period of Moderate Politics or Tea Party Politics of Political Mendicancy)–इस युग में दादा भाई नौरोजी, फीरोजशाह मेहता, दनिशा वाचा, वोमेश और सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी जैसे नेता कांग्रेस की राजनीति पर छाए हुए थे और वे लोग 'उदारवादी तथा परिमित राजनीति' (moderate

नोट

politics) में विश्वास करते थे और उन्हें उदारवादी (moderates) की संज्ञा दी गई ताकि उन्हें आरम्भिक बीसवीं शताब्दी के नवीन राष्ट्रवादियों से (जिन्हें उग्रवादी अथवा extremists कहते थे) पृथक किया जा सके। ये लोग अपनी राजनीति की व्याख्या 'उदारवाद और संयम' (Liberalism and moderation) के समन्वय से करते थे। ये लोग भारतीयों के लिए धर्म और जाति के पक्षपात का अभाव, मानव में समानता, कानून के सामने बराबरी, नागरिक स्वतन्त्रताओं का प्रसार और प्रतिनिधि संस्थाओं के विकास की इच्छा करते थे। उनके ढंगों के विषय में महादेव गोविन्द रानाडे ने लिखा था, "संयम का अर्थ यह है कि उस वस्तु की अथवा उन आदेशों की झूठी आशा ही मत करो जो मिलनी असम्भव हैं, अपितु समीपतम वस्तु की ओर समझौते और न्यायसंगत भावना से प्रेरित होकर दिन-प्रतिदिन आगे बढ़ते जाओ।" इस प्रकार उदारवादी दल क्रमिक (gradualism) और संवैधानिक नीतियों (constitutionalism) में विश्वास करता था।

इस काल में कांग्रेस पर समृद्धिशाली, मध्यवर्गीय बुद्धिजीवियों का जिनमें वकील, डाक्टर, इंजीनियर, पत्रकार और साहित्यिक व्यक्ति सम्मिलित थे, इन मध्यम वर्गीय लोगों के ढंग ही, जो प्रायः संवैधानिक ही होते हैं, इस युग के राष्ट्रीय संघर्ष के मुख्य ढंग थे। उपाधियां और बड़े-बड़े पद इन लोगों के लिए विशेष आकर्षण रखते थे। कांग्रेस में आने वाले प्रतिनिधि बड़े-बड़े नगरों से आते थे और इनका जन-साधारण से कोई सम्पर्क नहीं था। एक बार फीरोजशाह मेहता ने स्वयं कहा था, "कांग्रेस की आवाज नहीं है। परन्तु यह उनके साथ रहने वाले अन्य देशवासियों का कर्त्तव्य है कि वे इनकी भावनाओं को समझें और उन्हें व्यक्त करें और उनके उपचार का प्रयत्न करें।"

ह्यूम ने कांग्रेस लार्ड डफ्रिन (1884-88) से परामर्श करके ही आरम्भ की थी। कांग्रेस के नेता अंग्रेजी इतिहास और संस्कृति से बहुत प्रभावित थे और अंग्रेजी सम्पर्क को 'ईश्वर की अनन्य कृपा' मानते थे। उन्हें पूर्ण विश्वास था कि अंग्रेजी शासन भारत के हित में है, अतएव वे लोग अंग्रेजी सरकार को शत्रु नहीं अपना मित्र समझते थे। वे आशा करते थे कि कालान्तर में अंग्रेज उन्हें अपनी परम्पराओं के अनुसार स्वशासन करने के योग्य बना देंगे। 1886 में दादा भाई नौरोजी ने कांग्रेस के अध्यक्ष पद से भाषण देते हुए अंग्रेजी राज्य के लाभों का सविस्तार वर्णन किया और प्रतिनिधियों ने जोर-जोर से तालियां बजाकर उसका अनुमोदन किया। ह्यूम साहिब के कहने पर सम्मेलन ने महारानी विक्टोरिया के लिए तीन बार जयध्वनि की और उनकी दीर्घायु के लिए प्रार्थना की। आनन्दबोस ने कांग्रेस अध्यक्ष के रूप में (1898) यह घोषण की, कि "शिक्षित वर्ग इंग्लैण्ड का शत्रु नहीं अपितु उसके सम्मुख बड़े कार्य में उसका प्राकृतिक और आवश्यक सहयोगी है।" अतएव यह समझा जाता था कि भारत की उन्नति में बाधा अंग्रेजी उपनिवेशवादी नीति नहीं अपितु भारतीयों का सामाजिक और आर्थिक पिछड़ापन था अथवा प्रतिक्रियावादी एंग्लो-इण्डियन नौकरशाही ही था।

ये उदारवादी दल अंग्रेजी साम्राज्य के बने रहने, अपितु उसको सुदृढ़ करने के पक्ष में थे। उन्हें डर था कि अंग्रेज के जाने पर अव्यवस्था फैल जाएगी। अंग्रेजी राज्य शान्ति और व्यवस्था का द्योतक था और भारत में बहुत लम्बे समय तक इसका बना रहना परमावश्यक है। इसी भावना को व्यक्त करते हुए गोखले ने कहा था, "अंग्रेज नौकरशाही कितनी ही बुरी क्यों न हो .... परन्तु आज केवल अंग्रेज ही व्यवस्था बनाए रखने में सफल हैं और व्यवस्था के बिना कोई उन्नति सम्भव ही नहीं।" इस उदारवादी दल के लोग वास्तव में विश्वास करते थे कि उन्नति केवल अंग्रेजी देखरेख में ही सम्भव है इसीलिए ये लोग क्राउन के प्रति राजभक्त थे। एक बार कांग्रेस अध्यक्ष बदरुद्दीन तैयबजी ने कहा "महारानी की करोड़ों प्रजा में से कोई अन्य लोग इतने राजभक्त नहीं जितने भारतीय शिक्षित लोग।" अतएव ये लोग अंग्रेजी साम्राज्य को शक्तिहीन बनाने को उद्यत नहीं थे, क्राउन के प्रति राजभक्ति उनका राजनीतिक धर्म था।

समकालीन कांग्रेसी विश्वास करते थे कि अंग्रेज न्यायप्रिय लोग हैं और वे भारत से न्याय ही करेंगे। भारतीयों की शिकायतें अंग्रेज नौकरशाही के कारण अथवा अंग्रेजों को हमारी शिकायतों की पूरी जानकारी न होने के कारण से हैं। अतएव इन लोगों ने इंग्लैण्ड में प्रचार की ओर विशेष ध्यान दिया। उन्होंने अपना पक्ष तैयार किया और उसे अंग्रेज जनता के सम्मुख रखने का प्रयत्न किया। इण्डियन नेशनल कांग्रेस की एक ब्रिटिश समिति लन्दन में बनाई गई और उसने भारतीय मामलों से अंग्रेजों को अवगत कराने के उद्देश्य से 'इण्डिया' नामक एक साप्ताहिक पत्रिका निकाली।

नोट

दादा भाई नारोजी बार-बार यही कहते थे कि अंग्रेज वास्तव में भारत का भला चाहते हैं और यदि हम कुछ ऊंची आवाज से अपनी बात कहें तो यह निष्फल नहीं जाएगी। अतएव यह भी निर्णय किया गया कि इण्डियन नेशनल कांग्रेस का अधिवेशन 1892 में लन्दन में किया जाएं परन्तु 1891 में अंग्रेजी चुनाव होने निश्चित हुए अतएव मामला स्थगित कर दिया गया और फिर कभी नहीं उठाया गया।

इस काल में कांग्रेस ने देश की स्वतन्त्रता की मांग नही की, केवल भारतीयों के लिए कुछ रियासतें ही मांगी। यह सत्य है कि उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम दशक में लोकमान्य तिलक ने स्वराज्य शब्द का प्रयोग किया। परन्तु न तो यह शब्द ही लोकप्रिय हुआ और न ही इसका कांग्रेस के अधिकृत प्रस्तावों में उल्लेख था। सुरेन्द्र नाथ बैनर्जी ने भी कांग्रेस के 1895 के पूना अधिवेशन के अध्यक्ष पद से यही कहा था कि हम प्रतिनिधि संस्थाए (representative institutions) नहीं मांगते केवल यह कि "पढ़े-लिखे लोगों को-जो अपनी शिक्षा-दीक्षा के कारण इनको समझते और अनुसरण करने की क्षमता रखते हैं—ये कुछ परिवर्तित रूप में वरदान के रूप में दे दी जायें।" कांग्रेस की मांगें, विधान परिषदों का विस्तार, उनकी अधिक शक्तियां भारतीयों के लिए अधिक प्रतिनिधित्व वाइसराय तथा गवर्नरों की कार्यकारिणी में भारतीयों को प्रतिनिधित्व, जानपद सेवा (civil service) में अधिक भर्ती इसके लिए भारत और इंग्लैंड में साथ-साथ परीक्षाएं इत्यादि-इत्यादि तक ही सीमित थीं। ये मांगें हीन से हीन शब्दों में याचना के रूप में प्रस्तुत की जाती थीं और कांग्रेस केवल संबैधानिक ढंगों का ही प्रयोग करती थी।

कांग्रेस के प्रति अधिकारी-वर्ग का रुख (Official Attitude TowarosQ the Congress)—कांग्रेस के इस नरम रुख तटस्थता का था। इसी भावना से प्रेरित होकर डफ्रिन ने इण्डियन नेशनल कांग्रेस कलकत्ता अधिवेशन (1886) के प्रतिनिधियों को एक उद्यानभोज (garden party) दिया था जिसमें स्पष्ट किया गया था कि यह निमनत्रण कांग्रेस के प्रतिनियधियों को नहीं अपितु कलकत्ता आए हुए विशिष्ट दर्शकों को है। 1887 में मद्रास के गवर्नर ने कांग्रेस के तीसरे अधिवेशन के लिए मद्रास में सुविधाएं प्रदान कीं परन्तु 1887 के पश्चात् सरकार का रुख कठोर होता चला गया। कांग्रेस ने एक पुस्तिका (pamphlet) प्रकाशित की जिसका शीर्षक था 'एक तमिल कांग्रेस प्रश्नोत्तर रूपी शिक्षा, (A Tamil cogress catechism) इसमें दो व्यक्तियों के बीच प्रश्नोत्तर के रूप में तानशाही राजपद्धति और अन्यत्रवासी भूमिपतियों (absentee landlordism) की आलोचना करने पर कांग्रेस का सरकार से खुला विरोध हो गया। अधिकारी वर्ग ने सर सैयद अहमद खां और बनारस के राजा शिवप्रसाद को प्रेरणा दी कि वे कांग्रेस के प्रचार का प्रतिरोध करने के लिए एक संगठित भारतीय देशभक्त मण्डल (United Indian Patriotic Association) का गठन करें। डाफ्रिन ने कांग्रेस के राष्ट्रीय चरित्र को चुनौती दी और कहा यह तो केवल एक "सुक्ष्मदर्शी अल्प संख्या" का प्रतिनिधित्व करती है और कांग्रेस की मांगों को अज्ञात में छलांग (jump into the unknown) की संज्ञा दी। 1890 में सरकारी सेवकों को कांग्रेस में सम्मिलित होने की आज्ञा नहीं रही। लार्ड कर्जन ने तो यहां तक कह दिया था कि "कांग्रेस अपने पतन की ओर लड़खड़ाती हुई जा रही है" और कर्ज़न की महत्वाकांक्षाओं मे एक यह थी कि "वह उसकी शान्तिमय मृत्यु में सहायता कर सके।"

उदारवादी दल की नीतियों का मूल्यांकन—बीसवीं शताब्दी के आरम्भिक वर्षों में उग्रवादियों ने इस काल की उपलब्धियों की निन्दा की। इसको राजनीतिक भिक्षावृत्ति (political mendicancy) का नाम दिया। लाला लाजपतराय ने इसको अवसरवादी आन्दोलन कहा। "अधिक-से-अधिक इससे पाखण्ड और देशद्रोह को बढ़ावा मिला है। कुछ लोगों को देशभक्ति के नाम पर व्यापार करने का अवसर मिला।"

इन उदारवादी दल वालों के विरुद्ध सबसे बड़ा दोषारोपण 'क्राउन के प्रति राजभक्ति' था। यों तो उदारवादी लोग विश्वास करते थे कि भारत में राष्ट्रीयता के कुछ आवश्यक तत्व विद्यमान नहीं हैं अतएव वे निकट भविष्य में अंग्रेजी राज्य का कोई विकल्प नहीं सोच सकते थे। वे राष्ट्रीय हितों को हानि। 1887 में विपिनचन्द्र पाल ने कहा था, "मैं अंग्रेजों का राजभक्त हूं क्योंकि मेरे लिए अंग्रेजी साम्राज्य के प्रति राजभक्ति वास्तव में अपने देश और उसके वासियों के पति राजभक्ति दोनों अभिन्न हैं। मैं अंग्रेज के प्रति राजभक्त हूं क्योंकि मैं स्वशासन को प्यार करता हूं।

यदि हम दादा भाई नौरोजी, सर फीरोजशाह मेहता, सर दीनशा वाचा, गोपाल कृष्ण गोखले, सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी जैसे

नोट

लोगों से न्याय करें तो हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि ये लोग समकालीन भारतीय समाज के सबसे अधिक प्रगतिवादी तत्व थे और सच्चे देशभक्त थे। वे भारतीय समाज को सुधारने का भरसक प्रयत्न करते रहे। इन लोगों ने 1886 में एक लोक सेवा आयोग (Public Sevice Commisssion) नियुक्त करवाया और 1892 में भारतीय परिषदों का अधि नियम (Indian Councils Act) पारित करवाया। दोनों से ही लोगों में निराशा हुई तथा मूलभूत संविधान में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। उन्होंने जानपद सेवा (I.C.S.) के लिए इंग्लैंड तथा भारत में एक ही समय में परीक्षा करने की मांग की। सरकार ने उनके अनुरोध पर भारतीय व्यय की समीक्षा के लिए वैलबाई आयोग (Welby Commission) भी नियुक्त किया। इन लोगों ने कठिन परिश्रम किया। उनके कार्य करने के ढंगों–प्रार्थना, याचना और विरोध (prayer, fietition and protest) प्रकट करना–सभी से राजनीतिक प्रौढ़ता आई तथा भारत में राष्ट्र-भावना बढ़ी।

सम्भवत: उदारवादी दल की सबसे महान सेवा उस समय हुई जब इन लोगों ने अंग्रेजी साम्राज्य के भारत पर आर्थिक प्रभाव का मूल्यांकन किया उन्होंने भारतीय निर्धनता (Indian poverty) की ओर ध्यान आकर्षित किया और यह बतलाया कि यह निर्धनता अंग्रेजी औपनिवेशिक शोषण के कारण ही है। दादा भाई नौरोजी, दत्त तथा वावा द्वारा प्रतिपादित "निकास का सिद्धान्त" (drain theory) अंग्रेजों की भारत में आर्थिक भूमिका पर दोषरोपण था। इस सिद्धान्त का कलान्तर में उग्रवादी दल वालों ने अंग्रजों को बदनाम करने के लिए प्रचुर प्रयोग किया।

गरमपंथी (Extremist)

उन्नीसवीं शताबदी के अन्तिम अथवा बीसवीं शताब्दी के आरम्भिक वर्षों में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में एक नए और तरुण दल का उदय हुआ, जो पुराने नेताओं के आदर्श तथा ढंगों का कड़ा आलोचक था। ये 'क्रुद्ध तरुण लोग' (angry youngmen) चाहते थे कि कांग्रेस का ध्येय स्वराज्य होना चाहिए जिसे वे आत्मविश्वास और आत्म-निर्भरता से प्राप्त करें। इस दल को पुराने उदारवादी की तुलना में उग्रवादी कहते थे।

कांग्रेस में फूट की प्रक्रिया उस समय आरम्भ हुई जब लोकमान्य तिलक का समाज सुधार के प्रश्न पर उग्रवादी दल अथवा 'सुधारकों' से झगड़ा हुआ। जुलाई 1895 में तिलक और उसके सहयोगियों ने पूना सार्वजनिक सभा में रानाडे और गोखले के अधिकार को चुनौती देकर उसे समाप्त कर दिया और गोखले ने एक और पृथक राजनीतिक संगठन 'दक्कन सभा' (The Deccan Sabha) स्थापित कर ली। तिलक ने गोखले के राष्ट्रीय राजनीति में 'क्षमा याचना' के प्रश्न पर 'एक कच्चा नरकट' कहकर बदनाम किया।

वास्तव में तिलक समकालीन कांग्रेसी नेताओं से भिन्न मिट्टी के बने थे। वह सरकार की आलोचना में बहुत स्पष्ट वक्ता थे और अपने विश्वासों के लिए बलिदान करने को उद्दत थे। वह पहले कांग्रेसी नेता थे जिन्होंने देश के लिए कई बार जेल यात्रा की। 1882 में उन्होंने सरकार के कोल्हापुर के महाराजा से बर्ताव पर बहुत कड़ी भाषा का प्रयोग किया और चार मास का कारावास भोगा। 1897 में पुन: उन्हें सरकार के विरुद्ध असंतोष फैलाने के लिए 18 मास का कड़ा कारावास दिया गया। दिसम्बर 1897 में अमरावती में हुए कांग्रेस अधिवेशन में तिलक के सहयोगियों ने एक प्रस्ताव पारित करवाने का प्रयत्न किया, जिसमें तिलक की मुक्ति की मांग की थी। उदारवादी दल के लोगों ने इसकी अनुमति नहीं दी। इसी प्रकार मद्रास अधिवेशल (दिसम्बर 1898) में तिलक की श्लाघा करने का प्रस्ताव भी उदारवादी दल वालों ने पारित नहीं होने दिया। अगले वर्ष लखनऊ अधिवेशन में जब तिलक ने बम्बई के गवर्नर की निन्दा करने का प्रस्ताव रखा तो वह भी उदारवादी दल वालों ने पारित नहीं होने दिया। अब यह स्पष्ट था कि उदारवादी दल वाले लोग तिलक और उसके सहयोगियों को कांग्रेस में सभी महत्वपूर्ण पदों से दूर रखना चाहते थे तथा कांग्रेस के इतिहास में यही एक ऐसे नेता थे जिनको कांग्रेस का अध्यक्ष बनने का अवसर नहीं दिया गया।

गरमपंथ के उदय के कारण (Causes of the Rise of Extremism)

बंकिमचन्द्र चैटर्जी जैसे लोगों ने कांग्रेस की नीतियों का विरोध किया था और कहा था कि "कांग्रेस के लोग पदों के भूखे राजनीतिज्ञ" हैं। अरविनद घोष ने भी 1993-94 में एक लेखों की शृंखला में यह कहा था कि कांग्रेस श्रमिक वर्ग (proletariate) से दूर है, अराष्ट्रवादी से दूर है, अराष्ट्रवादी है और यह पूर्णतया असफल रही है और इसकी शासकों

नोट

को अप्रसन्न करने के भय से स्पष्ट न कहने की नीति को 'कायरता' की संज्ञा दी। उसके अनुसार कांग्रेस क्षयरोग से मरने ही वाली है।

जिन तत्त्वों के कारण उग्रवाद का उदय हुआ, उनमें प्रमुख निम्नलिखित हैं–

1. अंग्रेजी राज्य की प्रकृति को ठीक-ठीक समझना–आरम्भिक काल के नेताओं ने अपने अनथक अध्ययन तथा लेखों द्वारा लोगों को भारत में अंग्रेजी राज्य के सच्चे स्वरूप को समझाने का प्रयत्न किया। उन्होंने आंकड़ों से यह सिद्ध किया कि अंग्रेजी राज्य तथा उसकी नीतियां ही भारत की दरिद्रता का मूल कारण हैं। दादा भाई नौरोजी ने अंग्रेजी राज्य की शोषक नीतियों का अनावरण कर दिया और कहा कि वह राज्य भारत को दिन प्रतिदिन लूटने में रते है। इसी प्रकार आनन्द चारलू, आर. एन. मुधोल्कर, दिनशा वाचा, गोपाल कृष्ण गोखले, मदनमोहन मालवीय इत्यादि अन्य राष्ट्रीय नेताओं ने अंग्रेजी राज्य के ढोल की पोल खोल दी और बताया कि इस राज्य का वास्तविक रूप केवल शोषक ही है। श्री रमेशच्नद्र दत्त और जी. बी. जोशी ने अंग्रेजी भूमि कर व्यवस्था का ठीक-ठीक मूल्यांकन किया। श्री सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी ने यह स्पष्ट किया कि सेवाओं की भर्ती में अंग्रेजों की कथनी और करनी में बहुत अधिक अन्तर है। कांग्रेस के दूसरे अधिवेशन में ही भारत की बढ़ती हुइ दरिद्रता की ओर ध्यान आकर्षित किया गया और यह प्रस्ताव प्रत्येक वर्ष पारित किया जाता था। इसके लिए उन्होंने सैनिक और असैनिक पदों पर ऊंचे-ऊंचे वेतन (जो समकालीन संसार में सबसे अधिक थे) गृहशासन के बढ़ते हुए व्यय भेद-भाव पूर्ण आयात तथा निर्यात की नीति, अदूरदर्शी भूमि कर नीति, भारत के औद्योगीकरण के प्रति उदासीनता और भारतीयों को अच्छे पदों और सेवाओं से वंचित रखना इत्यादि तथ्यों को उत्तरदायी ठहराया। रानाडे की *Essays in Indian Economics,* दादा भाई नोरौजी की *Indian Poverty and Un-British Rule in India* (1901) और आर.सी. दत्त की *Economic History of India* (1901) इत्यादि पुस्तकों ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। नई पीढ़ी के नेताओं ने इन्हीं पुस्तकों से तथ्य लेकर अंग्रेजी राज्य की आलोचना की।

2. बढ़ते हुए पश्चिमीकरण के विरुद्ध प्रतिक्रिया–इस नवीन नेता पीढ़ी ने बढ़ते हुए पश्चिमीकरण पर गहरी चिन्ता व्यक्त की। भारतीय जीवन, चिन्तन और राजनीति में पश्चिम का प्रभाव बढ़ रहा था। भारतीय संस्कृति का प्रभाव कम हो रहा था। इन लोगों का बौद्धिक और भावात्मक प्रेरणा का स्रोत भारत था और उन्होंने भारतीय इतिहास के वीरों की गाथाओं से प्रेरणा ली। बंकिमचन्द्र, विवेकानन्द और स्वामी दयानन्द के लेखों ने उनको प्रभावित किया था। बंकिमचन्द्र ने 1886 में लिखे कृष्ण चरित्र भाग प्रथम में भारत के उस जैसे परम पुरुष के नेतृत्व में भारत की एकता के स्वरूपन देखे। उन्होंने श्रीकृष्ण को एक वीर योद्धा, एक चतुर नीतिज्ञ, और सफल साम्राज्य-निर्माता के रूप में देखा। विवेकानन्द ने भारतीय वेदान्त से संसार को चकाचौंध कर दिया और अपनी प्राचीन परम्पराओं तथा विरासत में एक नई आस्था उत्पन्न की तथा एक नया आत्मविश्वास जगाया। स्वामी दयानन्द ने पश्चिमी विशिष्टता की पोल खोल दी। उन्होंने वैदिक संस्कृति का वह रूप दर्शाया जो उस समय तक प्राय: अनदेखा किया जाता था। उन्होंने बताया कि जिस समय यूरोपवासी असभ्यता तथा अज्ञान के गढ़े में गिरे थे, वैदिक काल में भारत में एक उच्च सभ्यता, संस्कृति दर्शन तथा धर्म का विकास हो रहा था और इस प्रकार उन्होंने एक नए आत्म-विश्वास को जगाया और श्वेत जातियों कीकाली अथवा ब्राउन जातियों से वरिष्ठता की भावना को चुनौती दी उसका राजनीतिक सन्देश "भारत भारतीयों के लिए है"।

3. कांग्रेस की उपलब्धियों से असन्तोष–कांग्रेस के पहले पंद्रह-बीस वर्ष की उपलब्धियों से तरुण लोग सन्तुष्ट नहीं थे। उनका अंग्रेजों की न्यायप्रियता तथा बराबरी की भावना पर कोई विश्वास नहीं रह गया था। वे लोग शान्तिमय और संवैधानिक ढंगों के आलोचक बन गए थे और वे यह समझते थे कि याचना, प्रार्थना तथा प्रतिवाद (Patition, Prayer and Protest) करने की नीति से कुछ नहीं मिलने वाला। उन्होंने यूरोपीय साम्राज्यवाद को समाप्त करने के लिए यूरोपीय ढंग ही अपनाने पर बल दिया।

1905 में लाल लाजपतराय ने इंग्लैंड से लौटने पर अपने देशवासियों को यह बतलाया कि अंग्रेजी प्रजातन्त्र अपनी ही समस्याओं में इतना उलझा हुआ है कि उनके पास हमारी समस्याओं के लिए कोई समय नहीं। वहां के समाचार पत्र हमारा पक्ष प्रस्तुत नहीं करेंगे और वहां किसी को अपनी बात सुनाने का अवसर प्राप्त करना बहुत कठिन है। उन्होंने

नोट

कहा कि यदि आप स्वतन्त्रता चाहते हैं तो स्वयं कार्य करना पड़ेगा और अपनी तत्परता के स्पष्ट प्रमाण देने होंगे।[1] कांग्रेस का तरुण दल जिसे राष्ट्रवादी उग्रवादी भी कहते थे, पुरानी पीढ़ी से पूर्णतया अप्रसन्न था। उसके अनुसार कांग्रेस का राजनीतिक धर्म, केवल क्राउन के प्रति राजभक्ति प्रकट करना; उद्देश्य केवल अपने लिए प्रानतीय अथवा केनेद्रीय विधान परिषदों में सदसयता प्राप्त करना और कार्यक्रम केवल अत्यधिक भाषण देना और प्रत्येक वर्ष के दिसम्बर मास में कांग्रेस के अधिवेशन में उपस्थित होना था। उन पर यह दोष लगाया गया कि वे केवल मध्यम वर्गीय बुद्धिजीवियों के लिए काम करते हैं और कांग्रेस की सदस्यता इन मध्यम वर्गीय लोगों तक ही सीमित है। उन्हें भय है कि यदि जन साधारण इस आन्दोलन में आ गए तो उनका नेतृत्व समाप्त हो जाएगा। अत: उदारवादी दल वालों को देशभक्ति के नाम पर व्यापार करने का दोषी ठहराया गया। तिलक ने कांग्रेस को चापलूसों का सम्मेलन (Congress of flatterers)[2] और कांग्रेस के अधिवेशनों को छुटिटयों का मनोंरजन (a holiday recreation) बतलाया और लाल लाजपतराय ने कांग्रेस सम्मेलनों को "शिक्षित भारतीय का वार्षिक राष्ट्रीय मेला"[3] (The annual national festival of educated Indians)। दोनों ही कांग्रेस कार्यों के कड़े आलोचक थे। तिलक ने तो यहां तक कहा था, "यदि हम वर्ष मं एक बार मेंढक की भांति टर्राएं तो हमें कुछ नहीं मिलेगा।"

4. भारत की बिगड़ती हुई आर्थिक स्थिति–उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में भारत की बिगड़ती हुई आर्थिक स्थिति ने भारतीय राष्ट्रीय प्रक्रिया में उग्रवाद के उदय में विशेष योगदान किया। 1896-97 और 1899-1900 के भीषण अकाल और महाराष्ट्र की प्लेग से लाखों लोग मृत्यु ग्रस्त हो गए। सरकारी सहायता कार्य बहुत थोड़ा था तथा बहुत धीरे-धीरे होता था और व्यवस्था भी ठीक नहीं थी। तिलक के अनुसार सरकारी अधिकारी कठोर और भ्रष्ट थे और सहायक के स्थान पर अधिक हानिकारक थे। उन्होंने तो यहां तक कहा, "प्लेग हमारे लिए सरकारी प्रयत्नों से कम निर्दयी है।"[4] दक्कन में दंगे हो गये। सरकार ने लोक मत तथा दंगों को दबाने का प्रयत्न किया। जनता ने अकालों को भी सरकार की नीतियों का परिणाम ही बताया। 1983 की कांग्रेस के अध्यक्षीय भाषण में लाल मोहन घोष ने 1902 के दरबार का उल्लेख यों किया, "एक सरकार का निर्धन जनता पर भारी कर लगाकर एक बड़े भारी समारोह का मनाना जिसमें आतिशबाजी और भव्य दृश्यों पर रुपया व्यंग किाय जाए, जबकि लाखों लोग भूख से मर रहे हैं, इससे अधिक हृदयहीनता कुछ नहीं हो सकती।"

5. समकालीन अन्तर्राष्ट्रीय प्रभाव–विदेश में हुई घटनाओं का तरुण लोगों पर अत्यधिक प्रभाव हुआ। भारतीयों के साथ अंग्रेजी उपनिवेशों में–विशेषकर दक्षिणी अफ्रीका मं हुए दुर्व्यवहार से अंग्रेज-विरोधी भावनाएं जाग उठीं। इसके अतिरिकत मिस्र, ईरान, तुर्की और रूस में राष्ट्रवादी आन्दोलनों का प्रभाव हुआ इथोपिया का इटली को परास्त करना (1896) तथा जापान की रूस पर विजय (1905) का भारतीय राष्ट्रवादियों पर अत्यधिक प्रभाव हुआ। यूरोप की अजेयता का जादू टूट चुका था।

6. कर्जन की प्रतिक्रियावादी नीतियां–कर्जन के भारत में 7 वर्ष का शासन "शिष्टमण्डलों, भूलों तथा आयोगों" (missions, omissions and commissions) के लिए प्रसिद्ध था जिसकी भारतीय मन पर कड़ी प्रतिक्रिया हुई। कर्ज़न ने भारत को एक राष्ट्र नहीं माना और कांग्रेस के सभी कार्यों को केवल "मन के उद्गार निकालना" (letting off og gas) ही माना। उसकी दृष्टि में भारतीय चरित्र का मूल्य बहुत कम था। वह उन्हें झूठे और मक्कार ही मानता था। उसने कलकत्ता विश्वविद्यालय के दीक्षान्त समारोह में बोलते हुए कहा था, "सत्य का मान पश्चिम में अधिक था और पूर्व में ऐसा बहुत समय के पश्चात हुआ है।" उसके बहुत से अधिनियमों में जातीय श्रेष्ठता की भावना झलकती थी और 1902 का दिल्ली दरबार बहुत अखरा विशेषकर इसलिए कि देश अभी अकाल के प्रभाव से पूर्णरूप से संभल भी नहीं पाया था।

7. बंगाल का विभाजन–सम्भवत: कर्जन का सब से घृणित कार्य बंगाल को दो भागों अथवा बंगाल तथा पूर्वी बंगाल और असम में विभाजित करना था। (1905)। यह कार्य बंगाल और राष्ट्रीय कांग्रेस के कड़े विरोध की उपेक्षा करके किया गया। इससे यह सिद्ध हो गया कि कर्जन तथा लन्दन स्थित गृह सरकार भारत के लोक मत की किस प्रकार हवहेलना करते थे। यह स्पष्ट था कि बंटवारा धर्म के नाम पर किया गया और हिन्दू-मुस्लिम द्वेष को कुरेदने का प्रयत्न था। अब यह स्पष्ट था कि याचना तथा प्रतिरोध प्रकट करने से कुछ नहीं होने वाला।

नोट

गरमपंथी दल के उद्देश्य (Objectives of the Extremist Group)

भारतीय राजनीति में यह नया दौर, दो रूप में प्रकट हुआ–(1) कांग्रेस के भीतर उग्रवादी दल का उदय, (2) देश में आतंकवादी तथा क्रान्तिकारी दल का उदय।

चार प्रमुख कांग्रेस नेताओं–लोकमान्य तिलक, पिपिनचन्द्र पाल, अरविन्द घोष और लाला लाजपतराय–ने इस नये दल की नीतियों की परिभाषा की, इनकी अभिलाषाओं को व्यक्त किया और इनके कार्यों का मार्गदर्शन किया। तिलक ने यह कहकर कि "स्वराज्य मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है और मैं इसे लेकर रहूंगा" इन लोगों को एक नारा दिया। उनहोंने कहा था–"स्वराज्य अथवा स्वशासन, स्वधर्म के लिए आवश्यक है। स्वराज्य के बिना कोई सामाजिक सुधार नहीं हो सकते, न कोई औद्योगिक प्रगति, न कोई उपयोगी शिक्षा और न ही राष्ट्रीय जीवन की परिपूर्णता। यही हम चाहते हैं और इसी के लिए ईश्वर ने मुझे इस संसार में भेजा है।"

विपिनन्द्र पाल ने इस दल की माँगों की इन शब्दों में व्याख्या की–"देश में नया सुधार (reform) नहीं अपितु पुनर्गठन (re-form) की आवश्यकता है। इंग्लैंड को भारतीय सरकार की नीति निर्माण का अधिकार छोड़ देना चाहिए और एक विदेशी सरकार को जो कानून चाहे बना सकने का अथवा अपनी इच्छा से जेसा चाहे शासन करे, यह अधिकार त्याग देना चाहिए। उन्हें अपनी इच्छा से कर लगाने, और अपनी इच्छा से धन को व्यय करने का अधिकार भी छोड़ना होगा।"

अरविन्द घोष स्वराज्य को "भारत के प्राचीन जीवन को आधुनिक परिस्थितियों में परिपूर्ण होना और राष्ट्रीय गौरव का सतयुग मानते थे जिसमें भारत पुनः एक गुरु और मार्गदर्शक के रूप में अपनी भूमिका निभाए लोगों की आत्म-मुक्ति हो ताकि राजनीतिक जीवन में वेदान्त के आदर्श प्राप्त किए जा सकें यही भारत के लिए सच्चा स्वराज्य होगा। उनके अनुसार, "राजनीतिक स्वतन्त्रता, एक राष्ट्र का जीवन श्वास है। बिना राजनीतिक स्वतन्त्रता के सामाजिक तथा शैक्षणिक सुधार, औद्योगिक प्रसार, एक जाति की नैतिक उन्नति इत्यादि की बात सोचना मूर्खता की चरम सीमा है।"

लाजपतराय के अनुसार, "जैसे दास की आत्मा नहीं होती इसी प्रकार दास जाति के कोई आत्मा नहीं होती। और आत्मा के बिना मनुष्य केवल पशु है। इसलिए देश के लिए स्वराज्य परम आवश्यक है और सुधार अथवा उत्तम राज्य इसके विकल्प नहीं हो सकते।"

9.4 सारांश (Summary)

- भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना दिसंबर 1885 में हुई। उस समय के 72 राजनीतिक कार्यकर्ताओं ने इसकी नींव रखी थी। अखिल भारतीय स्तर पर यह भारतीय राष्ट्रवाद की पहली सुनियोजित अभिव्यक्ति थी। एक अवकाश प्राप्त अंग्रेज आई.सी.एस. अधिकारी ए.ओ. ह्यूम ने कांग्रेस की स्थापना में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई थी।
- 'यंग इंडिया' में 1916 में प्रकाशित अपने लेख में नरमपंथी नेता लाला लाजपत राय ने 'सुरक्षा वाल्व' की इस परिकल्पना का इस्तेमाल कांग्रेस के नरमपंथी पक्ष पर प्रहार करने के लिए किया था। 'सुरक्षा वाल्व' की परिकल्पना पर लंबी चर्चा करते हुए अपने लेख में उन्होंने कहा था कि "कांग्रेस लॉर्ड डफरिन के दिमाग की उपज है।"
- इसके करीब 25-30 वर्ष बाद इस विषय पर रजनी पाम दत्त के 'प्रामाणिक अध्ययन' ने तो 'सुरक्षा वाल्व' के मिथक को वामपंथी विचारधारा के 'कच्चे माल' के रूप में ही स्थापित कर दिया।
- इसके लिए "वाइसराय के साथ मिलकर एक गुप-चुप योजना" तैयार की गई थी, ताकि उस समय उठ रही "ब्रिटिश-विरोधी लहर और जन असंतोष की ताकतों से ब्रिटिश शासन की रक्षा के लिए इसका (कांग्रेस का) इस्तेमाल हथियार के तौर पर" किया जाए।
- एक संगठन के रूप में इसका यह 'दोहरा चरित्र' कि इसे सरकार ने बनाया और फिर यह साम्राज्य-विरोधी आंदोलन की अगुआ बनी, "इसके समूचे इतिहास में नजर आता है।" इसने साम्राज्यवाद के खिलाफ संघर्ष किया और उसके साथ सहयोग भी किया।

नोट

- गोलवलकर के अनुसार, ह्यूम, कॉटन और वेडरबर्न द्वारा 1885 में तय की गई नीतियां ही जिम्मेदार थीं–"इन लोगों ने उस समय 'उबल रहे राष्ट्रवाद' के खिलाफ 'सुरक्षा वाल्व' के तौर पर कांग्रेस की स्थापना की। उस समय जाग रहे एक विशाल देव को सुला देने के लिए यह एक खिलौना था, राष्ट्रीय चेतना को तबाह कर देने का हथियार था और जहाँ तक उन लोगों के उद्देश्य की बात है वे इसमें पूरी तरह सफल रहे।"
- जब स्वयं डफरिन और उनके उदारवादी सहयोगी (बंबई और मद्रास के गवर्नर) भी कांग्रेस से सहानुभूति नहीं रखते थे।
- 1885 में उन्होंने रे (Ray) को खत लिखकर चेतावनी दी थी कि ह्यूम की कांग्रेस से सावधान रहिए। "सुधारवादियों और दक्षिणपंथियों में से किसी के भी नजदीक मत जाइए।" जून 1885 में रे ने इसका जवाब लिखा। नई राजनीतिक सरगर्मी से भयातुर रे ने डफरिन को भारतीय प्रतिनिधियों से सावधान रहने को कहा।
- वास्तव में मई 1885 के बाद से ही डफरिन, ह्यूम से नफरत करने लगे थे और उनसे दूर रहने लगे थे। यही नहीं, इसके बाद से डफरिन ने बंगाली बाबुओं और मराठी ब्राह्मणों पर हमला बोलना शुरू कर दिया। डफरिन का मानना था कि इनके उद्देश्य संदिग्ध हैं और ये भारत में आयरलैंड-जैसा क्रांतिकारी विद्रोही आंदोलन चलाना चाहते हैं।
- 1885 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना न तो अप्रत्याशित घटना थी और न ही कोई ऐतिहासिक दुर्घटना। 1860 और 1870 के दशक से ही भारतीयों में राजनीतिक चेतना पनपने लगी थी। कांग्रेस की स्थापना इस बढ़ती चेतना की पराकाष्ठा थी।
- बाल गंगाधर तिलक छह साल की लंबी सजा काटने के बाद 16 जून, 1914 को जेल से छूटे। कैद का अधिकांश समय मंडालय जेल (बर्मा) में बीता था। भारत लौटे, तो उन्हें लगा कि वह जिस देश को छोड़ कर गए थे, वह काफी बदल गया है।
- तिलक ने सोचा कि सबसे पहले तो कांग्रेस में फिर से शामिल हुआ जाए और बाकी नरमपंथियों को भी इसमें घुसाया जाए। तिलक का यह विश्वास हो चला था कि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस, भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन का पर्याय बन चुकी है और बिना इसकी इजाजत के कोई भी राजनीतिक आंदोलन सफल नहीं हो सकता।
- एनी बेसेंट अभी हाल ही में कांग्रेस में शामिल हुई थीं। 1914 में वह 66 वर्ष की थीं, उनके राजनीतिक जीवन की शुरुआत इंग्लैंड में हुई थी, जहाँ उन्होंने स्वतंत्र चिंतन (फ्री थॉट), उग्र-सुधारवाद (रैडिकलिज्म), फबियनवाद और ब्रह्मविद्या (थियोसॉफी) के प्रचार में हिस्सा लिया।
- 1914 में एनी बेसेंट ने अपनी गतिविधियों का दायरा बढ़ाने का निर्णय किया और 'आयरलैंड की होमरूल लीग' की तरह भारत में भी स्वशासन की माँग को लेकर आंदोलन चलाने की योजना बनाई। उन्हें लगा कि इसके लिए कांग्रेस की अनुमति और गरमपंथी आंदोलनकारियों का सहयोग लेना जरूरी है।
- 1915 के शुरू में एनी बेसेंट ने दो अखबारों–'न्यू इंडिया' (छमू प्दकपं) और 'कामनवील' (ब्वउउवदूमंस) के माध्यम से आंदोलन छेड़ दिया। जनसभाएँ और सम्मेलन आयोजित किए। उनकी माँग थी कि जिस तरह से गोरे उपनिवेशों में वहाँ की जनता को अपनी सरकार बनाने का अधिकार दिया गया है, भारतीय जनता को भी स्वशासन का अधिकार मिले। अप्रैल 1915 के बाद ऐनी बेसेंट ने और भी कड़ा और जुझारू रुख अख्तियार किया।
- तिलक ने 1915 में पूना में अपने समर्थकों का एक सम्मेलन बुलाया, जिसमें यह फैसला किया गया कि ग्रामीण जनता को कांग्रेस के उद्देश्यों और उसकी गतिविधियों से परिचित कराने के लिए एक संस्थान का गठन किया जाए।
- दिसम्बर 1915 में कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन हुआ और तिलक तथा एनी बेसेंट के प्रयासों को सफलता मिली। गरमपंथियों को कांग्रेस में वापस लेने का फैसला किया गया। फीरोजशाह मेहता के निधन के कारण बंबई के नरमपंथियों का विरोध बेअसर साबित हुआ। गोखले का भी निधन हो चुका था। गरमपंथियों को कांग्रेस में वापस लाने में तो एनी बेसेंट सफल रही, पर 'होम रूल लीग' के गठन के अपने प्रस्ताव पर वह कांग्रेस और मुसलिम लीग की मंजूरी नहीं ले सकीं।

नोट

9.5 शब्दकोश (Keywords)

- जुझारू : संघर्षरत, संघर्ष करने वाला।
- तवज्जो : इज्जत देना।
- खेमा : पार्टी, दल।

9.6 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. कांग्रेस की स्थापना के पीछे ह्यूम के क्या उद्देश्य थे। स्पष्ट कीजिए।
2. कांग्रेस स्थापना के सेफ्टी वाल्व सिद्धांत की व्याख्या कीजिए।
3. होम रूल आंदोलन से आप क्या समझते हैं? लोकमान्य तिलक और एनी बेसेंट की भूमिका की व्याख्या कीजिए।
4. नरमपंथी एवं गरमपंथी नेता कौन थे और स्वतंत्रता आंदोलन में इनकी भूमिका स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer: Self Assessment)

1.	1. (ख)	2. (क)	3. (ग)	4. (ख)	5. (क)
2.	1. 6 वर्ष	2. कामनवील	3. बेलगाँव	4. 60वाँ	5. सितंबर 16।

9.7 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. *स्वतंत्रता का इतिहास*– बी.एल. ग्रोवर एवं यशपाल, एसख चन्द एण्ड कम्पनी लि., दिल्ली।
2. *स्वतंत्रता संग्राम*– विपिन चन्द्र, हिन्दी माध्यम कार्यान्वय, निदेशालय दिल्ली विश्वविद्यालय।
3. *आधुनिक भारत*– एस.के. पाण्डे, प्रयाग एकेडमी इलाहाबाद।

नोट

इकाई–10: राष्ट्रीय आंदोलन और भारतीय स्वतंत्रता (National Movement and Indian Independence)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

10.1 असहयोग आंदोलन (Non-Co-operation Movement)

10.2 सविनय अवज्ञा आंदोलन 1930–1931 (Civil disobidience Movement)

10.3 भारत छोड़ो आंदोलन (Quit India Movement)

10.4 भारतीय स्वतंत्रता और विभाजन (Indian Independence and Partition)

10.5 सारांश (Summary)

10.6 शब्दकोश (Keywords)

10.7 अभ्यास–प्रश्न (Review Questions)

10.8 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- असहयोग आंदोलन की व्याख्या करने में;
- सविनय अवज्ञा और भारत छोड़ो आंदोलन का विवेचन करने में;
- भारतीय स्वतंत्रता एवं विभाजन की परिस्थितियों का विश्लेषण करने में।

प्रस्तावना (Introduction)

बीसवीं सदी के दूसरे दशक का अंतिम वर्ष यानी 1920 भारतीय जनता के लिए निराशा और क्षोभ का वर्ष था। जनता उम्मीद लगाए बैठी थी कि प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति के बाद अंग्रेजी हुकूमत उनके लिए कुछ करेगी, लेकिन रौलट ऐक्ट, जलियाँवाला बाग कांड और पंजाब में मार्शल लॉ ने उसकी सारी उम्मीदों पर पानी फेर दिया। जनता समझ गई कि अंग्रेज़ी हुकूमत सिवा दमन के उसे और कुछ न देगी।

मांटाग्यू चेम्सफ़ोर्ड सुधारों का मकसद भी दोहरी शासन प्रणाली लागू करना था, न कि जनता को राहत देना। इससे भी असंतोष उभरा। मुसलमानों को महसूस होने लगा कि अंग्रेज़ी हुकूमत ने उन्हें भी धोखा दिया है। प्रथम विश्वयुद्ध में मुसलमानों का सहयोग लेने के लिए अंग्रेज़ों ने तुर्की के प्रति उदार रवैया अपनाने का वादा किया था, पर बाद में वे मुकर गए।

भारत के मुसलमान तुर्की के ख़लीफा को अपना धर्मगुरु मानते थे। उन्हें लगा कि अब तुर्की के धर्मस्थलों पर ख़लीफा का नियंत्रण नहीं रह जाएगा। भारतीय मुसलमान इससे बहुत क्षुब्ध हुए। गांधीजी और उन जैसे तमाम लोग, जो यह उम्मीद लगाए बैठे थे कि जलियाँवाला बाग कांड और पंजाब में उपद्रवों की निष्पक्ष जाँच होगी और ब्रिटिश सरकार तथा जनता इसकी एक स्वर में निंदा करेगी, अब निराश हो चले थे। 'हंटर कमेटी' द्वारा इन घटनाओं की

नोट

जाँच जिस तरह की जा रही थी, उससे ये लोग काफ़ी क्षुब्ध थे। उधर ब्रिटिश संसद विशेषकर 'हाउस ऑफ़ लॉडर्स' में जनरल डायर के कारनामों को उचित करार दिया गया था और 'मार्निंग पोस्ट' ने डायर के लिए 30 हज़ार पौंड का कोष इकट्ठा किया था। ये सारी कारगुज़ारियाँ अंग्रेज़ी हुकूमत का पर्दाफ़ाश करने के लिए काफ़ी थीं।

अप्रैल 1920 तक ब्रिटिश सरकार के पास अपने ग़लत क़दमों को सही ठहराने के सारे तर्क चुक गए थे। ख़िलाफ़त नेताओं से साफ़-साफ़ कह दिया गया था कि वे अब और अधिक उम्मीद न रखें। तुर्की के साथ 1920 में हुई संधि इस बात का सबूत थी कि तुर्की के विभाजन का फैसला अंतिम हैं। गांधीजी को इससे भी गहरा दु:ख पहुँचा। वह ख़िलाफ़त नेताओं के दोस्त थे। नवंबर 1919 में ख़िलाफत सम्मेलन में उन्हें विशेष अतिथि के रूप में बुलाया गया था। गांधीजी को भी अहसास हुआ कि अंग्रेज़ों ने धोखा दिया है।

1920 में गांधीजी ने ख़िलाफ कमेटी को अंग्रेज़ी हुकूमत के ख़िलाफ अहिंसक असहयोग आंदोलन छेड़ने की सलाह दी। 9 जून 1920 को इलाहाबाद में ख़िलाफ़त कमेटी ने इस सलाह को सर्वसम्मति से स्वीकार कर लिया और गांधीजी को इस आंदोलन की अगुवाई करने का अधिकार सौंपा।

इसी बीच कांग्रेस को भी महसूस होने लगा था कि संवैधानिक तौरतरीकों में कुछ हासिल होनेवाला नहीं है। पंजाब उपद्रवों की जाँच करने वाली कमेटी की रिपोर्ट से भी कांग्रेस को निराशा ही हाथ लगी। कांग्रेस ने खुद इन घटनाओं की जाँच कराई और सच का पता लगाया। इस तरह ब्रिटिश हुकूमत के रवैये से क्षुब्ध कांग्रेस भी असहयोग आंदोलन का रास्ता अख़्तियार करने को तैयार थी। मई 1920 में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की बैठक हुई और सितंबर में कांग्रेस का विशेष अधिवेशन आयोजित करने का फैसला किया गया। उद्देश्य था—आगे की रणनीति तय करना।

देश की जनता भी अंग्रेज़ी हुकूमत से खार खाए बैठी थी। इससे पहले के चार दशकों के राष्ट्रीय आंदोलन ने जनता के एक बहुत बड़े तबके को राजनीतिक रूप से सक्रिय बनाया था। अंग्रेज़ी हुकूमत की धोखेबाज़ी और दमन से जनता कसमसा उठी थी। उसे लग रहा था कि अब चुप रहना कायरता होगी।

इसके अलावा आर्थिक कठिनाइयों ने भी जनता को संघर्ष के लिए उकसाया। प्रथम विश्वयुद्ध के कारण महँगाई बहुत बढ़ गई थी। नगरों और क़स्बों में रहनेवाले मज़दूर दस्तकार, मध्यवर्ग और निम्न-मध्यवर्ग सभी परेशान थे। खाद्यान्नों की कमी तो थी ही, क़ीमतें भी आसमान छू रही थीं। मुद्रास्फीति लगातार बढ़ती जा रही थी। विश्वयुद्ध समाप्त होने के बाद भी यह क्रम समाप्त नहीं हुआ। गाँवों में किसान और खेतिहर मज़दूर सूखा, महामारी और प्लेग से जूझ रहे थे। इन महामारियों की चपेट में आकर हजारों लोग मर गए। इस तरह शहरों-गाँवों और क़स्बों में, सभी जगह अँग्रेज़ी हुकूमत के खिलाफ़ लोग कसमसा रहे थे। विरोध की इस ऊर्जा को सही दिशा देने भर की ज़रूरत थी।

पहली अगस्त 1920 को आंदोलन छिड़ गया। गाँधीजी ने 22 जून को ही वाइसराय को एक नोटिस दिया था, जिसमें लिखा था, "कुशासन करने वाले शासक को सहयोग देने से इनकार करने का अधिकार हर आदमी को है।" पहली अगस्त को ही प्रात: तिलक का निधन हो गया। तिलक के निधन पर शोक और आंदोलन की शुरुआत दोनों चीज़ें एक साथ मिल गई। पूरे देश में हड़ताल मनाई गई, प्रदर्शन हुए, सभाएँ आयोजित की गईं और कुछ लोगों ने उपवास रखा।

सितंबर में कलकत्ता में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। कई वरिष्ठ नेताओं के विरोध के बावजूद असहयोग आंदोलन को कांग्रेस ने मंजूरी दे दी, इसे अपना आंदोलन मान लिया। विरोधियों में प्रमुख सी.आर. दास। उनका विरोध विधान परिषदों (लेजिस्लेटिव एसेंबली) के बहिष्कार को लेकर था। कुछ ही दिन बाद इनके चुनाव होने वाले थे। लेकिन बहिष्कार के विचार से असहमति रखनेवालों ने भी कांग्रेस के अनुशासन का पालन किया और चुनावों में भाग नहीं लिया। ज़्यादातर मतदाताओं ने भी इसका बहिष्कार किया।

10.1 असहयोग आंदोलन (Non-Co-operation Movement)

दिसंबर में नागपुर में कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन हुआ। इस समय तक कांग्रेस में अंदरूनी विरोध लगभग ख़त्म हो चुका था। विधान परिषदों के चुनाव हो चुके थे, इसलिए इसके बहिष्कार का विवादास्पद मुद्दा भी ख़त्म हो गया था। सी.आर. दास ने भी इस सम्मेलन में असहयोग आंदोलन से संबद्ध प्रस्ताव रखा। यह प्रस्ताव काफ़ी लंबा-चौड़ा

नोट

था। असहयोग आंदोलन कार्यक्रम के तहत तमाम चीज़ें आती थीं, जैसे उपाधियों और प्रशस्तिपत्रों को लौटाना, सरकारी स्कूलों, कॉलेजों, अदालतों, विदेशी कपड़ों का बहिष्कार। इस प्रस्ताव में यह भी कहा गया कि बाद में जनता को सरकारी नौकरियों से इस्तीफ़ा देने और क़ानून का अवज्ञा-जिसमें कर अदायगी न करना भी शामिल हो–के लिए भी कहा जा सकता था। राष्ट्रीय विद्यालयों की स्थापना और स्थानीय विवादों के निबटारे के लिए पंचायतों के गठन का भी प्रस्ताव था। हाथ से कताई-बुनाई को प्रोत्साहन देने तथा हिंदू-मुसलिम एकता को बढ़ावा देने पर विशेष ज़ोर देने की बात कही गई थी। छुआछूत को मिटाने और हर हाल में अहिंसा का पालन करने का सख्त निर्देश था। गाँधीजी ने आश्वासन दिया कि यदि इन कार्यक्रमों पर पूरी तरह अमल हुआ, तो एक वर्ष के भीतर ही आज़ादी मिल जाएगी। इस तरह नागपुर कांग्रेस सम्मेलन ने जनांदोलन के संविधान इतर तरीक़े अपनाने की घोषणा कर दी। क्रांतिकारी आतंकवादियों के तमाम गुटों ने (ज़्यादातर बंगाल के) इस आंदोलन को अपना समर्थन दिया।

नए कार्यक्रमों पर अमल करने के लिए कांग्रेस के संगठनात्मक ढाँचे में भी कई परिवर्तन किए गए, उद्देश्य भी बदल गया। पहले उद्देश्य था संवैधानिक और वैधानिक तरीकों से स्वशासन (सेल्फ़ गवर्नमेंट) की प्राप्ति, अब उद्देश्य था अहिंसक और उचित तरीक़ों से स्वराज की प्राप्ति। गाँधीजी द्वारा तैयार कांग्रेस के नए संविधान ने भी कांग्रेस के चरित्र को काफ़ी हद तक बदला।

अब कांग्रेस के रोज़मर्रा के काम को देखने के लिए 15 सदस्यीय कार्यकारिणी गठित की गई। तिलक ने 1916 में ही इसका प्रस्ताव रखा था, पर नरमपंथी कांग्रेसियों के विरोध के कारण इसे मंजूरी नहीं मिली। गाँधीजी जानते थे कि किसी आंदोलन को लंबे समय तक चलाने के लिए कोई ऐसी कमेटी होनी चाहिए, जो साल भर सारा कामकाज देखती रहे। स्थानीय स्तर पर कार्यक्रमों को अमली जामा पहनाने के लिए प्रदेश कांग्रेस समितियों का गठन किया गया। इनका गठन भाषाई आधार पर किया गया, जिससे इनमें स्थानीय लोगों की ज़्यादा-से-ज़्यादा भागीदारी हो। इसके बाद कांग्रेस ने गाँवों-क़स्बों तक पहुँचने का लक्ष्य बनाया। इस तरह कांग्रेस संगठन का दायरा भी बढ़ा और उसका विकेंद्रीकरण भी हुआ। कांग्रेस ने यह भी तय किया कि जहाँ तक संभव हो, हिंदी को ही बतौर संपर्क भाषा इस्तेमाल किया जाए।

क्या आप जानते हैं गाँवों और क़स्बों में भी कांग्रेस समितियाँ गठित की गईं। सदस्यता फ़ीस चार आना साल कर दी गई जिससे ग़रीब लोग भी सदस्य बन सकें।

कांग्रेस द्वारा इसको अपनाने के फलस्वरूप असहयोग आंदोलन की नई ऊर्जा भरी। जनवरी 1921 से पूरे देश में आंदोलन की लोकप्रियता बढ़ने लगी। गांधीजी ने ख़िलाफत नेता अली भाइयों के साथ पूरे देश का दौरा किया, सैकड़ों सभाओं में भाषण दिए और राजनीतिक कार्यकर्ताओं से मुलाकात की, उनसे बातचीत की। पहले महीने में ही हज़ारों छात्रों ने (एक आँकड़ों के अनुसार 90,000) सरकारी स्कूलों और कॉलेजों को छोड़ दिया और राष्ट्रीय स्कूलों और कॉलेजों में भर्ती हो गए। उस समय देश में 800 राष्ट्रीय स्कूल और कॉलेज थे शिक्षा का बहिष्कार पश्चिम बंगाल में सबसे अधिक सफल रहा। कलकत्ता के विद्यार्थियों ने राज्यव्यापी हड़ताल की। उनकी माँग थी कि स्कूलों के प्रबंधक सरकार से अपना रिश्ता तोड़ें। सी.आर. दास ने इस आंदोलन को बहुत प्रोत्साहित किया और सुभाषचंद्र बोस 'नेशनल कॉलेज' (कलकत्ता) के प्रधानाचार्य बन गए। पंजाब में भी बड़े पैमाने पर शिक्षा का बहिष्कार किया गया। बंगाल के बाद इसी का नंबर था। लाला लाजपत राय ने यहाँ बड़ा काम किया, हालाँकि शुरू में वह इसके समर्थक नहीं थे। बंबई, उत्तरप्रदेश, बिहार, उड़ीसा, असम में भी इस कार्यक्रम पर काफी अमल हुआ, लेकिन मद्रास में इसे सफलता नहीं मिली।

वकीलों ने बड़े पैमाने पर अदालतों का बहिष्कार तो नहीं किया, लेकिन देश के जाने-माने वकीलों, जैसे सी.आर. दास, मोतीलाल नेहरू, एम.आर. जयकर, किचलू, वल्लभ भाई पटेल, सी. राजगोपालाचारी, टी. प्रकाशम और आसफ़ अली के वकालत छोड़ने से लोग बहुत प्रोत्साहित हुए। संख्या की दृष्टि से इस बार भी बंगाल पहले नंबर पर रहा, उसके बाद आंध्र, उत्तरप्रदेश, कर्नाटक और पंजाब।

नोट

नोट्स बहिष्कार आंदोलन में सबसे अधिक सफल था–विदेशी कपड़ों के बहिष्कार का कार्यक्रम। कार्यकर्ता घर-घर जाकर विदेशी कपड़े इकट्ठे करते, स्थानीय लोग एक जगह इकट्ठे होते और इन कपड़ों की होली जलाई जाती।

प्रभुदास गाँधी महात्मा गाँधी के साथ देश के दौरे पर गए थे। वे बताते हैं कि दूरदराज़ के स्टेशनों पर, जब गाड़ी खड़ी होती, तो गाँधीजी स्टेशन पर खड़े लोगों से कहते कि आप लोग पूरा कपड़ा न सही, विरोध जताने के लिए अपनी पगड़ी, दुपट्टा या टोपी को ही उतार दीजिए। लोग फ़ौरन अपना दुपट्टा, टोपी या पगड़ी जिसके पास जो होता, उतार देते। प्रभुदास गाँधी बताते हैं कि जैसे ही हमारी गाड़ी आगे बढ़ती, इन कपड़ों की होली जलाई जाती। ट्रेन की खिड़की से लपटें दिखाई देतीं विदेशी कपड़े बेचनेवाली दुकानों पर धरना भी बहिष्कार आंदोलन में शामिल था। इसका नतीज़ा यह हुआ कि 1920-21 में जहाँ एक अरब दो करोड़ मूल्य के विदेशी कपड़ों का आयात था, वहीं 1921-22 में यह घटकर 57 करोड़ हो गया।

इस आंदोलन में एक और कार्रवाई, जो बहुत लोकप्रिय हुई, वह थी ताड़ी की दुकानों पर धरना। हालाँकि यह मूल कार्यक्रम में नहीं था। सरकार को इससे बहुत आर्थिक नुकसान पहुँचा और वह मजबूर होकर इसके प्रचार में जुट गई। वह बताने लगी कि ताड़ी पीने के कितने फ़ायदे हैं। बिहार और उड़ीसा की सरकार ने तो इतिहास पुरुषों के नाम तक गिनाए कि कितने महान-महान लोग शराब का सेवन करते थे (मूसा, सिकंदर, जूलियस सीज़र, नेपोलियन, शेक्सपीयर, ग्लैडस्टान, टेनीसन और बिस्मार्क का नाम लिया गया)।

मार्च 1921 में विजयवाड़ा में कांग्रेस सम्मेलन हुआ। कार्यकर्ताओं को आदेश दिया गया कि वे अगले तीन महीने तक अपना सारा ध्यान कोष इकट्ठा करने, सदस्य बनाने और चरखा बाँटने पर दें। सदस्यता का लक्ष्य एक करोड़ रखा गया था। यह लक्ष्य तो पूरा नहीं हुआ, लेकिन सदस्य संख्या 50 लाख तक पहुँचा दी गई। 'तिलक स्वराज फंड' अपने लक्ष्य से भी आगे निकल गया। एक करोड़ से ज्यादा रुपए इकट्ठे कर लिए गए। चरखे और खादी का खूब प्रचार हुआ। खादी तो राष्ट्रीय आंदोलन की प्रतीक बन गई। छात्रों की एक सभा में गाँधीजी खादी पहनने की अपील कर रहे थे, तो कुछ लोगों ने शिकायत की कि खादी बहुत महँगी है। गाँधीजी ने सुझाव दिया कि कम कपड़े पहनिए, गाँधीजी ने खुद उस दिन से कुरता और धोती पहनना छोड़ दिया, लंगोटी पहनने लगे और जीवन भर अधनंगे फ़कीर की तरह रहे।

जुलाई 1921 में सरकार के सामने एक नई चुनौती आ खड़ी हुई। 8 जुलाई को कराची में ख़िलाफ़त सम्मेलन में मुहम्मद अली ने घोषणा की कि किसी भी मुसलमान का सेना में रहना धर्म के ख़िलाफ है। उन्होंने लोगों से कहा कि वे इस संदेश को हर मुसलमान सैनिक तक पहुँचाएँ। इस भाषण के तुरंत बाद मुहम्मद अली अपने साथियों समेत गिरफ़्तार कर लिए गए। इस गिरफ़्तारी का नतीज़ा यह हुआ कि इसके विरोध में आयोजित सभाओं में इस अपील को बार-बार दोहराया गया, उसका खूब प्रचार हुआ।

4 अक्तूबर को गाँधी समेत कांग्रेस के 47 वरिष्ठ नेताओं ने एक बयान जारी कर मुहम्मद अली के बयान की एक तरह से पुष्टि तो की ही, साथ ही यह भी कहा कि हर भारतीय नागरिक और सैनिक का कर्तव्य है कि वह दमनकारी सत्ता से अपना नाता तोड़ ले, उसे किसी तरह का सहयोग न दे। अगले दिन कांग्रेस कार्यकारिणी ने इसी तरह का एक प्रस्ताव पास किया और 16 अक्तूबर को पूरे देश में विभिन्न कांग्रेस समितियों की बैठक में इसको मंजूरी दी गई। सरकार ने अपनी हार मान ली, बहुत बेइज़्ज़ती हुई, उसने इस घटना को अनदेखा कर दिया।

इसके बाद हुई प्रिंस ऑफ़ वेल्स की भारत यात्रा, जो 17 नवंबर 1921 को शुरू हुई थी। जिस दिन वे बंबई आए पूरे भारत में हड़ताल थी। उसी दिन गाँधीजी ने बंबई में एलफिंस्टन मिल के अहाते में मज़दूरों की सभा में भाषण किया। विदेशी कपड़ों की होली जलाई गई। लेकिन दुर्भाग्य से इसी दिन बंबई की सड़कों पर खून-खराबा हो गया। गाँधीजी की सभा से लौटने वालों और प्रिंस के स्वागत समारोह में भाग लेने वालों में संघर्ष हो गया। शहर में दंगा

नोट

भड़क उठा और इसके ज़्यादातर शिकार हुए पारसी, ईसाई और एंग्लो-इंडियन। इन्हें अंग्रेज़ी हुकूमत का समर्थक माना जाता था। तीन दिनों तक हिंसात्मक़ वारदातें होती रहीं। हिंसा और पुलिस द्वारा गोली चलाए जाने में 58 व्यक्ति मारे गए। गाँधीजी जब तीन दिन तक अनशन पर बैठे, तब कहीं जाकर हिंसा की आग ठंडी पड़ी। गाँधीजी इन हिंसात्मक वारदातों से बहुत क्षुब्ध हुए।

'प्रिंस ऑफ़ वेल्स' जहाँ भी गए, वीरान सड़कों और बंद दरवाजों ने ही उनका स्वागत किया। असहयोग आंदोलनकारियों का हौंसला बढ़ता ही जा रहा था। कांग्रेस की स्वयंसेवी कोर, दिन-ब-दिन शक्तिशाली होती जा रही थी, मानो समांतर पुलिस दस्ते का गठन हो रहा हो। वर्दी और काम के तरीक़े देख, सरकार का चिंतित होना स्वाभाविक था। कांग्रेस ने प्रदेश कांग्रेस समितियों को यह इजाज़त दे दी थी कि जब भी उन्हें लगे कि जनता क़ानून अवज्ञा आंदोलन के लिए तैयार है, वे आंदोलन छेड़ सकती हैं। मिदनापुर (बंगाल) और गुंटूर ज़िले (आंध्र) के चिराला-पिराला और पेडानंडीपाडु तालुका में तो कर अदा न करने का आंदोलन छिड़ ही गया था।

असहयोग आंदोलन अप्रत्यक्ष रूप से भी प्रभाव डाल रहा था। अवध (उत्तर प्रदेश) में किसान सभा और किसान आंदोलन 1918 से ही ज़ोर पकड़ते जा रहे थे। असहयोग के प्रचार से, जिसे करते हुए जवाहरलाल नेहरू भी अवध के देहातों में घूम रहे थे, इसे बल मिला। कुछ ही दिनों में यह पता लगाना मुश्किल हो गया कि बैठक किसान सभा की है या असहयोग आंदोलनकारियों की। केरल में मलाबार में असहयोग आंदोलन और ख़िलाफ़त आंदोलन ने खेतिहर मुसलमानों को उनके भूस्वामियों के ख़िलाफ़ संघर्ष छेड़ने के लिए उकसाया, लेकिन दुर्भाग्य से आंदोलन ने यहाँ कहीं-कहीं सांप्रदायिकता का रुख अख़्तियार कर लिया।

असम में चाय-बाग़ान के मज़दूर हड़ताल पर चले गए। सरकार ने जब हड़ताली मज़दूरों पर गोली चलाइ तो स्टीमर पर काम करने वाले मज़दूर भी हड़ताल पर चले गए। असम-बंगाल रेलवे कर्मचारियों ने भी हड़ताल कर इनका साथ दिया। बंगाल के राष्ट्रवादी नेता जे.एम. सेनगुप्त ने इस दौरान महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। मिदनापुर में एक गोरी ज़मींदारी कंपनी के ख़िलाफ काश्तकारों की हड़ताल का नेतृत्व किया, कलकत्ता मेडिकल कॉलेज के एक छात्र ने। आंध्र में वन-क़ानून के ख़िलाफ़ आंदोलन छिड़ा। राजस्थान में किसानों और आदिवासियों ने आंदोलन छेड़ा। पंजाब में अकालियों ने गुरुद्वारों पर भ्रष्ट महंतों के क़ब्ज़े के ख़िलाफ़ आंदोलन छेड़ा। यह वास्तव में देशव्यापी असहयोग आंदोलन का ही एक हिस्सा था। तमाम दमन के बावजूद अकाली आंदोलनकारी अहिंसा के रास्ते से डिगे नहीं। इस तरह के हज़ारों उदाहरण दिए जा सकते हैं। हमारा कहने का मकसद सिर्फ़ इतना है कि असहयोग आंदोलन ने तमाम स्थानीय आंदोलनों को जन्म दिया और जो पहले से चल रहे थे उन्हें और बल दिया। बात दीगर है कि ये आंदोलन कहीं-कहीं असहयोग आंदोलन की नीतियों और अहिंसा के सिद्धांत से मेल नहीं खाते थे।

ऐसी हालत में सरकार समझ गई कि अब मामले को अनदेखा करने से काम चलने वाला नहीं है, दमन का रास्ता अख़्तियार करना ही होगा। सितंबर 1920 में जब आंदोलन शुरू हुआ था, सरकार का मानना था कि दमन से विद्रोह की आग और भड़केगी तथा जो लोग मारे जाएँगे, उन्हें जनता शहीद का दरजा देगी। मई 1921 में नए वाइसराय लॉर्ड रैडिंग ने गाँधीजी से मुलाकात की और गाँधीजी से कहा कि वे अली भाइयों को अपने भाषणों में हिंसा भड़काने वाली बातें न कहने के लिए मनाएँ। सरकार का उद्देश्य था–गाँधीजी और अली भाइयों में आपसी फूट डालना। लेकिन वह इसमें असफल हुई और गाँधी-रैडिंग वार्तालाप यहीं पर समाप्त हुआ। दिसंबर आते-आते सरकार को महसूस हो गया कि मामला हाथ से निकलता जा रहा है। उसने अपनी नीतियों में परिवर्तन की घोषणा की। स्वयंसेवी संगठनों को ग़ैर कानूनी घोषित किया गया और इसके सदस्यों को गिरफ़्तार किया जाने लगा।

सबसे पहले सी.आर. दास को गिरफ़्तार किया गया और बाद में उनकी पत्नी बासंती देवी को। इस गिरफ़्तारी का बंगाल में व्यापक पैमाने पर विरोध हुआ और हज़ारों लोगों ने गिरफ़्तारियाँ दीं। अगले दो महीने के भीतर पूरे देश में लगभग 30 हज़ार लोग गिरफ़्तार किए गए। बाद में तो बड़े नेताओं में केवल गाँधीजी ही बाहर रह गए थे।

दिसंबर के मध्य में मालवीयजी के माध्यम से बातचीत करके मामला सुलझाने की कोशिश की गई, पर इसके साथ जो शर्तें जुड़ी थीं, ख़िलाफ़त आंदोलनकारियों के हितों के विरुद्ध थीं। अत: गाँधीजी ने इसे स्वीकार नहीं किया। वैसे

नोट

भी ब्रिटेन की सरकार समझौते के मूड में नहीं थी और उसने वाइसराय लॉर्ड रैडिंग को आदेश दिया कि वह वार्तालाप को वहीं समाप्त कर दें।

चौरीचौरा कांड

उधर गाँधीजी पर राष्ट्रीय स्तर पर क़ानून की सविनय अवज्ञा आंदोलन छेड़ने के लिए लगातार दबाव पड़ रहा था। दिसंबर 1921 में अहमदाबाद कांग्रेस सम्मेलन में ही कांग्रेस ने भावी रणनीति तय करने की पूरी ज़िम्मेदारी गाँधीजी पर सौंप दी थी। उधर सरकार के रवैये में कोई परिवर्तन नहीं दिखाई दे रहा था। जनवरी 1922 में सर्वदलीय सम्मेलन की अपील और वाइसराय के नाम गाँधीजी के पत्र का सरकार पर कोई असर नहीं पड़ा। गाँधीजी ने लिखा कि यदि सरकार नागरिक स्वतंत्रता बहाल नहीं करेगी, राजनीतिक बंदियों को रिहा नहीं करेगी, तो वह देशव्यापी सविनय अवज्ञा आंदोलन छेड़ने को बाध्य हो जाएँगे। सरकार पर, जब इसका कोई असर नहीं हुआ, तो गाँधीजी ने मजबूर होकर सविनय अवज्ञा आंदोलन छेड़ने की घोषणा की। यह आंदोलन बारदोली तालुका (सूरत) से शुरू होने वाला था। गाँधीजी ने देश की जनता से अपील की कि वह पूरी तरह अनुशासित और शांत रहे, जिससे सारा ध्यान बारदोली पर ही केंद्रित किया जा सके। लेकिन ऐसा हुआ नहीं। चौरीचौरा (गोरखपुर-उत्तर प्रदेश) कांड ने बारदोली में प्रस्तावित आंदोलन को छह साल के लिए रोक दिया।

5 फ़रवरी 1922 को चौरीचौरा में कांग्रेस और ख़िलाफ़त का एक जुलूस निकला था। कुछ पुलिसवालों ने इनके साथ दुर्व्यवहार किया, जिसका नतीज़ा यह हुआ कि जुलूस में शामिल एक जत्थे ने पुलिस पर हमला बोल दिया। पुलिस ने गोली चलाई। पुलिस की गोलीबारी से जुलूस में शामिल सारे लोग उत्तेजित हो गए और पुलिस पर हमला बोल दिया। सिपाही भागकर थाने में घुस गए, तो भीड़ ने थाने में आग लगा दी। जो सिपाही भागने के प्रयास में बाहर आए उन्हें भीड़ ने मार डाला और आग में फेंक दिया। 22 पुलिसकर्मी मारे गए। इस घटना की ख़बर मिलते ही गाँधीजी ने आंदोलन वापस लेने की घोषणा कर दी। उन्होंने कांग्रेस कार्यकारिणी से इस फ़ैसले को स्वीकृति देने की अपील की। 12 फ़रवरी 1922 को असहयोग आंदोलन समाप्त हो गया।

मोतीलाल नेहरू, सी.आर. दास, जवाहरलाल नेहरू, सुभाषचंद्र बोस व अन्य नेता यह ख़बर सुनकर भौंचक्के रह गए। उन्हें यह समझ में नहीं आ रहा था कि एक दूरदराज़ के गाँव में कुछ लोगों की ग़लत हरकतों का खामियाज़ा पूरा देश क्यों भुगते। कई लोगों को लगा कि महात्मा गाँधी में अब नेतृत्व की क्षमता नहीं रह गई है। वे असफल हो गए हैं और उनकी लोकप्रियता के दिन अब ख़त्म हो रहे हैं।

ब्रितानी मार्क्सवादी रजनीपाम दत्त और उनकी बनाई हुई परंपरा पर चलने वाले कई और टीकाकारों ने भी गाँधी के निर्णय की आलोचना की। गाँधी के इस निर्णय को वे बतौर सबूत पेश करते हैं कि गाँधीजी अमीर वर्गों के हितों का ख्याल रखते थे। इनका तर्क है कि गाँधी ने यह निर्णय महज़ इसलिए नहीं किया कि चौरीचौरा की घटना उनके अहिंसक सिद्धांत के विरुद्ध थी, बल्कि उन्हें यह महसूस होने लगा था कि भारतीय जनता अब जुझारू संघर्ष के लिए तैयार हो रही है, अमीर शोषकों के ख़िलाफ कमर कस रही है। गाँधी को लगा कि आंदोलन की बागडोर उनके हाथ से निकलकर लड़ाकू ताक़तों के हाथ में जाने वाली है। उन्हें लगा कि पूँजीपतियों और भूस्वामियों के ख़िलाफ लड़ाई होने ही वाली है। इन्हीं के हितों को मद्देनज़र रखते हुए उन्होंने आंदोलन वापस लिया। ये लोग अपने तर्क के लिए 'बारदोली प्रस्ताव' (12 फ़रवरी 1922 को बारदोली में कांग्रेस कार्यकारिणी की बैठक हुई थी, जहाँ यह प्रस्ताव पारित हुआ जो बारदोली प्रस्ताव के नाम से मशहूर है) को बतौर सबूत पेश करते हैं। इनका कहना है कि गाँधीजी ने आंदोलन वापस लेने की घोषणा के साथ-साथ किसानों से कर और काश्तकारों से लगान देने की अपील भी की थी। आंदोलन वापस लेने के पीछे गाँधी का असली मक़सद यही था।

हमारे ख्याल में गाँधीजी के आलोचकों ने उनके साथ पूरी तरह न्याय नहीं किया। एक दूरदराज़ के गाँव में हिंसात्मक वारदात आंदोलन वापस लेने का कारण नहीं हो सकती, यह तर्क वज़नदार नहीं दीखता। गाँधी ने बार-बार कहा था कि बारदोली में अवज्ञा आंदोलन के दौरान देश के अन्य हिस्सों में किसी भी तरह का आंदोलन नहीं होना चाहिए–अहिंक आंदोलन भी नहीं। आंधप्रदेश कांग्रेस कमेटी ने कुछ ज़िला इकाइयों को अवज्ञा आंदोलन चलाने की अनुमति दे दी थी। गाँधीजी ने निर्देश दिया कि वह अपनी अनुमति वापस ले ले।

नोट

गाँधीजी शायद सोचते थे कि इस समय देशव्यापी आंदोलन छेड़ने से हिंसा भड़क उठने का ख़तरा है,, जैसा कि 1921 में बंबई में और बाद में चौरीचौरा में हुआ था। इस तरह की वारदातों से सरकार को पूरे देश में आंदोलन के ख़िलाफ दमनात्मक क़दम उठाने का बहाना मिलता। गाँधीजी को आशंका थी कि इस तरह की कार्रवाइयों से अहिंसक असहयोग आंदोलन की रणनीति विफल हो जाएगी। अहिंसक आंदोलन की रणनीति यह थी कि दमनकारी सत्ता यदि इस आंदोलन के ख़िलाफ दमनात्मक कार्रवाई करेगी तो उसका चरित्र बेनकाब हो जाएगा क्योंकि अहिंसक और निहत्थे लोगों पर हमले से पूरा जनमत उसके ख़िलाफ़ हो जाएगा।

इस प्रकार यह कहना ग़लत है कि चौरीचौरा कांड और बारदोली आंदोलन प्रकरण का कोई आपसी संबंध नहीं था। बारदोली आंदोलन को दबाने के लिए सरकार को चौरीचौरा की घटना का बहाना मिल जाता, सरकार ही यह संबंध बना देती।

गाँधीजी का शायद यह अनुमान था कि चौरीचौरा कांड ने, बारदोली से व्यापक अवज्ञा आंदोलन छेड़ने की संभावनाओं को, काफ़ी हद तक कम कर दिया है। उनका मानना था कि यदि इस समय बारदोली में आंदोलन शुरू हुआ, तो सरकार चौरीचौरा कांड का बहाना लेकर कार्यकर्ताओं का दमन करेगी और अवज्ञा आंदोलन शुरू में ही विफल हो जाएगा। आंदोलन वापस लेने के पीछे गाँधीजी की मंशा आंदोलन की ऊर्जा को बरक़रार रखने व जनता को हतोत्साहित होने से बचाने की थी। हालाँकि आंदोलन वापस लेने की घोषणा से भी जनता का एक बहुत बड़ा तबका निराश हुआ था, लेकिन यदि सत्ता को दमन का बहाना मिलता और वह दमन पर उतारू हो जाती, तो जनता में इससे कहीं अधिक निराशा व्याप्त होती (जैसा 1932 में हुआ)।

यह नहीं भूलना चाहिए कि असहयोग आंदोलन, अँग्रेजी हुकूमत के ख़िलाफ देशव्यापी जनसंघर्ष का प्रथम प्रयास था। शुरुआती दौर में इस पर किसी तरह का हमला घातक सिद्ध होता। आंदोलनकारियों में ही नहीं, जनता में भी निराशा व्याप्त हो जाती।

दूसरा तर्क कि, गाँधीजी ने लड़ाकू ताक़तों के बढ़ते प्रभाव से डरकर आंदोलन वापस लिया, सच्चाई से दूर है। चौरीचौरा कांड को बतौर सबूत पेश किया जाता है। पर चौरीचौरा में पुलिस थाने पर हमला करने वाली भीड़ ने ऐसा कोई काम नहीं किया था, जिससे यह लगे कि ये लोग ज़मींदारों, पूँजीपतियों के ख़िलाफ़ संगठित हो रहे थे या संघर्ष कर रहे थे। आर्थिक संबंधों के ख़िलाफ आंदोलन छेड़ने जैसी भी कोई बात नहीं थी। ये लोग पुलिस के दुर्व्यवहार से नाराज़ हो गए थे और अपना गुस्सा उन्होंने पुलिस पर ही उतारा। उत्तरप्रदेश और मलाबार में किसान आंदोलन तो बहुत पहले ही समाप्त हो चुका था। अवध के ग्रामीण इलाक़ों में कहीं-कहीं एका आंदोलन चल रहा था, पर यह ज़मींदारी को उखाड़ फेंकने के लिए था। इस आंदोलन की माँग थी कि ज़मींदार अवैध कर न वसूलें और मनमाने ढंग से मालगुज़ारी न बढ़ाएँ। एका आंदोलन में शामिल करने से पहले सदस्यों को जो शपथ दिलाई जाती थी, उसमें एक शपथ यह भी थी कि 'हम ख़रीफ़ और रबी में नियमित रूप से लगान देते रहेंगे।' आंध्र के गूंटूर ज़िले में कर-अदायगी न करने का आंदोलन तो असहयोग आंदोलन का ही एक हिस्सा था। यह सरकार के ख़िलाफ़ था और पूरी तरह अहिंसक था। इस तरह यह पता नहीं चल पाता कि वे कौन-सी जुझारू व लड़ाकू ताक़तें थीं, जिनसे गाँधीजी डर गए थे।

तीसरा तर्क यह है कि बारदोली प्रस्ताव ने किसानों और काश्तकारों से कर व लगान की अदायगी करने को कहा और ज़मींदारों को यह विश्वास दिलाया कि उनके अधिकारों को कम करने का कांग्रेस का कोई इरादा नहीं है। आरोप है कि आंदोलन वापस लेने के पीछे वास्तविक उद्देश्य ज़मींदारों के हितों की रक्षा करना था, यह आरोप ग़लत है। कांग्रेस का इसके पीछे कोई 'छिपा मंतव्य' नहीं था। सच तो यह है कि पूरे आंदोलन के दौरान कांग्रेस ने कभी भी ज़मींदारों के अधिकार पर प्रश्नचिह्न लगाया ही नहीं था, अत: बारदोली प्रस्ताव ने इस मुद्दे पर कांग्रेस की नीतियों की महज़ पुष्टि की थी। कर न अदा करने का आंदोलन का एक हिस्सा था। जब असहयोग आंदोलन वापस ले लिया गया, तो कर अदा न करने का आंदोलन कैसे चलता?

गाँधीजी द्वारा आंदोलन वापस लेने के पीछे शायद एक और कारण था। 1921 की दूसरी छमाही के शुरू होते-होते

नोट

आंदोलन कमज़ोर पड़ने लगा था। छात्र स्कूलों में और वकील अदालतों में लौटने लगे थे। व्यापारी वर्ग विदेशी कपड़ों के 'स्टॉक' से चिंतित होने लगा था, बैठकों और रैलियों में लोगों की संख्या कम होती जा रही थी। हालाँकि कुछ जगहों जैसे बारदोली (गुजरात) और गुंटूर (आंध्र) में राजनीतिक गतिविधियाँ काफ़ी तेज़ थीं और लोग संघर्ष के लिए आतुर थे, लेकिन 1921 के शुरू में पूरे देश में आंदोलन के प्रति जो उत्साह था, अब वह नहीं रह गया था।

सक्रिय राजनीतिक कार्यकर्ता और नेता तो चाहते थे कि आंदोलन को आगे बढ़ाया जाए, उसे तेज़ किया जाए, पर किसी जन आंदोलन की सफलता या विफलता इस बात पर निर्भर करती है कि जनता का कितना बड़ा हिस्सा इसमें शामिल है। हम यह बात दावे के साथ नहीं कह रहे हैं कि गाँधीजी ने आंदोलन के प्रति घटते उत्साह के कारण ही इसे वापस लिया चूँकि इस विषय पर शोध-कार्य अभी अपूर्ण है, अत: हमारा कहना है कि इस बारे में कोई निष्कर्ष निकालते समय इस संभावना को भी ध्यान में रखा जाए।

गाँधी के आलोचक अकसर यह भूल जाते हैं कि कोई भी जनांदोलन लगातार नहीं चलता। उसमें पड़ाव आता है। कुछ सीढ़ियाँ चढ़ने के बाद वह सुस्ताता है, थकावट दूर करता है और आगे बढ़ने के लिए आवश्यक ऊर्जा जुटाता है। इसका मूल कारण यह है कि जनता की दमन सहने और बलिदान करने की शक्ति असीमित नहीं होती। इस तरह कभी आंदोलन वापस लेने की घोणा या कभी समझौतावादी रुख अख्तियार करना जनता पर आधारित राजनीतिक संघर्ष की सही रणनीति है। आंदोलन को वापस लेना विश्वासघात नहीं करता, यह तो रणनीति का हिस्सा है। हाँ, इस बात पर बहस हो सकती है कि आंदोलन सही समय पर वापस लिया गया है या ग़लत समय पर।

वापस लेने का समय आ ही गया है, ऐसा सोचने के लिए शायद गाँधीजी के सामने काफ़ी कारण थे। गाँधीजी ने जब यह निर्णय किया, तो आंदोलन को लगभग एक साल से ज्यादा हो चुका था, अँग्रेज़ी सरकार का अड़ियल रवैया बरकरार था। इससे पहले कि आंदोलन की अपनी कमज़ोरियाँ उभरकर सामने आतीं और समर्पण की नौबत आती, चौरीचौरा कांड ने आंदोलन वापस लेने का एक मौक़ा दिया।

गाँधीजी ने वादा किया था यदि उनकी नीतियों पर सही ढंग से अमल किया गया, तो एक साल में स्वराज की स्थापना हो जाएगी। साल ख़त्म हो गया। स्वराज की बात तो दूर, अंग्रेज़ी हुकूमत छोटी-मोटी रियायतें भी देने को तैयार न थी, लेकिन क्या समूचा संघर्ष निरर्थक था? आंदोलन विफल रहा? इसका जवाब 'हाँ' में नहीं दिया जा सकता।

असहयोग आंदोलन की अनेक सफलताएँ-उपलब्धियाँ हैं। इसी आंदोलन ने पहली बार देश की जनता को इकट्ठा किया। अब भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस पर कोई यह आरोप नहीं लगा सकता था कि वह कुछ मुट्ठी भर लोगों का प्रतिनिधित्व करती है। अब इसके साथ किसान, मज़दूर, दस्तकार, व्यापारी, व्यवसायी, कर्मचारी, पुरुष, महिलाएँ, बच्चे, बूढ़े, सभी लोग थे। पूरे देश में कहीं कोई ऐसी जगह नहीं थी, जहाँ इस आंदोलन का असर न पड़ा हो। बात दीगर है कि कहीं असर तेज़ था, कहीं कम।

इसी आंदोलन ने यह दिखाया कि हिंदुस्तान की वह जनता, जिसे फ़िरंगी मूर्ख, दीन-हीन समझते थे, आधुनिक राष्ट्रवादी राजनीति की वाहक हो सकती है, राजनीतिक संघर्ष शुरू कर सकती है। भारतीय जनता के त्याग और बलिदान ने दमनकारी सत्ता को जता दिया कि देश की आज़ादी की भूख पढ़े-लिखों को ही नहीं, निरक्षर जनता को भी सताती है। आज़ादी के लिए गुलाम देश का हर नागरिक संघर्ष करेगा। यह बात अलग है कि सभी लोग आज़ादी के लिए संघर्ष के सारे दाँव-पेंच एकदम से नहीं समझ सकते थे, अपेक्षित अनुशासन नहीं बरत पाते थे, लेकिन असहयोग आंदोलन की सबसे बड़ी सफलता यही रही कि उसने जनता को आधुनिक राजनीति से परिचित कराया, आज़ादी की भूख जगाई। यह पहला अवसर था, जब राष्ट्रीयता ने गाँवों, क़स्बों, स्कूलों, सबको अपने प्रभाव में ले लिया। शुरुआती दौर था यह। कमियाँ तमाम थीं, इसलिए सफलताएँ भी कम मिलीं। लेकिन जो कुछ भी हासिल हुआ, वह आगामी संघर्ष की पृष्ठभूमि तैयार करने में सहायक हुआ।

मलाबार की घटनाओं के बावजूद इस आंदोलन में बड़े पैमाने पर मुसलमानों की भागीदारी और सांप्रदायिक एकता आंदोलन की कोई छोटी उपलब्धि नहीं थी। मुसलमानों की भागीदारी ने ही इस आंदोलन को जनांदोलन का स्वरूप दिया, कुछ क्षेत्रों में तो गिरफ़्तार लोगों में दो तिहाई मुसलमान थे। लेकिन दुर्भाग्य की बात तो यह है कि बाद के वर्षों में, जब सांप्रदायिकता ने ज़ोर पकड़ लिया, तो राष्ट्रीय आंदोलनों में सांप्रदायिक सद्भाव का वह चरित्र बरक़रार

नोट

न रह सका। असहयोग आंदोलन में गाँधीजी व अन्य नेता मसज़िदों में भाषण देते थे, गाँधीजी ने मुसलमान औरतों की सभा में भाषण किया। लेकिन यह सौहार्द और एकता आज़ादी के लिए बाद के संघर्षों में नहीं दिखी।

फ़िलहाल, 12 फ़रवरी 1922 को आंदोलन में जो पड़ाव आया था, वह अस्थायी साबित हुआ। मांटाग्यू और बरकेनहेड ने चुनौती दी थी कि "भारत, दुनिया की सबसे शक्तिशाली सत्ता को चुनौती नहीं दे सकता और अगर चुनौती दी गई, तो इसका उत्तर पूरी ताक़त से दिया जाएगा।" गाँधी ने आंदोलन वापस लेने के बाद 23 फ़रवरी 1922 को 'यंग इंडिया' में अपने लेख में इस चुनौती का उत्तर दिया। "अँग्रेज़ों को यह जान लेना चाहिए कि 1920 में छिड़ा संघर्ष अंतिम संघर्ष है, निर्णायक संघर्ष है, फैसला होकर रहेगा, चाहे एक महीना लग जाए, या एक साल लग जाए, कई महीने लग जाएँ या कई साल लग जाएँ। अँग्रेज़ी हुकूमत चाहे उतना ही दमन करे जितना 1857 के विद्रोह के समय किया था, फ़ैसला होकर रहेगा।"

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

1. रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks)–

1. असहयोग आंदोलन सितंबर ····· में प्रारम्भ हुआ।
2. 5 फरवरी 1922 को चौरी-चौरा नामक स्थान पर भीड़ ने ····· को थाने में जिंदा जला दिया।
3. गाँधी जी ने ····· को आंदोलन वापस ले लिया।
4. बहिष्कार आंदोलन में सबसे सफल था ····· का बहिष्कार आंदोलन।
5. असहयोग आंदोलन में एक और कार्रवाई लोकप्रिय हुई, वह थी ····· पर धरना।

10.2 सविनय अवज्ञा आंदोलन 1930-1931 (Civil Disobidience Movement)

कांग्रेस की कार्यकारिणी को 1929 में हुई लाहौर कांग्रेस में यह अधिकार दिया गया था कि वह देश में सविनय अवज्ञा (सिविल नाफ़रमानी) आंदोलन छेड़े। इस आंदोलन में कर न अदा करना भी शामिल था। इसने विधान सभा के सदस्यों से विधायक पद से इस्तीफ़ा देने का भी आह्वान किया था। 1930 की मध्य फ़रवरी में साबरमती आश्रम में कांग्रेस कार्यकारिणी समिति की बैठक हुई जिसमें गाँधीजी को इस बात का अधिकार दिया गया कि वे अपनी इच्छा से जब और जिस जगह से चाहें, सविनय अवज्ञा आंदोलन का शुभारंभ कर सकते हैं। गाँधीजी जन-आंदोलनों के माने हुए विशेषज्ञ थे, वे "गंभीरता से जन-संघर्ष छेड़ने के लिए प्रभावी तरीक़ा तलाश कर रहे थे।" हर प्रकार से न्यूनतम माँगों वाली 31 जनवरी की उनकी चेतावनीभरी माँग को, जिसमें न्यूनतम माँगों का 11-सूत्रीय माँगपत्रा पेश किया गया था, लॉर्ड इरविन ने अनदेखा कर दिया था। इसलिए अब सिर्फ़ एक ही रास्ता बचा था–सविनय अवज्ञा का।

फ़रवरी के अंत में जैसे-जैसे गाँधीजी ने नमक की बात करनी शुरू की, सत्याग्रह का सूत्र स्पष्ट होने लगा और 2 मार्च को गाँधीजी ने वाइसराय को अपना पत्र लिखा जिसमें उन्होंने विस्तार से स्पष्ट किया कि वे क्यों ब्रिटिश राज को अभिशाप मानते हैं। "लगातार शोषण करने वाली व्यवस्था क़ायम करके इसने असंख्य दीनहीन लोगों को दरिद्र बना दिया है...राजनीतिक रूप से इसके कारण हमारी अवस्था भूदासों की हो गई है। इसने हमारी संस्कृति की चूलें हिला दी हैं...इसके कारण हमारा आध्यात्मिक अध:पतन हुआ है।" इसके बाद गाँधीजी ने अपनी भावी कार्ययोजना की सूचना दी थी, जैसा कि उनका विश्वास था कि हर सत्याग्रही को करना चाहिए–

> '...इस महीने की 11वीं तारीख को मैं आश्रम के अपने कुछ ऐसे सहयोगी कार्यकर्ताओं को लूँगा, जिनको मैं ले सकता हूँ और नमक क़ानून तोड़ूँगा। मैं जानता हूँ कि आप मुझे गिरफ़्तार करके मुझे ऐसा करने से रोक सकते हैं लेकिन मुझे उम्मीद है कि मेरे बाद भी हज़ारों-लाखों लोग इस काम को एकदम अनुशासित तरीक़े से करने के लिए तैयार रहेंगे। इस नमक क़ानून को तोड़ने में उनको जो भी सज़ा दी जाएगी उसे भुगतने के लिए तैयार रहेंगे, ऐसा कानून जो क़ानून की पुस्तक में कलंक जैसा है।"

नोट

इसकी योजना बहुत समझदारी से बनाई गई यद्यपि शुरू में इसकी घोषणा के समय बहुत कम लोगों ने इसके महत्त्व को समझा था। गाँधीजी को, साबरमती आश्रम के अपने 78 सहयोगियों के साथ अहमदाबाद मुख्यालय से गुजरात के गाँवों में होते हुए 240 मील की यात्रा करनी थी। उनके इस कार्य के सहयोगियों में भारत के सभी क्षेत्रों और धर्म के लोग शामिल थे। दांडी में समुद्र के किनारे पहुँचकर गाँधीजी को नमक़ कानून तोड़ना था। ऊपर से हानि रहित दिखने वाला आंदोलन भयंकर साबित हुआ। भविष्य में होने वाली इस नाटकीय घटना की उम्मीद में लोग हज़ारों की संख्या में पहले से ही साबरमती आश्रम में एकत्र होने लगे थे। गाँधीजी ने अत्यंत मेहनत से लोगों को अपनी योजना समझाई, भविष्य की कार्रवाई के लिए निर्देश दिए, लोगों को अहिंसा का महत्त्व समझाया और इस बात के लिए उनको तैयार किया कि सरकार से उन्हें किस बात की उम्मीद करनी चाहिए और किस बात की उम्मीद नहीं करनी चाहिए–

जहाँ भी हो सके नमक़ कानून को लेकर सिविल नाफ़रमानी शुरू की जानी चाहिए। शराब और विदेशी कपड़ों की दुकानों के सामने धरना दिया जाना चाहिए। यदि हम लोगों में अपेक्षित शक्ति हो तो हम कर अदा करना अस्वीकार कर सकते हैं। वकील अपनी वकालत बंद कर सकते हैं। आम लोग अपने मुक़द्दमें कचहरी तक न ले जाकर उसका बहिष्कार कर सकते हैं। सरकारी नौकर अपने पदों से इस्तीफा दे सकते हैं...मैं केवल एक शर्त रखता हूँ। स्वराज्य पाने की सत्य और अहिंसा की हमारी प्रतिज्ञा का ईमानदारी से पालन किया जाना चाहिए।

सिविल नाफरमानी की ताक़त की व्याख्या करते हुए गाँधीजी ने कहा–

"मान लें कि भारत के 7 लाख गाँवों में से हर एक से दस व्यक्ति सत्याग्रह में भाग लेकर नमक क़ानून तोड़ते हैं, वैसी स्थिति में आपके विचार में यह सरकार क्या कर सकती है। भयंकर तानाशाह भी, आप सोचिए कि शांतिपूर्ण ढंग से प्रतिरोध करने वाली विशाल जन सेना को तोप की नली से नहीं उड़ा सकता। यदि आप बहुत थोड़ा भी इस काम में लग गए, तो हम आपको पूरा विश्वास दिलाते हैं कि बहुत कम समय में हम इस सरकार को थका डालेंगे।"

गाँधीजी ने यह भी स्पष्ट किया कि किस प्रकार अहिंसा के कारण ज़्यादा-से-ज़्यादा लोगों की इसमें भागीदारी संभव है और इससे सरकार विचित्र असमंजस में फँस जाएगी। 10 मार्च को आश्रम पहुँची जनता की भीड़ को संबोधित करते हुए गाँधीजी ने कहा था–

"यद्यपि लड़ाई एक-दो दिनों के बाद आरंभ होने वाली है, कैसे संभव हुआ कि आप बेखटके यहाँ पहुँच गए? मैं नहीं समझता कि यदि आप को गोली और बम का सामना करना होता तो आप में से कोई भी व्यक्ति यहाँ दिखाई देता। क्यों? माने लीजिए कि यदि यह घोषणा करता कि मैं हिंसक अभियान आरंभ करने जा रहा हूँ जरूरी नहीं कि इसमें भागीदार लोग बंदूकों से लैस हों, वे लाठी, डंडे और पत्थरों से भी लैस हो सकते हैं) तो क्या आप सोचते हैं कि सरकार मुझे खुला छोड़ देती? क्या इतिहास में आप ऐसी मिसाल पेश कर सकते हैं चाहे अमरीका हो, इंग्लैंड हो अथवा रूस हो जहाँ की राजसत्ता ने हिंसापूर्ण विद्रोह को एक दिन के लिए भी बर्दाश्त किया हो? लेकिन यहाँ आप देख रहे हैं कि सरकार दुविधा और परेशानी में पड़ गई है।"

अपने समर्पित कार्यकर्ताओं के साथ हाथ में लाठी लेकर गाँधीजी ने जब यह यात्रा शुरू की तो इस दृश्य में कुछ ऐसा जादू था कि लोगों का मन आंदोलित हो उठा। गाँधीजी के आगे बढ़ने का समाचार अख़बारों के जरिए देश के कोने-कोने तक पहुँचने लगा। उनके व्याख्यानों के बारे में, हज़ारों लोगों द्वारा उनका स्वागत करने और यात्रा में उनके साथ हो लेने के विषय में, मार्ग में तोरण-द्वार आदि बनाकर और उस पर झंडे आदि लगाकर उनके प्रति प्यार जताने के बारे में, जहाँ से गाँधीजी गुजरते थे वहाँ सड़क के किनारे बैठ चरखा चलाकर उनके प्रति लोगों द्वारा सम्मान जताने के बारे में, गाँधीजी के आह्वान पर गुजरात के 300 ग्राम अधिकारियों द्वारा अपने पदों से त्यागपत्र देने के बारे में भी ख़बरें अख़बारों ने प्रकाशित कीं और समूचे देश को इन गतिविधियों से अवगत कराया। हज़ारों कांग्रेस कार्यकर्ताओं ने आख्यानों के जरिए जनता के सामने इसकी जीवंत तस्वीर पेश की। जब गाँधीजी दांडी पहुँचे तब समूचा देश उत्तेजित होकर आशा भरी नज़रों से देखने लगा था और गाँधीजी द्वारा अंतिम निर्देश की प्रतीक्षा करने लगा था। 1930 को 6 अप्रैल के दिन एक मुट्ठी नमक हाथ में लेकर गाँधीजी ने सिविल नाफ़रमानी आंदोलन का

नोट

श्रीगणेश किया। यह ऐसा आंदोलन था जो राष्ट्रीय आंदोलन के इतिहास में आम जनता की भागीदारी की दृष्टि से बेमिसाल था।

जिस समय गाँधीजी दांडी की तरफ़ आगे बढ़ रहे थे, उस समय कांग्रेस के नेता और कार्यकर्ता विभिन्न स्तरों पर संगठन-संबंधी कठिन कामों में व्यस्त थे। स्वयंसेवकों और सदस्यों की भर्ती कर रहे थे, निचले स्तर पर कांग्रेस समितियों का गठन कर रहे थे, कोष एकत्र कर रहे थे और गाँवों तथा क़स्बों में घूम-घूमकर राष्ट्रीय संदेश पहुँचा रहे थे। नमक़ सत्याग्रह की शुरुआत के लिए तैयारियाँ की गईं, स्थानों का चयन किया गया, स्वयंसेवकों को तैयार किया गया तथा संघर्ष के लिए साधनों का हिसाब लगाया गया।

एक बार जब गाँधीजी ने दांडी में दमन हाथ में लेकर इसके शुरू होने की रस्म पूरी कर दी तो नमक क़ानून तोड़ने का सत्याग्रह समूचे देश में शुरू हो गया। तमिलनाडु में तंजौर के समुद्री तट पर चक्रवर्ती राजगोपालचारी ने, त्रिचिनापल्ली से वेदारण्यम की नमक यात्रा प्रारंभ की और 30 अप्रैल को जब उनको गिरफ़्तार किया गया तो उनके शिविर में इतने अधिक लोग एकत्र हो चुके थे कि उनकी मदद से यह सत्याग्रह काफ़ी समय तक चलता रहा। मालाबार में वैकम सत्याग्रह के नायक ने नमक क़ानून तोड़ने के लिए कालीकट से पयान्नर तक की यात्रा की। सत्याग्रहियों का एक दल असम के सिलहट स्थान से बंगाल के नोवाखाली समुद्र तट तक नमक बनाने के लिए पहुँचा था। आंध्र प्रदेश के विभिन्न ज़िलों में नमक सत्याग्रह के मुख्यालय के रूप में काम करने के उद्देश्य से 'शिविरम' (सैनिक शिविरों की तर्ज पर) स्थापित किए गए थे तथा सत्याग्रहियों के जत्थे गाँवों से होते समुद्र-तट की तरफ़ नमक क़ानून को चुनौती देने के लिए बढ़ते चले गए थे। लौटते समय वे दूसरे-दूसरे गाँवों से होते हुए आए थे। नमक क़ानून भंग करने पर सरकार गाँधीजी को गिरफ़्तार करने में असफल रही। स्थानीय स्तर के नेताओं ने इसको अपने पक्ष में इस्तेमाल किया और लोगों को यह समझाकर प्रभावित किया कि "हम लोगों से सरकार भयभीत हो गई है।" और यह कि "जब से नमक सत्याग्रह आरंभ हुआ है, सरकार गायब हो गई है। यह कहीं जाकर छिप गई है और गाँधीजी की सरकार कायम हो गई है।" 14 अप्रैल को नमक क़ानून तोड़ने के जुर्म में जवाहरलाल नेहरू को गिरफ़्तार कर लिया गया। इसके जवाब में मद्रास, कलकत्ता और कराची आदि नगरों में प्रदर्शन हुए और प्रदर्शनकारियों की विशाल भीड़ और पुलिस के बीच टकराव हुए।

पेशावर (पश्चिमोत्तर प्रांत) में जनाक्रोश की अभिव्यक्ति कई रूपों में देखने को मिली जहाँ कांग्रेस नेताओं की गिरफ़्तारी को लेकर जनता ने अभूतपूर्व प्रदर्शन किया। इस इलाक़े में खान अब्दुल गफ़्फार खाँ वर्षों से सक्रिय थे और उनके द्वारा जनता में किए गए काम की वजह से अहिंसक क्रांतिकारियों के बहादुर जत्थे यानी ख़ुदाई ख़िदमतगारों के दल तैयार हुए थे। ये लोग 'लालकुर्ती' के नाम से जाने जाते थे। सिविल नाफ़रमानी आंदोलन में इनकी भूमिका काफ़ी सक्रिय थी। उस ज़माने में उनके काम की वजह से जो माहौल बना था, पेशावर में जन-उभार के पीछे उसका बहुत बड़ा हाथ था जिसके कारण एक सप्ताह से भी अधिक समय तक पेशावर पर आम लोगों का नियंत्रण रहा। पेशावर की घटनाएँ इसलिए भी काफ़ी महत्त्वपूर्ण थीं कि गढ़वाल रेजिमेंट के सिपाहियों ने निहत्थी भीड़ पर गोली चलाने से इनकार कर दिया था।

धीरे-धीरे यह बात साफ़ होती जा रही थी कि सरकार द्वारा खेला गया जुआ उसके लिए फ़ायदेमंद नहीं हुआ। सरकार ने सोचा था कि यदि आंदोलन में हस्तक्षेप न किया गया तो यह अपने आप टाँय-टाँय-फिस्स हो जाएगा और गाँधीजी की नमक की रणनीति का कोई नतीज़ा नहीं निकलेगा। वस्तुतः सरकार को पता ही नहीं था कि इस आंदोलन के प्रति वह क्या रास्ता अपनाए और जैसा कि गाँधीजी ने अनुमान लगाया था, सरकार "दिग्भ्रमित और भौंचक्की" रह गई थी। सरकार जिस दुविधा में फँसी थी, उसे उस दुविधा में डालने के लिए ही गाँधीजी ने अहिंसात्मक तरीक़े के सविनय अवज्ञा आंदोलन की रणनीति बनाई थी। सरकार ज़बरदस्त संकट में थी, "इसको दबाने में संकट और न दबाने में भी संकट, यानी कि यदि सरकार उस आंदोलन को नहीं दबाती तो खुलेआम उसके क़ानून की धज्जियाँ उड़ जाती हैं, इससे प्रशासन की ताक़त कमज़ोर होती है और जनता पर पकड़ ढीली होती है। लेकिन यदि सरकार इसका दमन करती है तो लोगों की निग़ाह में इसकी एक नृशंस और जन-विरोधी सरकार की छवि बनती है, ऐसी

नोट

सरकार जिसने शांतिपूर्ण आंदोलन को दबाने के लिए हिंसक तरीक़ा अख़्तियार किया है। यदि हम कुछ ज़्यादा कहें तो कांग्रेस चिल्लाकर कहेगी 'दमन हो रहा है', और यदि हम नाममात्र का प्रतिरोध करें तो कांग्रेस कहेगी–'हम जीत गए' मद्रास के एक सरकारी अधिकारी ने 1930 में अपनी दुविधाग्रस्त स्थिति को व्यक्त करते हुए यह बात कही थी। दोनों ही स्थितियों में ब्रिटिश सरकार के प्रभुत्व को धक्का लगना था।

तेजी से फैलते हुए आंदोलन के कारण सरकार को अपने चेहरे पर पड़ी प्रजा-वात्सलता का नक़ाब उठाना पड़ा और उसने फ़ौज का इस्तेमाल किया। अधिकारियों, गवर्नरों तथा सैनिक अधिकारियों की ओर से दबाव पड़ने लगे थे। अंतत: 4 मई को वायसराय ने आदेश जारी किया कि गाँधीजी को गिरफ़्तार किया जाए। गाँधीजी ने ऐलान किया था कि 'धरासना नमक निर्माणशाला' पर अपने साथियों को लेकर वे धावा बोलेंगे और इस तरह वे अपना नमक़ क़ानून तोड़ने का काम जारी रखेंगे। इस प्रकार प्रशासन को मजबूर होना पड़ा लेकिन गिरफ़्तारी के समय का चुनाव बहुत ग़लत था। तो इससे सरकार को वह लाभ मिला जो शुरू में ही प्रहार करने पर मिला होता और गाँधीजी को आंदोलन में तेज़ी लाने से रोक दिया होता, न इसे सरकार की इस नीति को सफलता मिली कि यह तो अपने आप ही समाप्त हो जाएगा जिसका सरकार को फ़ायदा मिलेगा। आंदोलन में तीव्रता आने के बाद नतीज़ा उलटा हुआ और इससे गतिविधियों में और तेज़ी आ गई। यह सरकार के लिए बेशुमार परेशानियों का कारण बना।

गाँधीजी की गिरफ़्तारी का लोगों ने ज़बरदस्त विरोध किया। बम्बई में लोगों की बहुत बड़ी भीड़ सड़कों और गलियों में निकल आई। यह भीड़ इतनी अधिक थी कि पुलिस को पीछे हटना पड़ा। इसमें रेलवे और सूती मिलों में काम करने वाले मज़दूर हजारों की संख्या में जमा थे। कपड़ा व्यापारियों ने छह दिन की हड़ताल रखी। दिल्ली और कलकत्ता में पुलिस के साथ टकराव हुए और गोली भी चली। लेकिन महाराष्ट्र के शोलापुर नगर में इसकी प्रक्रिया सबसे उग्र थी। इस क़स्बे में सूती मिल मज़दूरों की तादाद बहुत अधिक थी। 7 मई से वे हड़ताल पर चले गए तथा क़स्बे के अन्य नागरिकों के साथ मिलकर उन लोगों ने शराब की दुकानें जलाईं और उन सभी प्रतिष्ठानों पर आक्रमण के लिए निकल पड़े जो सरकार की शक्ति के प्रतीक थे यानी रेलवे स्टेशन और नगरपालिका के भवन आदि। उन लोगों ने क़स्बे पर क़ब्ज़ा कर लिया और लगभग एक समानांतर सरकार क़ायम कर ली और 16 मई को मार्शल लॉ लागू करने के बाद ही इसको समाप्त किया जा सका था।

टास्क लाल कुर्ती आंदोलन से आप क्या समझते हैं?

21 मई को सरोजिनी नायडू (जिनको अख़िल भारतीय कांग्रेस की प्रथम महिला अध्यक्ष होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था), गाँधीजी के अफ्रीका संघर्ष के दिनों के दोस्त इमाम साहब तथा गाँधीजी के पुत्र मणिलाल 2000 कार्यकर्त्ताओं को अपने साथ लेकर इनका नेतृत्व करते हुए उस घेरे की तरफ़ दृढ़तापूर्वक बढ़े जो धरासना नमक कारख़ाने की रक्षा के लिए बनाया गया था। जैसे ही वे नजदीक पहुँचे वैसे ही लोहे की मुठवाली लाठी लेकर के पुलिस आगे बढ़ी और निहत्थे सत्याग्रहियों पर तब तक लाठी बरसाती रही जब तक कि घायल होकर वे ज़मीन पर गिर नहीं पड़े। घायलों को वहाँ से हटाने का काम उनके अन्य सत्याग्रही साथियों ने किया और उनकी जगह दूसरा जत्था आगे बढ़ा। उनके साथ भी वही हुआ और यही क्रम आगे तक जारी रहा। इसी तरह जत्थे के बाद जत्था आगे बढ़ता रहा। थोड़े समय बाद उस घेरे को तोड़ने के बजाए लोग रास्ते में बैठ जाते थे और पुलिस की लाठियों की प्रतीक्षा करते थे। रक्षा के लिए किसी ने अपना हाथ तक नहीं उठाया। और 11 बजे दोपहर तक, जबकि छाया में तापमान 46 फारेनहाइट था, 320 लोग घायल हो चुके थे और दो लोग अपने प्राण गँवा चुके थे। अमरीकी पत्रकार मिलर ने इसका ब्यौरा दिया है। उसके ब्यौरे में भारतीय राष्ट्रवाद की खुशबू है जिसे कई देशों तक उसने पहुँचाया था तथा उसके द्वारा सत्याग्रहियों के शौर्य प्रदर्शन के विवरण ने अत्यंत प्रभावशाली तरीक़े से स्पष्ट किया कि अहिंसात्मक प्रतिरोध कोई कायरों का काम नहीं है। उसके विवरण का संक्षेप इस प्रकार है–

नोट

"बीसेक देशों में समाचार भेजने के अपने कार्यकाल के 18 वर्षों के दौरान मैंने असंख्य नागरिक विद्रोह देखे हैं, दंगे, गली-कूचों में मारकाट और विद्रोह देखे हैं, लेकिन धरासना जेसा भयानक दृश्य मैंने अपने जीवन में कभी नहीं देखा है।"

नमक सत्याग्रह के नए रूप को जनता ने बड़ी उत्सुकता से अपना लिया और देखते-देखते यह जन-आंदोलन में बदल गया। बंबई के बाहरी किनारे पर स्थित बड़ाला में नमक के कारख़ानों पर धावा बोला गया। 1 जून को 15,000 लोगों की भीड़ ने सामूहिक कार्रवाई कर डाली, यह कार्रवाई पूर्ववर्ती कार्य की परिणति थी। ये लोग बहादुरी से पुलिस को चुनौती देते हुए घेरा तोड़कर वहाँ से नमक ले गए। कर्नाटक में 10,000 लोगों ने सैनीकट्र्टा नमक कारख़ाने पर धावा बोला और लाठियाँ तथा गोलियाँ खाईं। मद्रास में नमक क़ानून तोड़ने की वजह से जनता और पुलिस के बीच टकराव हुए और 23 अप्रैल को समुद्र के किनारे विरोध जताने के लिए जनसभा आयोजित की गई। इस प्रदर्शन में जनता को तितर-बितर करने के लिए पुलिस ने लाठियों तथा गोलियों का प्रयोग किया था और तीन लोगों की मौत हो गई थी। इस घटना से पूरा शहर नस्ली आधार पर दो हिस्सों में बँट गया। यहाँ तक कि उदार-से-उदार व्यक्ति ने भी इसकी निंदा की तथा वह राष्ट्रवादी कांग्रेसियों का समर्थक बन गया। आंध्रप्रदेश में महिलाओं के जत्थे मीलों चलकर नमक क़ानून को चुनौती देने पहुँचे थे और बंगाल में पुराने गाँधीवादी आश्रमों में नगरों से बड़ी संख्या में स्वयंसेवकों के आने से फिर से जान आ गई। इससे मिदनापुर के इलाक़े में नमक सत्याग्रह काफ़ी समय तक चलता रहा। इसके साथ दूसरे इलाक़ों में भी नमक सत्याग्रह चलाया गया। उड़ीसा में बालासोर, पुरी और कटक ज़िले गैरक़ानूनी तौर पर नमक निर्माण के मुख्य केंद्र बने रहे।

इस दौर में राजसत्ता को दी जाने वाली अनेक प्रकार की चुनौतियों को बढ़ावा देने के लिए 'नमक सत्याग्रह' ने प्रारंभ में उत्प्रेरक का काम किया। गिरफ़्तारी के पहले ही गाँधीजी ने ज़ोरदार तरीक़े से विदेशी कपड़ों तथा शराब के बहिष्कार का आह्वान किया था। उन्होंने महिलाओं से विशेष रूप से इसमें अग्रगामी भूमिका निभाने के लिए कहा था। गाँधीजी ने एक बार कहा था, "महिलाओं को कमज़ोर कहना उनका अपमान है यह पुरुषों का महिलाओं के प्रति अन्याय है।" और 1930 में भारत की महिलाओं ने विशेष रूप से यह दिखा दिया कि वे शक्ति और सामर्थ्य में किसी से कम नहीं हैं। जो महिलाएँ अकेले कभी अपनी देहरी से बाहर नहीं निकली थीं, जो पर्दे में रही थीं, वे युवा माताएँ और विधवाएँ और अविवाहित लड़कियाँ अकसर सबेरे से लेकर शाम तक शराब की दुकानों के सामने तथा विदेशी कपड़ों की दुकानों और नशीले पदार्थों की दुकानों के आगे धरना दिए नज़र आती थी। उस समय यह दृश्य बहुत सामान्य था। वे चुपचाप लेकिन दृढ़तापूर्वक लोगों से (ग्राहकों से) आग्रह करती थीं, कि वे अपना दृष्टिकोण बदलें।

विदेशी कपड़ों तथा शराब के बहिष्कार में छात्रों और नौजवानों की भूमिका भी काफ़ी महत्त्वपूर्ण थी। उदाहरण के लिए बंबई में व्यवसाय वाले इलाकों में नियमित रूप से कांग्रेस के संतरियों को नियुक्त किया जाता था कि वे देखें कि कोई भी व्यापारी या विक्रेता विदेशी सामान के बहिष्कार के सत्याग्रह का उल्लंघन न करे। इस बहिष्कार को क्रियान्वित करने में व्यापारियों के संगठन खुद भी काफ़ी सक्रिय थे। कई मिलमालिकों ने विदेशी धागे का इस्तेमाल बंद कर दिया और शपथ ली कि वे ऐसा कोई मोटा कपड़ा नहीं बनाएँगे जिसकी स्पर्धा खादी से हो। जिन लोगों ने इसका उल्लंघन किया, उस पर संघ/संगठन की ओर से दंड लगाए गए, उनका सामाजिक बहिष्कार किया गया। कांग्रेस ने उनको 'काली सूची' में रखा तथा उनकी दुकानों के सामने धरने दिए गए। शराब के बहिष्कार के कारण आबकारी शुल्क कम हो गया। इससे सरकारी राजस्व को काफ़ी नुक़सान हुआ। इस आंदोलन ने एक और तरह वे जन-आंदोलन का रूप ग्रहण किया और ताड़ी के वृक्षों का सिर लोगों ने काट डाला।

शराब और नशीली चीज़ों के बहिष्कार का कारण भारतीय जनता के बीच वह लोकप्रिय परंपरा थी जिसमें मदिरा न पीने को गुण माना जाता था और उस व्यक्ति को सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था। इस परंपरा की गहरी जड़ों को इस तथ्य से समझा जा सकता है कि जो भी नीची जाति के लोग जातिगत सोपान में ऊपर उठना चाहते हैं तो शराब छोड़कर ऊँची जाति के होने की अपनी हैसियत क़ायम करने की कोशिश करते हैं। मांस खाना भी छोड़ देते हैं।

कर न अदा करने के अभियान का मुख्य स्थल पूर्वी भारत था जहाँ चौकीदारी के लिए कर अदा करने से लोगों ने मना कर दिया। ख़ास तौर से गाँवों से जो कर दिया जाता था उसका एक हिस्सा चौकीदारों के लिए हुआ करता

नोट

था। चौकीदार गाँव के रक्षक होते थे और पुलिस बल की छोटी इकाई के पूरक के रूप में काम करते रहते थे। पूर्वी क्षेत्र में इनकी मुख्य भूमिका थी। इन चौकीदारों से लोग बहुत घृणा करते थे क्योंकि सरकार की ओर से ये खुफियागिरी करते थे तथा ज़मीदारों के ये पालतू होते थे। इस कर के ख़िलाफ़ और चौकीदारों और चौकीदारी पंचायत के प्रभावशाली सदस्यों के इस्तीफ़े की माँग को लेकर ज़बरदस्त आंदोलन चलाया गया। ये ही सदस्य चौकीदारों को नियुक्त किया करते थे। इस आंदोलन का श्रीगणेश मई के महीने में बिहार में किया गया क्योंकि समुद्र न होने के कारण वहाँ पर नमक आंदोलन की कोई गुंजाइश नहीं थी। उदाहरण के रूप में मुंगेर, भागलपुर और सारन ज़िलों में कर अदा करने से लोगों को मना कर दिया गया और चौकीदारों को त्याग-पत्र देने के लिए प्रेरित किया गया। जिन लोगों ने कोई आनाकानी की अथवा प्रतिरोध जताया, उनका सामाजिक बहिष्कार किया गया। सरकार ने कुछ रूपयों के बदले सैकड़ों हज़ारों की संपत्ति जब्त करके इसका बदला लिया। लोगों को मारा-पीटा गया, यातानाएँ. दी गईं। मामला तब अपनी चरम सीमा पर पहुँचा जब 31 मई को भागलपुर जिले के बिहपुर गाँव में अपने क्षीण होते हुए प्रभाव को पुन: प्रतिष्ठित करने के लिए पुलिस ने कांग्रेस आश्रम को अपने क़ब्ज़े में ले लिया। इस क्षेत्र में राष्ट्रवादी गतिविधियों का यह मुख्यालय था। आश्रम पर पुलिस के क़ब्ज़ा करने से रोज-रोज आश्रम के बाहर प्रदर्शन होने आरंभ हो गए। पटना से राजेंद्रप्रसाद और अब्दुल बारी जब वहाँ दौरे पर गए तो एक विशाल रैली का आयोजन किया गया। इस रैली को तोड़ने के लिए पुलिस ने लाठियों का प्रयोग किया। अन्य लोगों के साथ राजेंद्रप्रसाद को भी चोटें आईं। अन्य जगहों की तरह यहाँ भी दमन के कारण राष्ट्रवादी गतिविधियों की शक्ति और बढ़ गई और स्थिति ऐसी हो गई कि देहाती इलाक़ों में पुलिस का घुसना असंभव हो गया।

बंगाल में मानसून चालू होने से नमक बनाने में दिक्कत आई इसलिए आंदोलन नमक से हटकर चौकीदारी और यूनियन बोर्ड विरोधी आंदोलन में बदल गया। यहाँ भी गाँव के लोगों को भयंकर दमन का सामना करना पड़ा। हज़ारों की संपत्ति ज़ब्त की गई या नष्ट कर दी गई। पुलिस के आक्रोश से बचने के लिए लोगों को भाग कर जंगलों में भी छिपना पड़ा।

गुजरात में खेड़ा ज़िले में, बारदोली तहसील (सूरत ज़िला) में और भड़ौंच ज़िले के जंबूसर में कर न अदा करने का एक सबल आंदोलन तेज़ी से चलाया जा रहा था। यहाँ पर लोगों ने भूमिकर (भूराजस्व) अदा करने से इनकार कर दिया था। हज़ारों की तादाद में अपने परिवार के लोगों, मवेशियों तथा घर की चीज़ें लेकर गाँव के लोग ब्रिटिश नियंत्रण वाले भारत से निकलकर बड़ौदा जैसे रजवाड़े वाले इलाक़े में चले गए थे और वहाँ महीनों मैदानों में डेरा डाले रहे।

उनके घरों को तोड़कर और उनमें घुसकर चीज़ें नष्ट कर दी गईं। पुलिस ने तो सरदार वल्लभभाई पटेल की 80 वर्ष की माँ को भी नहीं बख्शा, जो करमसाड़ के अपने गाँव के मकान में बैठी खाना पका रही थीं। उनके खाना पकाने के बरतनों को उठाकर फेंक दिया गया, उनमें कंकड़-पत्थर और मिट्टी का तेल भर दिया गया। 1930 के दौरान वल्लभभाई अधिकांश समय जेल में रहे और थोड़े दिनों के लिए जब भी बाहर निकले अपने गाँव और आसपास के इलाक़ों में कठिन जीवन-यापन कर रहे किसानों को लगातार ढाढस बँधाते और प्रोत्साहित करते रहे। यद्यपि उनके थोड़े-बहुत साधन जल्दी ही चुक गए, उनके मन में पराजय बोध घर करने लगा लेकिन हार न मानकर वे जंगलों में डटे रह। वे तभी अपने घरों को लौटे जब मार्च 1931 को शांति क़ायम हो गई।

महाराष्ट्र, कर्नाटक और मध्य भारत में वन नियमों के उल्लंघन का आंदोलन भी विशाल जनांदोलन का रूप ले चुका था। इसमें विशेष रूप से वे क्षेत्र शामिल थे जिनमें जन-जातियाँ रहती थीं। उपनिवेशवादी सरकार ने वनों के उपयोग पर कड़े प्रतिबंध लगा रखे थे और उन प्रतिबंधों से ये लोग सबसे अधिक प्रभावित थे। कुछ जगहों में तो वन क़ानून तोड़ने वाली भीड़ का आकार इतना बड़ा हो जाता था कि लोगों की संख्या 70,000 से भी अधिक हो जाया करती थी।

असम में कुख्यात "कनिंघम सरकुलर" के विरोध में छात्रों के नेतृत्व में एक शक्तिशाली आंदोलन चलाया गया था जिसमें छात्रों और उनके अभिभावकों से सद्व्यवहार' का प्रमाणपत्र प्रस्तुत करने के लिए कहा गया था।

लगता है कि जनता ने जवाहरलाल नेहरू के संदेश को हृदय से धारण कर लिया था। दिसंबर 1929 में लाहौर में राष्ट्रीय झंडा फहराते हुए जवाहरलाल नेहरू ने अपने संदेश में कहा था-"एक बार फिर आपको याद रखना है कि अब यह झंडा फहरा दिया गया है, जब तक एक भी हिंदुस्तानी मर्द, औरत या बच्चा जिंदा है, इसे झुकना नहीं चाहिए।"

नोट

भयंकर और कठिन नृशंसता के सामने भी राष्ट्रीय झंडे के सम्मान की रक्षा का प्रयास बहुधा विचित्र प्रकार की बहादुरी का रूप धारण कर लेता था। आंध्र प्रदेश के तटीय इलाक़े बुंदुर में टोटा नरसैया नायडू, पुलिस बल के 15 लोगों के दल से मार खाते-खाते बेहोश होकर गिर गए लेकिन राष्ट्रीय झंडा नहीं छोड़ा। कालीकट में पी. कृष्ण पिल्लै पर जो बाद में चलकर बहुत बड़े कम्युनिस्ट नेता बने–वैसा ही लाठी प्रहार किया गया जैसा नायडू पर किया गया था। सूरत में छोटे-छोटे बच्चों ने पुलिस को चुनौती देने के लिए अपनी विलक्षण प्रतिभा का उपयोग किया। जब उनके हाथ से बार-बार राष्ट्रीय झंडा छीना गया तो परेशान होकर उन्होंने एक नया उपाय निकाला। उन लोगों ने तिरंगें की ही अपनी ड्रेस सिलवाई। उस ड्रेस को पहनकर शान से सड़कों और गलियों में वे सारे जीवित झंडे घूमते रहे और पुलिस को चुनौती देते रहे। पुलिस उनके इस राष्ट्रीय झंडे को उनसे नहीं छीन सकी। राष्ट्रीय चेतना का प्रतीक राष्ट्रीय झंडा अब दूर-दराज़ के ग्रामांचल में भी प्राय: दिखाई पड़ने लगा था।

उत्तर प्रदेश में आंदोलन का दृश्य और भी भिन्न क़िस्म का था। यहाँ पर 'कर न दो, लगान न दो' का आंदोलन चलाया गया। कर न देने का आह्वान ज़मींदारों के लिए था। उनसे निवेदन किया गया था वे सरकार को राजस्व न दें और लगान न देने का आग्रह किसानों से था ताकि ज़मींदारों को वे लगान न दें। चूँकि अधिकांशत: जमींदार सरकार के प्रति वफ़ादार थे, इसलिए यथार्थ रूप में लगान-विरोधी आंदोलन का रूप ही प्रमुख रहा। आरंभिक महीनों में सविनय अवज्ञा आंदोलन काफ़ी मजबूत था लेकिन सरकारी दमन-चक्र के कारण बाद में इसकी पकड़ कमज़ोर पड़ गई और मालगुज़ारी न देने का अभियान बंद नहीं हुआ। लेकिन अक्तूबर में इसने फिर ज़ोर पकड़ा। जब जवाहरलाल नेहरू थोड़े समय के लिए जेल से छूटकर बाहर आए तो उन्होंने उत्तर प्रदेश कांग्रेस समिति को मालगुज़ारी-विरोधी आंदोलन चलाने की स्वीकृति दी। दो महीने तो गंभीर रूप से तैयार होने और उसका व्यापक प्रचार करने में लगे। इसके बाद सितंबर में पुन: यह अभियान छेड़ा गया। जनवरी तक दमन का इतना अधिक ज़ोर हुआ कि मजबूर होकर बहुत से किसान गाँव छोड़कर भाग कए। आगरा और रायबरेली के ज़िले इस अभियान के मुख्य केंद्र थे।

जनता को हरकत में लाने के अनेक रूपों को इस आंदोलन ने लोकप्रिय बनाया। गाँवों और क़स्बों में 'प्रभात फेरियाँ' नियम-सी बन गई थीं जिसमें औरत और बच्चे प्रात:काल झुंड बनाकर राष्ट्रीयगान गाते हुए गली-गली घूमा करते थे। पत्रिकाएँ अथवा ग़ैरक़ानूनी सूचना पत्र जो कभी तो हाथ से लिखे होते थे और कभी साइक्लोस्टाइल रूप से हुआ करते थे, घृणित प्रेस अधिनियम को तोड़ने के लिए बनाई गई रणनीति के अभिन्न अंग थे और इनकी संपूर्ण देश में मानो बाढ़-सी आई हुई थी। गाँवों तक राष्ट्रीय संदेश पहुँचाने के लिए 'जादुई लालटेनें काम में लाई जाती थीं। और पहले की तरह ही, कार्यकर्ताओं और नेताओं द्वारा लगातार दौरे, स्त्री-पुरुषों के दलों द्वारा दौरे और उसके दौरान सभाएँ, बैठकें और छोटी-बड़ी जनसभाएँ आंदोलन का केंद्रीय आधार रहीं। बच्चों की 'वानर सेना' संगठित की गई और एक स्थान पर लड़कियों ने अलग से अपनी माजेरी सेना बनाने की माँग रखी।

पूरे 1930 के दौरान सरकार दुविधापूर्ण रुख अख़्तियार किए रही। काफ़ी सोच-विचार करके बाद में चलकर गाँधीजी को गिरफ़्तार किया गया था। उसके बाद जनता के नागरिक अधिकारों में कटौती के अध्यादेश जारी किए गए तथा प्रांतीय सरकारों को सिविल नाफ़रमानी वाले संगठनों पर प्रतिबंध लगाने की छूट दी गई। लेकिन जून के अंत तक कांग्रेस कार्यकारिणी को ग़ैरकानूनी नहीं घोषित किया गया था और मोतीलाल नेहरू को उस तारीख तक मुक्त रखा गया था वे उस समय कांग्रेस के अध्यक्ष की हैसियत से काम कर रहे थे। अगस्त तक बहुत सारी स्थानीय कांग्रेस समितियों पर भी प्रतिबंध नहीं लगा था। इस बीच साइमन आयोग की रिपोर्ट प्रकाशित हुई। इसमें भारत को 'डोमिनियन स्टेट्स' के अधिकार दिए जाने की कोई चर्चा तक नहीं की गई थी। एक प्रकार से यह पीछे धकेलने वाला दस्तावेज़ था, इसकी नीतियाँ दमनात्मक थीं। इसने सरकार को और अलग-थलग कर दिया–यहाँ तक कि गरमदलीय विचार के राजनेता भी इससे नाराज़ हुए और मदनमोहन मालवीय तथा एस.एस अणे जैसे लोगों ने गिरफ़्तारी दी। 9 जुलाई को समझौतावादी रुख का संकेत देते हुए वायसराय ने एक गोलमेज़ सम्मेलन का सुझाव दिया तथा डोमिनियन स्टेट्स वाले मक़सद पर फिर से ज़ोर दिया। केंद्रीय विधायिका के 40 सदस्यों द्वारा दिए गए सुझाव को भी वायसराय ने स्वीकार किया कि तेज़ बहादुर सप्रू और एम.आर. जयकर को कांग्रेस और सरकार के मध्य शांति-स्थापना की संभावनाओं का पता लगाने के लिए कहा जाए। इन बातों को आगे बढ़ाने के उद्देश्य से जवाहरलाल

नोट

और मोतीलाल को गाँधीजी से मिलाने के लिए यर्बदा जेल स्थानांतरित किया गया ताकि ये लोग गाँधीजी के साथ समझौते की संभावना को लेकर विचार-विमर्श कर सकें। इस बातचीत का कोई नतीज़ा नहीं निकला लेकिन संकेतों से यह सुनिश्चित हो गया कि कुछ लोग नवंबर के महीने में गोलमेज़ सम्मेलन में भी भाग लेंगे। ब्रिटिश शासकों तथा भारतीयों को बराबर की हैसियत देकर की जाने वाली यह पहली बैठक थी। इसमें लगभग हर प्रतिनिधि ने इस बात को बार-बार रेखांकित किया कि संवैधानिक विचार-विमर्श की कोई भी कार्यवाही बिना कांग्रेस को शामिल किए कोई मतलब नहीं रखती। उस कार्यवाही से यह भी स्पष्ट हुआ कि यदि सरकार को बचाने के लिए रणनीति का आधार संवैधानिक सुविधाओं को बनाया जाता है तो इसमें कांग्रेस की भागीदारी आवश्यक है। गोलमेज़ सम्मेलन के समापन पर बोलते हुए ब्रिटेन के प्रधानमंत्री ने स्पष्ट तौर पर इस संभावना की ओर संकेत किया था। उन्होंने यह उम्मीद भी जताई कि बाद में होने वाले इस वर्ष के विचार-विमर्श में कांग्रेस अवश्य भाग लेगी। 25 जनवरी को वायसराय ने बिना शर्त गाँधीजी की रिहाई की घोषणा की। साथ में कांग्रेस कार्यकारिणी के अन्य सभी सदस्यों की रिहाई की भी घोषणा की गई ताकि वे स्वतंत्र रूप से बिना किसी डर-भय के प्रधानमंत्री के वक्तव्य पर अपने विचार ज़ाहिर कर सकें।

तीन हफ़्ते तक आपसी विचार-विमर्श वे बाद और जो प्रतिनिधि लंदन से भाग लेकर लौटे थे उनसे सलाह-मशविरा करने के बाद, और समाज के विभिन्न तबक़ों के नुमाइंदों के साथ बातचीत करके कांग्रेस कार्यकारिणी ने गाँधीजी को वायसराय से बातचीत आरंभ करने के लिए अधिकृत किया। 5 मार्च 1931 को गाँधी-इरविन समझौते के रूप में 15 दिन के लंबे विचार-विमर्श के बाद एक दस्तावेज सामने आया। इसे कुछ लोगों ने 'शांति समझौता' और कुछ ने 'अस्थाई क़रार' नाम दिया।

इस समझौते पर कांग्रेस की तरफ से गाँधीजी ने हस्ताक्षर किए और सरकार की ओर से लार्ड इरविन ने हस्ताक्षर किए। नौकरशाही के लिए यह विचित्र बात थी क्योंकि इसमें कांग्रेस और सरकार को समानता के स्तर पर रखा गया था। समझौते की शर्तों में जो बातें शामिल थीं वे इस प्रकार हैं–जिन लोगों को बंदी बनाया गया है उन सभी राजनीतिक बंदियों की रिहाई (इसमें हिंसक कार्रवाई में शरीक़ बंदी को नहीं लिया गया था)। इस समय जो दंड लगे थे और उनको वसूल नहीं किया गया था, उनकी माफ़ी, ज़ब्ती ज़मीन की वापसी यदि उसे तीसरे पक्ष को बचा न गया हो, और जिन सरकारी कर्मचारियों ने त्यागपत्र दे दिया था, उनके साथ नर्मी का बर्ताव। सरकार ने तटीय इलाक़ों में रहने वाले ग्रामीणों को घरेलू उपयोग के लिए नमक बनाने के अधिकार भी दिए और शांतिपूर्ण तरीक़े से बिना आक्रमण हुए लोगों को धरना देने के अधिकार भी प्राप्त हुए। पुलिस की ज़्यादतियों की जाँच के लिए जनता की जाँच समिति बने, कांग्रेस की इस माँग को स्वीकार नहीं किया गया लेकिन गाँधीजी ने जाँच की माँग बार-बार दुहराई थी, इसका ज़िक्र समझौते में किया गया। अपनी ओर से कांग्रेस ने सिविल नाफ़रमानी समाप्त करने की शर्त मान ली थी। समझौते में यह भी अंतर्निहित था कि अगली गोलमेज़ बैठक में कांग्रेस भागीदार बनेगी।

जिन शर्तों पर समझौते पर दस्तख़त किए गए, उनको लेकर उस काल के लोगों में और इतिहासकारों में भी आपस में काफ़ी मतभेद और विवाद हैं। इसके मुख्य कारण हैं–इसका समय, हस्ताक्षर करते समय गाँधीजी के इरादे, भगत सिंह और उनके साथियों की फाँसी की सज़ा माफ़ करने को शर्त के रूप में न रखना (यद्यपि लोग मानते हैं कि गाँधीजी ने वायसराय को इस मुद्दे पर राज़ी करने का प्रयास किया)। इस समझौते की लोगों ने अलग-अलग रूप में व्याख्या की है। कुछ ने इसे धोखे की संज्ञा दी है, कुछ ने इसे भारतीय पूँजीपतियों के ढुलमुल स्वभाव का और गाँधीजी का उनके दबाव में आकर काम करने का प्रमाण माना है। यह कहा गया है कि गाँधीजी और भारतीय पूँजीपति दोनों ही जनांदोलनों से भयभीत थे जो काफ़ी क्रांतिकारी मोड़ ले रहा था, तो कुछ लोगों ने कहा कि किसानों के साथ धोखा किया गया क्योंकि उनकी ज़ब्त की हुई जो ज़मीन तीसरे पक्ष को बेच दी गई थी उसे वापस दिलाने की शर्त समझौते में नहीं थी। इसमें गुजरात के किसान विशेष रूप से प्रभावित थे, आदि।

1922 में चौरीचौरा कांड के कारण असहयोग आंदोलन वापस ले लिया गया तथा उसको लेकर जो तर्क दिए गए थे, इस बार भी लोग उसी आधार पर आरोप लगा रहे थे लोगों की इस प्रकार की समझदारी का जो आधार है, वह भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन की रणनीति और उसके स्वरूप को पहचानने में असमर्थ है। पहली बात यह है कि इस समझदारी

नोट

में इस बात की अनदेखी कर दी जाती है कि जनांदोलनों की आयु बहुत लंबी नहीं होती, उनको अनंतकाल तक जारी नहीं रखा जा सकता है। सक्रिय राजनीतिज्ञों की तरह आम जनता की त्याग की क्षमता अनंत नहीं होती। और आंदोलन में निश्चित रूप से थकान के लक्षण नज़र आने लगे थे–ख़ास तौर से आंदोलन के बड़े और महत्त्वपूर्ण तबके के लिए तो यह बात निश्चित रूप से सच है। क़स्बों में नौजवानों और छात्रों में तो ऊर्जा अभी भी बनी हुई थी लेकिन सौदागरों और दुकानदारों के लिए लंबे समय तक नुकसान उठाना मुश्किल होता जा रहा था। बहिष्कार को सफल बनाने के लिए इस वर्ग का सहयोग आवश्यक भी था। लेकिन 1930 के सितंबर तक इनका समर्थन क्षीण होने लगा था। गाँवों के उन क्षेत्रों में, जहाँ साल के शुरू में ही आंदोलन प्रारंभ किया जा चुका था, वर्ष के उत्तरार्द्ध में आकर उनमें भी शिथिलता आने लगी थी। जोकि पुलिस के साथ संघर्ष की ओर उन पर आक्रमण की छिटपुट घटनाएँ तो घटती थीं और यह बात बंगाल, बिहार, आंध्र प्रदेश और गुजरात सभी जगहों के लिए सच थी। उत्तर प्रदेश के कुछ इलाक़ों में लगान न देने का आंदोलन वर्ष के अंत में शुरू हुआ था। उनमें लड़ने का पर्याप्त माहौल अभी भी बरकरार था। लेकिन क्या कुछ इलाक़ों में प्रतिरोध की इन इक्की-दुक्की घटनाओं से यह नतीजा निकाला जा सकता है कि इस विशाल देश की समूची जनता संघर्ष जारी रखने में सक्षम थी। और इस बात की क्या गारंटी थी कि जब इनकी शक्ति चुक जाती जैसा कि आगे-पीछे होना अवश्यंभावी था, तो इसके बाद सरकार बातचीत के लिए तैयार होती ही। 1931 का साल वैसा नहीं था जैसा कि 1946 था और जैसा कि 1912 में हुआ होता कि सरकार पैंतरा बदलकर तेजी से दमनचक्र चलाती और काफ़ी प्रभावी तरीके से आंदोलन को कुचल देती।

इसमें शक नहीं कि नौजवान काफ़ी निराश हुए थे क्योंकि बिलखने और बिसूरने की तुलना में मर मिटने को वरीयता देते थे। इसमें भी शक नहीं कि गुजरात के किसान खुश नहीं थे क्योंकि उनकी कुछ ज़मीनें उनको तत्काल वापस नहीं मिल सकी थीं (उनको ये तब वापस मिलीं जब 1937 में बंबई में कांग्रेस मंत्रिमंडल सत्ता में आया) लेकिन विशाल जन-समुदाय का अधिकांश हिस्सा इस बात से प्रभावित था कि शक्तिशाली ब्रिटिश साम्राज्य और उसकी सरकार को उनके आंदोलन को महत्त्व देना पड़ा और उनके नेताओं के साथ बराबरी का सलूक करना पड़ा और उनके साथ समझौता भी करना पड़ा। इससे उनको लगा कि उनकी शक्ति को मान्यता मिली है और सरकार पर उन्हें विजय प्राप्त हुई है। इस समझौते के कारण जो हज़ारों लोग जेल से निकलकर बाहर आए उनको युद्धस्थल से विजय प्राप्त कर लौटने वाले सिपाहियों जैसा सम्मान दिया गया। उनको पराजित और अपमान सह कर लौटे युद्धबंदी नहीं बनाया गया। उनका पता था कि शांतिपूर्ण समझौता आत्म-समर्पण नहीं होता है और यह कि यदि शत्रु चाहें तो लड़ाई दोबारा छेड़ी जा सकती है। इस बीच ये योद्ध आराम कर सकेंगे और भावी संग्राम के लिए अपने को तैयार करेंगे। उन्हें अपने नेता और अपने आप में पूरा विश्वास था।

साम्राज्यवाद-विरोधी संघर्ष में 1930-31 का सिविल नाफ़रमानी आंदोलन एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण दौर को रेखांकित करता है। इसमें जेल जाने वाले लोगों की अनुमानित संख 90,000 के आसपास थी। यह संख्या 1920-22 के असहयोग आंदोलन में भाग लेने वालों से तीन गुनी से भी अधिक थी। ब्रिटेन से आयातित कपड़े की मात्रा गिरकर एक तिहाई रह गई थी। अन्य आयातित वस्तुओं, जैसे सिगरेट का भी वही हश्र हुआ था। शराब तथा भूराजस्व से होने वाली सरकार की आमदनी बुरी तरह प्रभावित हुई थी। विधान सभाओं के चुनावों का बहिष्कार अत्यंत प्रभावी तरीक़े से किया गया था। हिंदुस्तान के बहुत बड़े सामाजिक वर्ग को राजनीतिक रूप से जागरूक बनाकर उनमें राष्ट्रीयता के प्रति झुकाव पैदा किया जा चुका था। एक तरफ़ यदि तमिलनाडु तथा पंजाब के शहरी व्यवसायी वग्र को और छात्रों को अधिक सक्रि बना दिया गया तो गुजरात, संयुक्त प्रांत, बंगाल, बिहार और आंध्र प्रदेश के किसान अगली कतारों में आकर खड़े हो गए थे और मध्य भारत, महाराष्ट्र, कर्नाटक और बंगाल की जन-जातियाँ भी किसी से पीछे नहीं थीं। मज़दूर वर्ग भी इस परिदृश्य से बाहर नहीं था। इन लोगों ने बंबई, कलकत्ता और मद्रास में कई विशाल सामूहिक प्रदर्शनों में भाग लिया था। शोलापुर के मज़दूर इनमें सबसे अगली कतार में थे।

सिविल नाफ़रमानी आंदोलन में मुसलमानों की भागीदारी निश्चित रूप से 1920-22 के आंदोलन की तुलना में नगण्य थी। सांप्रदायिक नेतओं ने अलग रहने की अपील की थी। इसी के साथ सरकार ने राष्ट्रवादी शक्तियों को कमज़ोर

नोट

करने के लिए सांप्रदायिक मतभेदों को हवा दी थी। इन बातों का असर आंदोलन पर भी पड़ा था। इन बातों के बावजूद मुसलमानों की भागीदारी को महत्त्वहीन नहीं कहा जा सकता। पश्चिमोत्तर प्रांतों में, जैसा कि सबको मालूम है, उनकी भागीदारी बड़ी ज़बरदस्त थी। उदाहरण के रूप में तनिका सरकार ने दर्शाया है कि बंगाल में सेन हट्टा, त्रिपुरा, गैबंधा, बांगुरा और नोवाखाली में मध्यवर्गीय मुसलमानों की भागीदारी बहुत महत्त्वपूर्ण थी। ढाका में मुसलमान, विद्यार्थी, दुकानदार और यहाँ तक कि निम्न वर्ग की आम जनता ने भी आंदोलन को अपना समर्थन दिया था। उच्चवर्गीय और मध्यवर्गीय मुस्लिम महिलाएँ भी सक्रिय थीं। बिहार को अत्यंत प्रभावशाली तरीक़े से आंदोलन में लामबंद किया गया था जैसा कि देश के दूसरे भागों में अन्य वर्गों को किया गया था।

इस आंदोलन को जो समर्थन ग़रीबों तथा निरक्षर लोगों से प्राप्त हुआ था, क़स्बों और गाँवों दोनों ही स्थानों पर, वह वास्तव में अद्‌भुत और अपूर्व था। उनकी भागीदारी की झलक जेल जाने वालों की संख्या के सरकारी आँकड़ों से भी मिलती है और अनेक रूपों में आंदोलनों में भागीदारी का एक रूप जेल जाना भी था। बंगाल के पुलिस इंस्पेक्टर जनरल ने इस बात पर ग़ौर करते हुए आम सरकारी दुविधा को व्यक्त किया था। उन्होंने कहा था कि "मुझे इस बात का कतई अंदाज़ा नहीं था कि कांग्रेस को इस प्रकार के अज्ञानी और गँवार लोगों का भी सहयोग प्राप्त होगा।" भारतीय महिला के लिए यह आंदोलन उस समय तक के आंदोलनों में सबसे अधिक मुक्तिदाई था और कहा ज सकता है कि इसी के जरिए उन्होंने जन-जीवन में अपना स्थान बनाया।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

2. सही विकल्प चुनिए (Choose the Correct option)–

1. सविनय अवज्ञा आंदोलन शुरू करने का अधिकार कांग्रेस कार्यकारिणी ने कांग्रेस को कब दिया–
   (क) लाहौर (1929) (ख) कलकत्ता (1929)
   (ग) बम्बई 1929 (घ) मद्रास 1929
2. गाँधी जी को नमक कानून तोड़ने के लिए अहमदाबाद मुख्यालय से गुजरात के गाँवों में होते हुए कितने मील की यात्रा करनी थी–
   (क) 200 मील (ख) 220 मील (ग) 240 मील (घ) 250 मील
3. गाँधी जी ने मुठ्ठी पर नमक हाथ में लेकर सिविल अवज्ञा आंदोलन का श्रीगणेश किस तिथि को किया–
   (क) 6 अप्रैल 1929 (ख) 6 अप्रैल 1930 (ग) 6 अप्रैल 1932 (घ) 6 अप्रैल 1936
4. वह स्थान जहाँ गढ़वाल रेजीमेंट के सिपाहियों ने निहत्थी भीड़ पर गोली चलाने से इंकार कर दिया–
   (क) लाहौर (ख) पेशावर (ग) बम्बई (घ) कोलकाता
5. सिविल अवज्ञा आंदोलन के दौरान महाराष्ट्र के किस स्थान पर लोगों ने लगभग समानांतर सरकार कायम कर ली–
   (क) शोलापुर (ख) नागपुर (ग) बम्बई (घ) थाना

10.3 भारत छोड़ो आंदोलन (Quit India Movement)

भारत छोड़ो आंदोलन, जिसे अगस्त क्रांति भी कहा जाता है, भारतीय जनता की वीरता और लड़ाकूपन की अद्वितीय मिसाल है। उसका दमन भी उतना ही पाशविक और अभूतपूर्व था। जिन परिस्थितियों में यह संघर्ष छेड़ा गया, वैसी प्रतिकूल स्थितियाँ भी राष्ट्रीय आंदोलन में अब तक नहीं आई थीं। युद्ध की आड़ लेकर सरकार ने अपने को सख्त-से सख्त कानूनों से लैस कर लिया था और शांतिपूर्ण राजनीतिक गतिविधियों को भी प्रतिबंधित कर दिया था।

पहली बात तो यह है यह मार्च 1942 में क्रिप्स मिशन की विफलता से यह स्पष्ट हो गया था कि ब्रिटिश सरकार युद्ध में भारत की अनिच्छुक साझेदारी को तो बरकरार रखना चाहती है, लेकिन किसी सम्मानजनक समझौते के लिए

नोट

तैयार नहीं है। नेहरू और गाँधी जैसे लोग भी थे, जो इस फासिस्ट-विरोधी युद्ध को किसी भी तरह कमज़ोर करना नहीं चाहते थे, इस निष्कर्ष पर पहुँच गए थे और अधिक चुप रहना यह स्वीकार कर लेना है कि ब्रिटिश सरकार को भारतीय जनता की इच्छा जाने बिना भारत का भाग्य तय करने का अधिकार है। 'करो या मरो' वाले अपने भाषण में भी गाँधीजी ने साफ़-साफ़ कहा था कि "मैं रूस या चीन की हार का औजार बनना नहीं चाहता।" लेकिन 1942 के वसंत तक उन्हें लगने लगा था कि संघर्ष अपरिहार्य है। क्रिप्स की वापसी के एक पखवाड़े बाद ही उन्होंने कांग्रेस कार्यसमिति के लिए एक प्रस्ताव तैयार किया, जिसमें ब्रिटेन को भारत छोड़ने के लिए कहा गया था तथा भारतीय जनता का आह्वान किया गया था कि जापान का हमला हो, तो वह अहिंसक असहयोग करे। नेहरू अगस्त तक संघर्ष के खिलाफ रहे, पर अंततः वे भी सहमत हो गए।

संघर्ष अपरिहार्य इसलिए भी होता जा रहा था कि युद्ध के कारण बढ़ती कीमतों और ज़रूरी वस्तुओं के अभाव से जनसाधारण में बेहद असंतोष था। बंगाल और उड़ीसा की नावों को जापानियों द्वारा उनके संभावित इस्तेमाल को रोकने के लिए सरकार द्वारा ज़ब्त कर लिया गया था, जिससे लोगों को दिक्कत हो रही थी। सिंचाई की नहरों का कहीं जापानी 'जल-परिवहन के लिए इस्तेमाल न कर लें, यह सोचकर नहरों का पानी बहा दिया गया, जिससे खेत सूखने लगे थे। मकानों और मोटर गाड़ियों पर भी सेना ने कब्ज़ा कर लिया था। जनता खुशी-खुशी युद्ध में शमिल होती, तो उसे यह सब नहीं अखरता, लेकिन यहाँ तो सब-कुछ उस पर लादा जा रहा था। साथ ही उसे यह भी लग रहा था कि ब्रिटेन की हार होने वाली है। दक्षिण-पूर्व एशिया से ब्रिटेन हट गया था और असम-बर्मा सीमा से आने वाली रेलगाड़ियाँ घायल सिपाहियों से भरी होती थीं। जब सिंगापुर और रंगून पर फासीवादी ताकतों का कब्ज़ा हो गया और कलकत्ता पर बम गिराए जाने लगे तो भगदड़ मच गई–1942 के जून और जुलाई में 46 लोग जमशेदपुर से भाग गए और पूब्री यू.पी. तथा बिहार से भागकर 50 हज़ार आदमी कानपुर पहुँचे। मलाया और स्थानीय लोगों को उनके भाग्य पर छोड़ दिया गया था। भारत के लोग सोचने लग गए थे कि अगर जापानी हमला हुआ तो अँग्रेज़ यहाँ भी उसी तरह विश्वासघात करेंगे। राष्ट्रीय आंदोलन के नेताओं को संघर्ष छेड़ने की ज़रूरत इसलिए भी महसूस हुई कि लोगों में निराशा फैल रही थी और यह आशं पैदा हो गई थी कि कहीं जापानी हमले का जनता द्वारा कोई प्रतिरोध ही न हो।

धीरे-धीरे ब्रिटिश शासन में जनसाधारण की आस्था इतनी घट गई कि लोग बैंकों और डाकघरों से अपना रुपया निकालने लगे और अपनी बचत को सोने, चांदी और सिक्कों में बदल कर रखने लगे। पूर्वी संयुक्त प्रांत (यू.पी.) और बिहार में अनाज की जमाखोरी इतनी बढ़ गई कि बिहार के राज्यपाल स्टीवार्ट ने सरकार को लिखा–"चावल की कोई कमी नहीं है, पर वह बाज़ार में नहीं आएगा। सरकारी अधिग्रहण से बचने के लिए व्यापारियों ने अपने जखीरों को बैंकों के पास बंधक रख दिया है। पता चला है कि उत्तर बिहार में बैंकों के पास बंधक अनाज उसका तीन गुना है, जितना इस मौसम में सामान्यतः रहता है।"

यों तो गाँधीजी आने वाले संघर्ष के बारे में चर्चा करते ही आ रहे थे, वा अब देर करना उन्हें गलत लगने लगा था। उन्होंने लगा था। उन्होंने कांग्रेस को यह चुनौती भी दे डाली कि अगर उसने संघर्ष का उनका प्रस्ताव स्वीकार नहीं किया तो "मैं देश की बालू से ही कांग्रेस से भी बड़ा आंदोलन खड़ा कर दूँगा।" नतीज़तन कांग्रेस कार्यसमिति ने वर्धा की अपनी बैठक (14 जुलाई 1942) में संघर्ष के निर्णय को अपनी स्वीकृति दे दी। अगले महीने अखिल भारतीय कांग्रेस समिति की बैठक होने वाली थी, जिसमें इस प्रस्ताव का अनुमोदन होना था। ऐतिहासिक सभा बंबई के ग्वालिया टैंक में हुई। जनता का उत्साह देखते ही बनता था। अंदर तो नेता विभिनन मुद्दों पर विचार-विमर्श कर रहे थे और बाहर जनसमुद्र उमड़ रहा था। नेताओं का निर्णय जानने की उत्सुकता इतनी थी कि खुले अधिवेशन में जब भाषण होने लगे, तो हज़ारों-हज़ार की भीड़ होने के बावजूद सभा में पूरी शांति थी।

करो या मरो

गाँधीजी के भाषण का बिजली जैसा असर हुआ। सबसे पहले तो उन्होंने यह स्पष्ट किया कि "असली संघर्ष इसी क्षण से शुरू नहीं हो रहा है। आपने सिर्फ अपना फैसला करने का सम्पूर्ण अधिकार मुझे सौंपा है। अब मैं वायसराय से

नोट

मिलूँगा और उनसे कहूँगा कि वे कांग्रेस का प्रस्ताव स्वीकार कर लें। इसमें दो तीन हफ्ते लग जाएँगे।" लेकिन "इतना आप निश्चित जान लें कि मैं मंत्रिमंडलों वगैरह पर वायसराय से कोई समझौता करने नहीं जा रहा हूँ। संपूर्ण आज़ादी से कम किसी भी चीज़ से मैं संतुष्ट होने वाला नहीं। हो सकता है कि वे नमक टैक्स, शराबखोरी आदि खत्म करने का प्रस्ताव दें। लेकिन मेरे शब्द होंगे, 'आज़ादी से कम कुछ भी नहीं'।" इसके बाद ही उन्होंने 'करो या मरो' का नारा दिया, "एक मंत्र, जो मैं आपको देता हूँ। उसे आप अपने हृदय में अंकित कर सकते हैं और अपनी साँस-साँस द्वारा व्यक्त कर सकते हैं। वह मंत्र है, करो या मरो, या तो हम भारत को आज़ाद कराएँगे या इस कोशिश में अपनी जान दे देंगे। अपनी गुलामी का स्थायित्व देखने के लिए हम जिंदा नहीं रहेंगे।"

गाँधीजी के भाषण में विभिन्न वर्गों को साफ़-साफ़ निर्देश दिए गए थे। सरकारी कर्मचारी नौकरी न छोड़ें, लेकिन कांग्रेस के प्रति अपनी निष्ठा की घोषणा कर दें। सैनिक अपने देशवासियों पर गोली चलाने से इनकार कर दें। राजा-महाराजा भारतीय जनता की प्रभुसत्ता स्वीकार करें और उनकी रियासातों में रहने वाली जनता अपने को भारतीय राष्ट्र का अंग घोषित कर दें तथा राजाओं का नेतृत्व तभी मंजूर करें, जब वे अपना भविष्य जनता के साथ जोड़ लें। छात्र पढ़ाई तभी छोड़ें, जब आज़ादी हासिल हो जाने तक अपने इस निर्णय पर दृढ़ रह सकें। 7 अगस्त को गाँधीजी ने अपने निर्देश कांग्रेस कार्यसमिति में रखे थे। उनमें किसानों से कहा गया था कि जिनमें साहस हो और जो अपना सब-कुछ दाँव पर लगाने को तैयार हों, उन्हें मालगुज़ारी देने से इनकार कर देना चाहिए काश्तकारों के लिए संदेश था, "कांग्रेस मानती है कि ज़मीन उनकी है, जो उसे जोतते हैं–किसी और की नहीं। जहाँ ज़मींदारी प्रथा है, वहाँ ज़मींदार अगर काश्तकारों का साथ दें, तो आपसी रज़ामंदी से तय करके उसका हिस्सा उसे दिया जाना चाहिए, लेकिन ज़मींदार अगर सरकार का साथ दे, तो उसे कोई कर देने की ज़रूरत नहीं है।" आकस्मिक गिरफ्तारियों के कारण ये निर्देश जारी तो नहीं किए जा सके, पर इनसे गाँधीजी के इरादे स्पष्ट हो जाते है।

9 अगस्त के तड़के ही कांग्रेस के सभी बड़े नेताओं को गिरफ्तार कर अज्ञात स्थानों पर भेज दिया गया। वस्तुत: सरकार युद्ध के बाद से ही यह कदम उठाने की तैयारी कर रही थी और 1940 में ही उसने एक विस्तृत क्रांतिकारी आंदोलन अध्यादेश जारी कर दिया था।

अगस्त 1940 को वायसराय ने राज्यपालों को एक पत्र में लिखा था, "मैं गहराई से महसूस करता हूँ कि मौजूदा हालात में यदि कांग्रेस का कोई हिस्सा 'युद्ध की घोषणा' कर देता है, तो उसका एकमात्र संभव जवाब यही हो सकता है कि पूरे संगठन को ही कुचलने का इरादा घोषित कर दिया जाए"। गाँधीजी बड़ी सावधानी से जल्दबाज़ी से इस जाल में फँसने से बचते आ रहे थे और व्यक्तिगत सत्याग्रह, लगातार प्रचार व संगठनात्मक कार्यों से आंदोलन का माहौल बनाए हुए थे। लेकिन अब सरकार उन्हें और वक्त देने को राज़ी नहीं थी। इसके पहले कि अखिल भारतीय कांग्रेस समिति भारत छोड़ो प्रस्ताव पारित करे, गिरफ्तारी और दमन के सरकारी निर्देश जारी हो गए।

सरकार के इस अचानक हमले से देश भर में तूफान-सा आ गया। बंबई में लाखों लोग ग्वालिया टैंक की ओर उमड़ पड़े, जहाँ एक जनसभा होने की घोषणा की गई थी। अधिकारियों से टकराव भी हुआ। अहमदाबाद और पूना मे भी यही हुआ। 10 अगस्त को दिल्ली, कानपुर, इलाहबाद, वाराणसी, पटना इत्यादि शहरों में हड़ताल रही तथा बड़े-बड़े जुलूस निकले। इसके साथ ही सरकार ने प्रेस पर हमला बोल दिया। बहुत-से अखबार कुछ दिनों के लिए बंद रहे। 'नेशनल हेराल्ड' और 'हरिजन' तो पूरे आंदोलन के दौरान नहीं निकले।

प्रांतीय तथा स्थानीय स्तर के नेता गिरफ़्तार होने से बच गए थे, वे अपने-अपने इलाके में चले गए और प्रतिरोधात्मक गतिविधियों में लग गए। देहात में भी जैसे ही खबर पहुँचने लगी, तो वहाँ भी विद्रोह का सिलसिला चल पड़ा। छह-सात सप्ताह तक देश भर में तुमुल आंदोलन रहा। कुछ ही स्थानों पर लोगों की विशाल भीड़ ने पुलिस थानों, डाकघरों, कचहरियों, रेलवे स्टेशनों तथा सरकारी सत्ता के दूसरे प्रतीकों पर आक्रमण किया। सार्वजनिक भवनों पर तिरंगा फहराया गया। गाँववालों ने हज़ारों की संख्या में एकत्र होकर रेल की पटरियाँ उखाड़ दीं। पुल उड़ा दिए गए और टेलीफोन तथा तार की लाइनें काट दी गईं। तहसीलों और ज़िला मुख्यालयों में सत्याग्रहियों ने गिरफ़तारी भी दी। स्कूल-कॉलेजों में हड़ताल हो गई और छात्र जुलूस निकालने तथा गैरकानूनी परचे लिखने और बाँटने में लग गए।

नोट

ऐसी कई सौ गैर-कानूनी पत्रिकाएँ देश भर में निकलती रहीं। छात्रों ने उभरते हुए गुप्त संगठनों में भी संदेश ले जाने वगैरह का काम किया। मज़दूर भी पीछे नहीं रहे। अहमदाबाद में कारखाने साढ़े तीन महीने तक बंद रहे, बम्बई में एक हफ्ते से ज़्यादा तक और जमशेदपुर में 13 दिन तक। अहमदाबाद और पूना के मज़दूर कई महीने तक सक्रिय रहे।

विद्रोह का माहौल

बिहार और यू.पी. में तो विद्रोह जैसा माहौल बन गया। अगस्त के मध्य तक विद्यार्थियों तथा अन्य राजनीतिक कार्यकर्ताओं के ज़रिए आंदोलन की ख़बर गाँवों में पहुँचने लगी। काशी विश्वविद्यालय के छात्रों ने 'भारत छोड़ो' का संदेश फैलाने के लिए गाँवों में जाने का फ़ैसला किया। उनके नारे थे, थाना जलाओ, स्टेशन फूँक दो, अँग्रेज़ भाग गया इत्यादि। उन्होंने रेलगाड़ियों पर राष्ट्रीय ध्वज फहराया। विद्रोह ने अधिकतर यह रूप धारण किया कि बड़ी संख्या में किसान पास के क़स्बें में जुटते और सरकारी सत्ता के सभी प्रतीकों पर हमला बोल देते। कहीं आग लगा दी जाती, कहीं सरकारी अधिकारियों से मुठभेड़ होती। दमन होता, लेकिन इससे जनता का उत्साह कम नहीं हुआ। बिहार के तिरहुत प्रखंड में तो दो सप्ताह तक कोई सरकार ही नहीं थी। सचिवालय गोलीकांड के बाद पटना दो दिन तक बेकाबू रहा। उत्तर और मध्य बिहार के 80 प्रतिशत थानों पर जनता का राज हो गया था। कुछ स्थानों पर गोरों का व्यक्तिगत हमला भी हुआ। पूर्वी यू.पी. में आजगढ़, बलिया और गोरखपुर तथा बिहार में गया, भागलपुर, सारन, पूर्णिया, शाहाबाद, मुजफ्फरपुर और चंपारण स्वत:स्फूर्त जन-विद्रोह के मुख्य केंद्र रहे।

सरकारी आकलनों के अनुसार, नेताओं की गिरफ़्तारी के पहले हफ़्ते के अंदर 250 रेलवे स्टेशन या तो नष्ट कर दिए गए या क्षतिग्रस्त हुए और 500 से ज़्यादा डाकघरों तथा 150 थानों पर हमला हुआ। पूर्वी यू.पी. और बिहार में रेलगाड़ियों का आवागमन कई हफ़्ते तक अस्तव्यस्त रहा। सिर्फ़ कर्नाटक में टेलीफोन के तार काटने की 1600 घटनाएँ हुईं तथा 28 रेलवे स्टेशनों और 32 डाकघरों पर हमला हुआ। निहत्थी भीड़ ने 532 अवसरों पर पुलिस और सेना की गोलीबारी का सामना किया–यहाँ तक कि हवाई जहाज़ से मशीनगनें भी चलाई गईं। दमन के अन्य रूप थे–सामूहिक जुर्माना (कुल 90 लाख रुपए इस तरह वसूल किए गए), संदिग्ध लोगों को कोड़ों से पीटना तथा जिन गाँवों के लोग भाग गए थे, उनमें आग लगा देना। 1942 के अंत तक 60 हज़ार से अधिक लोगों को गिरफ़्तार किया जा चुका था, लगभग 26 हज़ार लोगों को सज़ा हुई और 18 हज़ार लोगों को भारत रक्षा नियमों के तहत बंद रखा गया। मार्शल लॉ लागू नहीं किया गया था और हालाँकि सेना कहने को नागरिक प्रशासन के तहत काम कर रही थी, पर दरअसल वह मनमानी कर रही थी। दमन उतना ही कठोर था जितना मार्शल लॉ के अंतर्गत हो सकता था।

सरकार को जनता के खुले आम विद्रोह पर क़ाबू पाने में छह से सात हफ़्ते लगे। पर इस बीच देश के विभिन्न हिस्सों में आंदोलन का एक भूमिगत संगठनात्मक ढाँचा भी तैयार हो रहा था। आंदोलन की बागडोर अच्युत पटवर्धन, अरुणा आसफ़ अली, राममनोहर लोहिया, सुचेता, कृपलानी, छोटूभाई पुराणिक, बीजू पटनायक, आर.पी. गोयनका और बाद में जेल से निकल भागने के बाद जयप्रकाश नारायण जैसे अखिल भारतीय नेताओं ने फ़रार रहते हुए सँभाल ली थी। ये लोग पैसा और बम, हथियार, बारूद आदि सामग्री इकट्ठा करते और देश भर में छितराए हुए गुप्त समूहों में बाँटते थे। करना क्या है, इसका निर्णय स्थानीय स्तर पर ही होता था। ये गुप्त समूह या भूमिगत संगठन इन इलाक़ों में ज़्यादा सक्रिय थे–बंबई, पूना, सतारा, बड़ौदा, कर्नाटक, केरल, आंध्र, यू.पी., बिहार और दिल्ली। कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी के सदस्य ही आम तौर पर इन गतिविधियों का नेतृत्व कर रहे थे, पर गाँधीवादी, फ़ार्वर्ड ब्लॉक के सदस्य तथा आतंकवादी भी काफ़ी सक्रिय थे।

भूमिगत कार्रवाइयों में संलग्न लोगों की संख्या बेशक कम थी, पर उन्हें व्यापक सहयोग मिल रहा था। व्यवसायी वर्ग ने अपनी थैलियाँ खोल दी थीं। उदाहरण के लिए सुमति मोरारजी ने, जो बाद में देश की प्रमुख महिला उद्योगपति बनीं, अच्युत पटवर्धन के लिए रोज एक नई कार की व्यवस्था की और गिरफ़्तरी होने से बचाया। बहुत-से लोगों ने भूमिगत नेताओं को छिपने की जगह दी। छात्र खबर और परचे ले जाने का काम करते थे। पाइलट और रेल ड्राइवर बम तथा अन्य सामान इधर से उधर पहुँचाते थे। सरकारी अधिकारी और पुलिस वाले तक गिरफ़्तारियों की अग्रिम सूची दे दिया करते थे।

नोट

इस भूमिगत आंदोलन की मुख्य गतिविधि यह होती थी कि पुलों को उड़ाकर, टेलीग्राफ़ व टेलीफोन के तार काटकर तथा रेलों की पटरी उखाड़कर संचार के साधन नष्ट कर दिए जाएँ। सरकारी और पुलिस अधिकारियों तथा पुलिस के मुखबिरों पर भी कहीं-कहीं हमले हुए। यह सच है कि संचार के माध्यमों को नष्ट करने में आंदोलनकारियों को सीमित सफलता ही मिली होगी, पर ऐसे वक्त में जब सरकार बर्बर दमन पर उतारू थी और खुले-आम राजनीतिक गतिविधियों को असंभव बना दिया गया था, इन कार्रवाइयों से जनता का मनोबल बरकरार रखा गया।

नोट्स उन दिनों आंदोलन के समाचार पहुँचाना भी एक महत्त्वपूर्ण काम था। इस दृष्टि से सबसे नाटकीय मामला रहा बंबई शहर के विभिन्न केंद्रों से कांग्रेस रेडियो का गुप्त रूप से संचालन। इसके प्रसारणों को मद्रास तक सुना जा सकता था। राममनोहर लोहिया नियमित रूप से कांग्रेस रेडियो पर बोलते थे। नवंबर 1942 में पुलिस ने इसे खोज निकाला और ज़ब्त कर लिया।

गाँधीजी का उपवास

फ़रवरी 1943 में एक महत्त्वपूर्ण घटना हुई। ग़ाँधीजी ने जेल में 10 फ़रवरी से उपवास शुरू कर दिया और घोषणा की कि वह 21 दिनों तक चलेगा। सरकार गाँधीजी पर लगातार दबाव डाल रही थी कि वह भारत छोड़ो आंदोलन के दौरान हो रही हिंसा की भर्त्सना करे। लेकिन गाँधीजी का कहना था कि आंदोलन की इस हिंसा के लिए सरकार ही जिम्मेदार है। गाँधीजी का उपवास उस सरकारी दमन का ही जवाब था, जिसके तहत हज़ारों कांग्रेसजनों को बेवजह जेल में ठूँस दिया गया था।

गाँधीजी के उपवास की खबर जैसे-जैसे फैलने लगी, लोगों का आक्रोश बढ़ता गया। देश भर में हड़तालों, प्रदर्शनों और जुलूसों का ताँता लग गया। कलकत्ता और अहमदाबाद इस दिशा में ख़ास तौर से सक्रिय थे। जेलों के भीतर और बाहर गाँधीजी के समर्थन में उपवास हुए। कई समूह आगा खाँ पैलेस (जहाँ गाँधीजी को नज़रबंद रखा गया था। के बाहर सत्याग्रह करने के लिए छिपकर पूना पहुँच गए। जनसभाएँ कर गाँधीजी की रिहाई की माँग की गई और छात्रों, युवकों, व्यापारियों तथा उद्योगपतियों, वकीलों, सामान्य नागरिकों और श्रमिक संगठनों एवं समाज के सभी वर्गों की ओर से सरकार के पास हज़ारों चिट्ठियाँ भेजी गई, जिसमें यही माँग की गई थी।

क्या आप जानते हैं विदेश में न केवल मैनचेस्टर गार्डियन, न्यू स्टेट्समैन, नेशन, न्यूज़ क्रॉनिकल और शिकागो सन ने, बल्कि ब्रिटेन की कम्युनिस्ट पार्टी, लंदन तथा मैनचेस्टर के नागरिकों, वूमैन्स इंटरनेशनल लीग, ऑस्ट्रेलियन काउंसिल ऑफ़ ट्रेड यूनियंस और सीलोन स्टेट काउंसिल ने भी गाँधीजी को रिहा करने की सलाह दी। इसके लिए संयुक्त राज्य अमरीका की सरकार का भी दबाव पड़ा।

19-20 फ़रवरी को दिल्ली में नेताओं का एक सम्मेलन ('लीडर्स कॉन्फ़रेंस') हुआ, जिसमें प्रतिष्ठित तथा महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों ने भाग लिया। उन सभी की माँग थी कि गाँधीजी को तुरंत रिहा कर दिया जाना चाहिए। कांग्रेस के साथ जिनकी सहानुभूति नहीं थी, ऐसे लोगों में से भी बहुतों का मानना था कि सरकार अब ज़्यादती कर रही है। सरकार की प्रतिष्ठा को सबसे ज़्यादा आघात उस वक्त लगा, जब वायसराय की कार्यपरिषद् के तीन सदस्य, एम.एस. एनी, एन.आर. सरकार और एच.पी. मोदी ने इस सवाल पर इस्तीफ़ा दे दिया। 1942 के आंदोलन के दमन में इन लोगों ने सरक़ार का साथ दिया था, पर ये गाँधीजी की मौत से साझेदार बनना नहीं चाहते थे।

लेकिन वायसराय और उनके अफ़सर ज़रा भी विचलित नहीं हुए। ब्रिटिश प्रधानमंत्री विन्स्टन चर्चिल की इस घोषणा

नोट

कि "जब दुनिया में हम हर कहीं जीत रहे हैं, ऐसे वक्त में हम एक कमबख्त बुड्ढे के सामने कैसे झुक सकते हैं, जो हमेशा हमारा दुश्मन रहा है," उनका दुस्साहस काफ़ी बढ़ा हुआ प्रतीत हुआ। गाँधीजी की मृत्यु की उन्हें ज़रा भी चिंता नहीं थी। वायसराय के एक वक्तव्य से तो ऐसा लगता है कि वे इस संभावना के घटित होने से खुश ही होते, "हमारे संचालनों के लिए भारत कहीं ज़्यादा भरोसेमंद केंद्र हो जाएगा। इसके अलावा गाँधी के न रहने पर, जो वर्षों से समझौता न होने देने के लिए हर कोशिश करता रहा है, समझौते की संभावना काफ़ी बढ़ जाएगी।" हालत यह थे कि एक ओर तो पूरा देश गाँधीजी की जान बचाने की अपील कर रहा था और दूसरी ओर सरकार अंतिम संस्कार की तैयारी में मशगूल थी। सेना की टुकड़ियों को किसी भी आपात्स्थिति के लिए तैयार रहने को कह दिया गया था। सार्वजनिक शवयात्रा तथा गाँधीजी की भस्म को ले जाने के लिए विमान की व्यवस्था हेतु 'दार' प्रावधान किए गए थे और सरकारी कार्यालयों में आधे दिन की छुट्टी घोषित करने की योजना थी। पर गाँधीजी ने, हमेशा की तरह, अपने विरोधियों को मात दे दी और मरने से इनका कर सरकारी इरादों पर पानी फेर दिया।

बहरहाल, गाँधीजी के उपवास का जो उद्देश्य था, वह भली-भाँति पूरा हुआ। इससे न केवल जनसाधारण का मनोबल ऊँचा हुआ और ब्रिटिश-विरोधी भावनाओं में उभार आया, बल्कि सारी दुनिया के सामने वह उजागर हो गया कि सरकारी दमन के तौर-तरीक़े कितने कठोर हैं। सरकार 1942 के दमन का जो औचित्य साबित करना चाहती थी, वह ख़त्म हो गया और यह साबित हो गया कि ग़लती सरकार की ही है।

समानांतर सरकारें

भारत छोड़ो आंदोलन की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता थी देश के कुछ हिस्सों में समानांतर सरकारों की स्थापना। पहली ऐसी सरकार बनी बलिया में, चित्तू पांडे के नेतृत्व में। चित्तू पांडे अपने को गाँधीवादी कहते थे। उनकी सरकार ने कलक्टर से सारे अधिकार छीन लिए और सभी गिरफ़्तार कांग्रेसी नेताओं को रिहा कर दिया, लेकिन उसका प्रभुत्व ज़्यादा समय तक क़ायम नहीं रह सका। एक सप्ताह बाद जब ब्रिटिश सैनिक वहाँ पहुँचे, तो उन्हें वहाँ एक भी नेता नहीं मिला।

बंगाल के मिदनापुर ज़िले के तामलुक नामक स्थान पर 17 दिसंबर 1942 को 'जातीय सरकार' (राष्ट्रीय सरकार) का गठन किया गया। उसका अस्तित्व सितंबर 1944 तक रहा। तामलुक में गाँधीवादी रचनात्मक काम और जनांदोलन काफ़ी हुए थे। 'जातीय सरकार' ने बड़े पैमाने पर तेज़ी से राहत का काम चलाया, स्कूलों को अनुदान दिए और एक सशस्त्र विद्युत वाहिनी का भी गठन किया। आपस में समझौता करने के लिए अदालतें बनाई गईं और धनी लोगों का अतिरिक्त धन ग़रीबों में बाँट दिया गया। चूँकि तामलुक की भौगोलिक स्थिति अलग-अलग थी, अत: यहाँ की स्वाधीन सरकार कुछ अधिक समय तक चल सकी।

सतारा (महाराष्ट्र) की समानांतर सरकार सबसे ज़्यादा दीर्घजीवी साबित हुई। भारत छोड़ो आंदोलन की शुरुआत से ही यह क्षेत्र काफ़ी सक्रिय रहा था। आंदोलन के पहले चरण में सरकार के स्थानीय मुख्यालयों में हज़ारों लोगों का जुलूस निकाला गया। इसके बाद भितरघात डाकघरों पर हमला, बैंकों की लूट, टेलीग्राफ़ के तारों को काट देना आदि का सिलसिला शुरू हुआ। वाइ.बी. चव्हाण यहाँ के सबसे महत्त्वपूर्ण नेता थे। उनका अच्युत पटवर्धन तथा अन्य भूमिगत नेताओं से भी संपर्क था। लेकिन 1942 के अंत तक लगभग 2,000 लोगों को गिरफ़्तार कर लिए जाने से जनांदोलन की गति रुक गई। 1943 की शुरुआत से भूमिगत कार्यकर्ताओं ने अपने को पुनर्संगठित करना प्रारंभ किया और लगभग छह महीने में उनका संगठन तैयार हो गया, प्रतिसरकार (समानांतर सरकार) की स्थापना की गई। नाना पाटील इसके महत्त्वपूर्ण नेताओं में से थे। इस दौर में सरकार से सहयोग करने वाले लोगों और मुखबिरों तथा छोटे अफ़सरों पर हमला किया गया और रॉबिनहुड शैली में बैंक डकैतियाँ डाली गईं। न्यायदान मंडल या जन अदालतें शुरू की गईं। शराबबंदी लागू कर दी गई तथा 'गाँधी विवाहों' का आयोजन हुआ, जिनमें कोई तड़क-भड़क नहीं होती थी तथा अछूतों को भी आमंत्रित किया जाता था। गाँवों में पुस्तकालय खोले गए। औंध रियासत के राजा ने–जिसके राज्य का संविधान गाँधीजी द्वारा तैयार किया गया था–इस सबमें काफ़ी मदद की। सतारा की प्रतिसरकार 1945 तक कायम रही।

नोट

'भारत छोड़ो' आंदोलन में आम जनता की हिस्सेदारी तथा समर्थन एक नई सीमा तक पहुँचा। पूर्ववर्ती आंदोलन की तरह 'भारत छोड़ो' में भी युवा वर्ग काफ़ी सक्रिय रहा। स्कूलों और कॉलेजों के छात्रों का उत्साह देखते ही बनता था। औरतों ने भी काफ़ी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई–ख़ास तौर से छात्राओं ने। अरुणा आसफ़ अली और सुचेता कृपलानी ने भूमिगत कार्रवाइयों के संगठन का काफ़ी काम किया और उषा मेहता उस छोटे-से समूह की महत्त्वपूर्ण सदस्या थीं, जो कांग्रेस रेडियो चलाता था। पुलिस दमन झेलते हुए भी लंबी-लंबी हड़तालें कर मज़दूरों ने महत्त्वपूर्ण कुरबानी दी।

देश भर के किसान, चाहे वे अमीर हों या ग़रीब, इस आंदोलन की जान थे। पूर्वी यू.पी. और बिहार, बंगाल (मिदनापुर) महाराष्ट्र (सतारा) में तो उन्होंने विशेष सक्रियता दिखाई, लेकिन दूसरे हिस्सों, जैसे आंध्र, केरल और गुजरात के किसान भी सक्रिय रहे। बहुत-से छोटे ज़मींदारों ने भी आंदोलन में हिस्सा लिया–ख़ासकर यू.पी. और बिहार में। बड़े ज़मींदारों ने तटस्थता का रुख अपनाया और सरकारी दमन में सहयोग नहीं किया। दरभंगा के राजा ने, जो काफ़ी बड़े ज़मींदारों में से थे, न केवल सरकार को अपने सशस्त्र लोगों की सेवाएँ देने से इनकार कर दिया, बल्कि गिरफ़्तार लोगों की मदद भी की। आंदोलन की एक खूबी यह भी रही कि किसानों ने मौक़ा मिलने के बावजूद ज़मींदारों के ख़िलाफ हिंसा नहीं की और अपनी गतिविधियों का लक्ष्य ब्रिटिश सत्ता के प्रतीकों को ही बनाया। वैसे सरकारी अधिकारियों ने भी–ख़ास तौर से पुलिस और प्रशासन के निचले तबके के अधिकारियों ने–हर तरह से आंदोलनकारियों की मदद की। जेल अधिकारी बंदियों के प्रति उदार हो गए। वस्तुत: उन दिनों ब्रिटिश शासन की नींव ही हिल गई थी।

यह सच है कि भारत छोड़ो आंदोलन में मुसलमानों की हिस्सेदारी बहुत उल्लेखनीय नहीं रही, लेकिन इसमें भी संदेह नहीं कि मुसलिम लीग के समर्थकों ने भी मुखबिरी नहीं की, बल्कि ज़रूरत पड़ने पर भूमिगत कार्यकर्ताओं को शरण ही दी। कहीं कोई सांप्रदायिक दंगा नहीं हुआ, जो इस बात का प्रतीक था कि भले ही आंदोलन ने मुसलिम जनता में उत्साह न जगाया हो, पर कोई रोष भी पैदा नहीं किया था।

भारत छोड़ो आंदोलन के सम्मोहन की सूचना इस बात से भी मिलती है कि यद्यपि कम्युनिस्ट पार्टी का निर्णय आंदोलन बहिष्कार का था, फिर भी स्थानीय स्तर के सैकड़ों कम्युनिस्टों ने इसमें हिस्सेदारी की। इन कार्यकर्ताओं को अपने नेताओं के उग्र फ़ासीवाद-विरोध से पूरा लगाव था, फिर भी ये आंदोलन के जादू से अछूते नहीं रह सके–ख़ासकर शुरू के दिनों में।

भारत छोड़ो आंदोलन पर इतिहासकारों ने मुख्यत: दो दृष्टियों से विचार किया है। पहला, क्या यह स्वत:स्फूर्त विद्रोह था या कोई संगठित चेष्टा थी? दूसरा, इस संघर्ष के दौरान जनता ने जो हिंसा की, उसकी संगति अहिंसक लड़ाई की कांग्रेस नीति से कैसे बैठाई जाए?

इसमें संदेह नहीं कि पूर्ववर्ती आंदोलनों की तुलना में 1942 के आंदोलन में स्वत:स्फूर्तता का तत्त्व कहीं ज़्यादा था, यद्यपि 1919-22, 1930-31 और 1931-32 में भी कांग्रेस नेतृत्व ने जनता की पहल और स्वत:स्फूर्त उभारों के लिए काफ़ी गुंजाइश छोड़ी थी। वस्तुत: गाँधीवादी जनांदोलन का पैटर्न यह था कि नेतृत्व कार्यक्रम की मोटे तौर पर रूपरेखा बना देता और उसका कार्यान्वयन स्थानीय स्तर के कार्यकर्ताओं तथा जनसाधारण के हाथ में छोड़ दिया जाता था। वैसे भी, भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के दौरान हुए किसी एक संघर्ष की तैयारी का अनुमान उसी समय किए गए संगठनात्मक कार्यों से नहीं लगाया जा सकता। इसके लिए पूरे राष्ट्रीय आंदोलन पर जनता पर कितना प्रभाव हुआ है, उसको कितना समर्थन मिला है, उसका अनुमान लगाना ज़रूरी है।

यह सच है कि 1942 में यह रूपरेखा भी स्पष्ट नहीं की गई थी, क्योंकि नेतृत्व को आंदोलन छेड़ने का अवसर ही नहीं मिला। लेकिन जनता ने अपनी तरफ़ से जो पहल की, उसकी स्वीकृति नेतृत्व एक तरह से दे चुका था। 8 अगस्त 1942 को अखिल भारतीय कांग्रेस समिति द्वारा पारित प्रस्ताव में साफ़-साफ़ कहा गया था कि "एक ऐसा समय आ सकता है, जब निर्देश जारी करना संभव न हो सके या निर्देश लोगों तक पहुँच ही न सके या कोई कांग्रेस समिति कार्य न कर सके। अगर ऐसा होता है, तो प्रत्येक पुरुष और स्त्री को, जो इस आंदोलन में भाग ले रहा है,

नोट

जारी किए गए निर्देशों की चौहद्दी में अपने काम का खुद ही फ़ैसला करना होगा। हर भारतीय को, जो आज़ादी चाहता है और उसके लिए प्रयत्नशील है, अपना मार्गदर्शक खुद बनना होगा।"

इसके अलावा कांग्रेस इस संघर्ष के लिए काफ़ी पहले से तैयारी करती आ रही थी। 1937 के बाद कांग्रेस संगठन को चुस्त किया गया। पूर्वी यू.पी. और बिहार के अपने अध्ययन में चंदन मित्र ने स्पष्ट किया है कि 1942 के दौरान वहीं सबसे अधिक प्रतिरोध हुआ, जहाँ 1937 के बाद से जन–जागृति और संगठन का व्यवस्थित कार्य हुआ था। सरदार पटेल जून 1942 से ही बारदोली और गुजरात के अन्य इलाक़ों में लोगों को आने वाले संघर्ष के बारे में चेतावनी दे रहे थे। पूना के कांग्रेसी समाजवादी भी तभी कार्यकर्ताओं के प्रशिक्षण शिविर लगा रहे थे। गाँधीजी खुद भी व्यक्तिगत सत्याग्रह के ज़रिए तथा 1942 क़ी शुरुआत से सीधे तौर पर लोगों को आसन्न युद्ध के लिए तैयार कर रहे थे। उनका कहना था कि यह लड़ाई थोड़े समय तक ही चलेगी, पर तेज़ होगी।

अब रहा सवाल कि 1942 की हिंसा की संगति कांग्रेस की अहिंसक नीति से कैसे बैठाई जाए? पहली बात तो यह कि ऐसे बहुत–से लोग थे, जिन्होंने इस आंदोलन के दौरान भी हिंसा का सहारा लेने से इनकार कर दिया। जिन लोगों ने हिंसक साधनों का प्रयोग किया, उनमें से बहुतों का मानना था कि परिस्थिति की यही माँग थी। उनमें से अनेक निष्ठावान गाँधीवादी भी थे। कुछ का तर्क था कि टेलीग्राफ़ के तारों का काटना या पुलों को उड़ा देना या रेल की पटरियाँ उखाड़ फेंकना तब तक अनुचित नहीं है, जब तक इनसे किसी की जान को ख़तरा नहीं पहुँचता। कुछ ने यह कहकर साफ़गोई दिखाई है कि उनका हिंसा में विश्वास नहीं था, फिर भी उन्होंने हिंसा की। गाँधीजी ने खुद 1942 में हिंसा की निंदा करने से इनकार कर दिया था। उनका कहना था कि यह सत्ता की बड़ी हिंसा का का जवाब था। फ्रांसिस हचिंस का मानना है कि हिंसा पर गाँधीजी की ज़्यादा आपत्ति इसलिए थी कि इससे जन–भागीदारी घटती थी, लेकिन 1942 में गाँधीजी ने पाया कि इस बार स्थिति ऐसी नहीं है।

इस ऐतिहासिक आंदोलन की एक बड़ी खूबी यह रही कि इसके द्वारा आज़ादी की माँग राष्ट्रीय आंदोलन की पहली माँग बन गई। 'भारत छोड़ो' के बाद अब पीछे नहीं मुड़ा जा सकता था। ब्रिटिश सरकार से भविष्य में जो भी बातचीत होनी थी, उसमें सत्ता के हस्तांतरण का सवाल आना ही था और इस सवाल पर कोई मोलभाव नहीं किया जा सकता था, जैसा कि युद्ध के बाद स्पष्ट भी हो गया।

गाँधीजी को बीमारी के आधार पर 6 मई 1944 को रिहा कर दिया गया और इसके साथ ही राजनीतिक गतिविधियों में गरमी आ गई। रचनात्मक कार्य इस समय कांग्रेस की मुख्य गतिविधि में थे। कांग्रेस मशीनरी को पुनर्गठित करने पर भी विशेष ध्यान दिया गया। कांग्रेस वर्कर्स एसेंबली या रिप्रेजेंटेटिव एसेंबली ऑफ़ कांग्रेसयेन आदि विभिन्न नामों से कांग्रेस समितियों को पुनर्जीवित किया गया। इससे कांग्रेस पर लगा प्रतिबंध अपने आप प्रभावहीन हो गया। कार्यकर्ताओं के प्रशिक्षण सदस्यता अभियान तथा कोष संग्रह का काम भी शुरू किया गया। कांग्रेस के रचनात्मक कामों को सरकार संदेह की नज़र से देखती थी। उसे भय था कि यह सब अगले संघर्ष की तैयारी का हिस्सा है। अत: इन कामों पर भी कड़ी नज़र रखी जाती थी, हालाँकि दमन का रास्ता नहीं अख्तियार किया गया। सरकार एक ऐसा प्रस्ताव लाने की भी कोशिश कर रही थी, जिससे संघर्ष के इस दूसरे दौर को रोका जा सवे । इसे वेवल प्रस्ताव या 'शिमला सम्मेलन' कहा जाता है। शिमला सम्मेलन जून 1945 में हुआ और उसके पहले सभी प्रमुख कांग्रेस नेताओं को रिहा किया जा चुका था। इस तरह मुठभेड़ का वह दौर समाप्त हुआ, जो अगसत 1942 से चल रहा था।

आजाद हिंद फौज (Indian National Army)

आजाद हिंद फौज का ख्याल सबसे पहले मोहन सिंह के मन में मलाया में अया। वे ब्रिटेन की भारतीय सेना के अफसर थे। जब ब्रिटिश सेना पीछे हट रही थे, तो मोहन सिंह जापानियों के साथ हो गए। वे जापानी भारतीयों में ब्रिटिश–विरोधी भावनाएँ तो भड़काते रहे, लेकिन उन्होंने भारतीयों को सैनिक स्तर पर संगठित करने के बारे में नहीं सोचा।

जापानियों ने जब भारतीय युद्ध–बंदियों को मोहन सिंह के सुपुर्द कर दिया, तो वे उनमें से लोगों को आजाद हिंद फौज में भरती करने लगे। सिंगापुर का जापानियों के हाथ में आना इस दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण था, क्योंकि इसस

नोट

45 हजार भारतीय युद्ध-बंदी मोहन सिंह के प्रभाव-क्षेत्र में आ गए। 1942 के अंत तक 40 हजार लोग आजाद हिंद फौज में शामिल होने के इच्छुक हो चले थे। भारतीयों का नेतृत्व करनेवाले व्यक्तियों और भारतीय सैनिक अधिकारियों के बीच विभिन्न बैठकों में यह बार-बार स्पष्ट किया गया कि आजाद हिंद फौज कांग्रेस और भारतीय जनता के आह्वान पर ही हरकत में आएगी। बहुत-से लोग यह भी मानते थे कि आजाद हिंद फौज के कारण दक्षिण-पूर्व एशिया में जापान भारतीयों के साथ दुर्व्यवहार नहीं करेगा या भारत पर कब्जा करने के बारे में नहीं सोचेगा।

भारत छोड़ो आंदोलन से आजाद हिंद फौज को भी एक नई ताकत मिली। मलाया में ब्रिटिश-विरोधी प्रदर्शन किए गए। 1 सितंबर 1942 को आजाद हिंद फौज की पहली डिवीजन का गठन 16,300 सैनिकों को लेकर किया गया। जापानी तब तक भारत पर हमला करने में सोचने लगे थे और उन्हें भारतीयों का सैनिक रूप से संगठित होना लाभप्रद प्रतीत हो रहा था। लेकिन दिसंबर 1942 के आते-आते आजाद हिंद फौज की भूमिका के बारे में जापानी और भारतीय अधिकारियों में गहरे मतभेद पदा हो गए थे। मोहन सिंह और निरंजन सिंह गिल को गिरफ्तार कर लिया गया। दरअसल, जापानी चाहते थे कि भारतीय फौज 2000 सैनिकों की हो यानी प्रतीकात्मक हो, जबकि मोहन सिंह का लक्ष्य दो लाख सिपाहियों का था।

आजाद हिंद फौज का दूसरा चरण उस वक्त शुरू हुआ, जब सुभाषचंद्र बोस को जर्मन और जापानी पनडुब्बियों द्वारा 2 जुलाई, 1943 को सिंगापुर लाया गया। वहाँ से वे टोकियो गए और उसके बाद ही जापान के प्रधानमंत्री तोजो ने घोषणा की कि जापान भारत पर कब्जा करना नहीं चाहता। बोस सिंगापुर लौट गए और वहाँ उन्होंने 21 अक्तुबर 1943 का स्वाधीन भारत की सरकार गठित की। इस सरकार ने ब्रिटेन और संयुक्त राज्य अमरीका के खिलाफ युद्ध की घोषणा कर दी। जर्मनी, जापान तथा उनके समर्थक देशों ने इस सरकार को मान्यता भी दे दी।

इसके बाद सुभाष बोस ने आजाद हिंद फौज के मुख्यालय रंगून और सिंगापुर में बनए और फौज को पुनर्गठित करना शुरू कर दिया। नागरिकों में से भी भरतियाँ की गईं, पैसा जमा किया गया और रानी झाँसी रेजिमेंट के नाम से स्त्री सैनिकों का भी एक दल बनाया गया। 6 जुलाई, 1944 को सुभाष बोस ने आजाद हिंद रेडियो पर बोलते हुए गाँधीजी को संबोधित किया, "भारत की स्वाधीनता का आखिरी युद्ध शुरू हो चुका है। राष्ट्रीयता! भारत की मुक्ति के इस पवित्र युद्ध में हम आपका आशीर्वाद और शुभकामनाएँ चाहते हैं।"

आजाद हिंद फौज की एक बटालियन शाह नवाज की कमान में जापानी फौज के साथ भारत-बर्मा सीमा पर इम्फाल के हमले में भाग लेने के लिए भेजी गई। लेकिन वहां भारतीय सैनिकों के साथे जो दुर्व्यवहार हुआ, उससे उनका मनोबल टूट गया। उन्हें न केवल रसद और हथियार से वंचित रखा गया, बल्कि जापानी सैनिकों के लिए निम्न श्रेणी के काम करने के लिए भी बाध्य किया गया। इम्फाल पर हमला विफल रहा और जापानी सैनिक पीछे लौटने लगे। इसके बाद तो इस बात की कोई उम्मीद हीं नहीं रही कि आजाद हिंद फौज भारत को मुक्त करा सकती है। जापान के आत्मसमर्पण के बाद जब आजाद हिंद फौज के सिपाहियों को युद्ध-बंदी के रूप में भारत लाया गया और उन्हें कठोर दंड देने की तजवीज होने लगी, तो एक और आंदोलन छिड़ गया।

10.4 भारतीय स्वतंत्रता और विभाजन (Indian Independence and Partition)

भारतीय समाज पर वर्चस्व क़ायम करने के संघर्ष में राष्ट्रवादी शक्तियों की सफलता द्वितीय विश्वयुद्ध के अंत तक साफ़ लक्षित होने लगी थी। ब्रिटिश शासक, हिटलर के ख़िलाफ़ युद्ध जीत गए थे, लेकिन भारतीय मोर्चे पर वे हार चुके थे। 'राज' के प्रभाव से राष्ट्रीय आंदोलन का प्रभाव काफ़ी बड़ा हो चुका था। आज़ाद हिंद फ़ौज के मुक़द्दमों के कारण उन वर्गों और उन अंचलों तक भी राजनीतिक चेतना फैल गई थी, जो आंदोलन की मुख्य धारा से अलग-थलग थे। जैसा कि हम पिछले अध्याय में बता चुके हैं, फ़ौज और नौक़रशाही के लोगों ने भी खुलेआम सभाओं में जाना, चंदा देना और कांग्रेस को वोट देना शुरू कर दिया था और वे इसे छिपाते भी नहीं थे। राजनीतिक रूप से जाग्रत समूहों का लड़ाकूपन 1942 के वीरतापूर्ण संघर्ष में उजागर हो चुका था। छात्रों और अन्य लोगों ने काफ़ी

नोट

निर्भीकता के साथ आज़ाद हिंद फ़ौज और रॉयल इंडियन नेवी के विद्रोही नाविकों के साथ अपनी एकजुटता का इजहार किया था।

राष्ट्रीय आंदोलन की सफ़लता का मानचित्र बनाने के लिए हमें उन दिनों की उमड़ती भीड़ तथा राष्ट्रवादी भावना के व्यापक प्रसार और तीव्र उत्कटता की याद करनी होगी। इसके साथ ही हमें ब्रिटिश अफ़सरों के गिरते हुए मनोबल और भारतीय अधिकारियों तथा अँग्रेजपरस्तों की बदलती हुई वफ़ादारी पर भी ध्यान देना होगा। राष्ट्रीय आंदोलन की सफलता की कहानी हमसे कहेगी लेकिन अलग ढंग से। इनकी कहानी में राष्ट्रवाद का इस रूप में ज़िक्र नहीं होगा कि उसने ब्रिटिश सत्ता के लिए भारत में कोई जगह ही नहीं छोड़ी थी। यह कहानी बताएगी कि राष्ट्रीय आंदोलन ने किस तरह साम्राज्यवाद के असर का ख़ात्मा किया, औपनिवेशिक ढाँचे को नष्ट किया और ब्रिटेन की राजनीतिक रणनीति के अंतर्विरोधों को गहरा कर दिया।

यह स्मरणीय है कि भारत में ब्रिटिश शासन चल रहा था, तो उसका आंशिक कारण भारतीय जनता के बहुत-से हिस्सों की सहमति या मूक स्वीकृति भी थी। औपनिवेशिक शासन का सामाजिक आधार ज़मींदारों, उच्च वर्गों, सरकारपरस्तों आदि के बीच सीमित था, जो विदेशी सरकार के विशेष रूप से कृपाभाजन थे। ये वे लोग थे, जो प्रशासन चलाते थे, सरकारी नीतियों का समर्थन करते थे और उन सुधार-कार्यक्रमों पर अमल करते थे, जिन्हें सरकार बड़ी हिचक के साथ और देर से लागू करती थी। 'राज' का काज प्रतिष्ठा में चलता था और इस प्रतिष्ठा का मूर्त रूप था ज़िला अधिकारी, जो इंडियन सिविल सर्विस (आई. सी.एस.) का अंग होता था। इस 'स्वर्गोद्भूत सेवा' को 'राज के इस्पाती फ्रेम के रूप में भी याद किया जाता हैं जब ये सरकारपरस्त लोग ब्रिटिश राज के जहाज़ से कूदने लगे, 'प्रतिष्ठा' खाक में मिलने लगी, ज़िला अधिकार और सचिवालय के लोग पतवार छोड़ने लगे, तो यह साफ़ हो गया कि जहाज़ डूब रहा है और तेज़ी से डूब रहा है। यह वर्षों के विध्वंस का परिणाम था। जहाज़ न केवल अंदर से सड़ रहा था, बल्कि उस पर बाहरसे अनवरत आघात हो रहा था।

एक तो आई.सी.एस. के लिए यूरोपीय नहीं मिलते थे। दूसरे, जनता की माँग पर सरकार को भारतीयकरण की नीति स्वीकार करनी पड़ी थी। इसका नतीज़ा यह हुआ कि प्रथम विश्वयुद्ध के समय तक आई.सी.एस. में ब्रिटिश वर्चस्व समाप्त हो चुका था। 1939 तक इस सर्वाधिक प्रतिष्ठित सेवा में ब्रिटिश और भारतीय हिस्सेदारी बराबर-बराबर हो चुकी थी। इस संतुलन को क़ायम रखने के लिए पहले तो भर्ती में कटौती कर दी गई और फिर 1943 में भर्ती एकदम बंद कर दी गई। 1940 से 1946 की अवधि में आई.सी.एस. अफ़सरों की संख्या 1201 से घटकर 939 हो गई (ब्रिटिश अफ़सरों की 587 से 429 और भारतीय अफ़सरों की 614 से 510)। 1946 तक बंगाल में 65 पदों के लिए 19 ब्रिटिश आई.सी.एस. अफ़सर ही उपलब्ध थे। इसके अलावा आई.सी.एस. में उन अभिजात परिवारों के ऑक्सफ़ोर्ड और कैंब्रिज में शिक्षित युवक अब नहीं आ रहे थे, जिनके पूर्वज, भारत में शासन कर चुके थे और जो यह मानते थे कि भारत के 'शिशु मानसिकतावाले लोगों' पर शासन करना इंग्लैंड की नियति है। उनका स्थान ग्रामर स्कूल और पॉलिटेक्नीक के लड़के लेते जा रहे थे, जिनके लिए 'राज' की सेवा मिशन नहीं, जीविका थी। युद्ध के कारण भी समस्या जटिल हो गई थी। 1945 तक ब्रिटेन के लोग युद्ध से थक चुके थे और लंबी-लंबी अवधियों तक देश से दूर रहने के कारण उनका उत्साह मंद पड़ने लगा था। मुद्रास्फीति के कारण आर्थिक चिंताएँ भी सताने लगी थीं। बहुत-से लोगों के सेवानिवृत्त होने की तारीख़ करीब आ रही थी व जो बचे थे, उनके बारे में माना जाता था कि वे समय से पहले ही सेवानिवृत्त हो जाना पसंद करेंगे। इस तरह 1945 में भारत में जो नौकरशाही मौजूद थी, वह संख्या और मनोबल, दोनों ही दृष्टियों से कमज़ोर थी तथा 1945 के आंदोलन ने उसे तोड़ दिया था।

लेकिन राष्ट्रवाद का मुक़ाबला करने के लिए ब्रिटिश सत्ता ने जो रणनीति अपनाई थी, उसके अंतर्विरोधों ने आई. सी.एस. अफ़सर वर्ग और 'राज' को सबसे ज़्यादा कमज़ोर कर दिया था। अँग्रेज़ समझौता और दमन, दोनों रास्तों पर चल रहे थे। एक ओर, 1942 के क्रिप्स प्रस्तावों के बाद अब वे और क्या दे सकते थे, सिवाय आज़ादी के! दूसरी ओर, 1942 के क्रूर दमन ने उदारवादियों तथा सरकारपरस्तों, दोनों की संवेदना को आहत किया था। फ़रवरी-मार्च 1943 में अपने 21 दिन के उपवास के दौरान गाँधीजी मृत्यु के क़रीब पहुँच गए लगते थे, फिर भी सरकार ने उन्हें

नोट

रिहा करने से इनकार कर दिया था। इससे भी लोग मर्माहत हुए थे। आज़ाद हिंद फ़ौज के युद्धबंदियों को मुक्त कर देने की अपील उदारवादियों और सरकारपरस्तों, दोनों ने की थी। लेकिन सरकार मुक़द्दमा चलाने के अपने फ़ैसले पर अडिग रही। ब्रिटिश राज के भारतीय दोस्त तो 1945-46 में यह देखकर अस्थिर हो गए कि वह अपने शत्रु कांग्रेस के साथ समझौता करने और सरकार में उसकी हिस्सेदारी के लिए उत्सुक हैं। जिनके हाथों में सत्ता थी, वे कितने असहाय दिखाई पड़ने लगे थे और, यह बात सरकारपरस्तों को चकित कर रही थी। जब कांग्रेस के नेताओं के उत्तेजक भाषण हवा में गूँज रहे थे, तब अफ़सर पास ही ख़ड़े टुकुर-टुकुर ताकते रहते थे। इसने 'राज' की ताक़त में सरकारपरस्तों की आस्था ही हिला दी।

नौकरशाही का संकट

सरकारपरस्तों का संकट आस्था का था, तो नौकरशाही का संकट कर्म का था। नौकरशाही तभी निर्णायक ढंग से अपना काम कर सकती थी, जब नीति स्पष्ट हो यानी समझौतावादी या दमन, दोनों में से करना क्या है, यह साफ़ हो। दोनों को मिलाकर चलने की नीति से) तो समस्याएँ ही पैदा हो सकती थीं, क्योंकि एक ही अधिकारी वर्ग को दोनों काम करने थे। यह संकट पहली बार 1930 के दशक़ के मध्य में पैदा हुआ, जब कांग्रेस की सरकारें बननेवाली थीं। अधिकारी इस संभावना से चिंतित थे कि जिन नेताओं का उन्होंने सविनय अवज्ञा आंदोलन के दौरान दमन किया था, अब उन्हीं का हुक्म मानकर चलना पड़ेगा। आठ प्रांतों में यह संभावना साकार भी हो गई।

संवैधानिक संघर्ष ने भी नौकरशाही के मनोबल को उतना ही गिराया, जितना उसके पहले के जनांदोलन ने, हालाँकि इसका एहसास कम ही दिखाई पड़ता है। सामूहिक अहिंसक कार्रवाइयों द्वारा सत्ता का भय ख़त्म हो रहा था, तो 'कांग्रेस राज' के कारण लोगों में आत्मविश्वास का संचार भी हो रहा था। मद्रास के ब्रिटिश मुख्य सचिव भी खादी पहनने लगे थे और बंबई के राजस्व सचिव, जो ब्रिटेन के थे, जब राजस्व मंत्री मोरारजी देसाई के साथ यात्रा पर होते, तो गाड़ी रुकने पर अपने पहले दरजे के डिब्बे से निकलकर देसाई के तीसरे दरजे के डिब्बे की ओर भागते, ताकि मंत्री महोदय को इंतज़ार न करना पड़े। भारतीय अधिकारियों में ब्रिटिश सत्ता के प्रति अवज्ञा तो नहीं दिखाई पड़ रही थी, लेकिन पहले जहाँ वे सरकार के प्रति अपनी वफ़ादारी का प्रदर्शन खुलेआम करते थे, वहीं अब अपनी देशभक्ति का प्रदर्शन करने लगे थे।

प्रांतीय सरकारों का सबसे महत्त्वपूर्ण परिणाम था कि भविष्य में कांग्रेस-आंदोलनों का सामना करते समय अधिकारियों के ध्यान में अब यह रहने लगा था कि कांग्रेस के फिर सत्ता में आने की संभावना थी। सरकार के निर्देशों का कहीं भी उल्लंघन नहीं हुआ परंतु उत्तर प्रदेश और बिहार में कहीं-कहीं व्यक्तिगत सत्याग्रह और 1942 के आंदोलन के विरुद्ध अधिकारियों के अनमने मन से कार्यवाही की। लेकिन 1942 में साधारणत: दमन की कड़ी नीति अपनाई गई और इसका परिणाम युद्ध की समाप्ति पर सामने आया जब कांग्रेस नेता रिहा हुए जिन्हें यह आशा थी कि वे प्रांतीय सरकारें सँभालेंगे। दमन और समझौते की नीतियाँ आपस में उलझ गईं। जब कांग्रेस के नेताओं ने जाँच की माँग उठाई, बदला लेने की धमकियाँ दीं और सरकार खामोश देखती रही, तो अधिकारियों का मनोबल गिर गया। सरकार का कहना था कि चुनाव-अभियान के दौरान यथासंभव आज़ादी देना आवश्यक था। अधिकारियों को आशंका थी कि कांग्रेस के दबाव के आगे सरकार झुक जाएगी और भूतपूर्व वायसराय लार्ड लिनलिथगो के किसी प्रकार की जाँच न होने देने के आश्वासन पर अमल नहीं होगा। वायसराय लॉर्ड वेवल ने भी स्वीकार किया कि प्रांतीय सरकारों की स्थापना से जो समस्याएँ खड़ी हुई थीं उनमें सबसे जटिल जाँच की ही समस्या थी।

वस्तुत: युद्ध के अंत तक उन अधिकारियों और नीति-निर्माताओं के समक्ष भविष्य की दिशा स्पष्ट हो चुकी थी, जो सत्ता के गत्यात्मक चरित्र को समझते थे। सेना के लोगों द्वारा ही आज़ाद हिंद फ़ौज के सैनिकों के प्रति नरमी की माँग और नौसेना के एक वर्ग में विद्रोह की घटनाओं से ही दूरदृष्टि वाले अधिकारियों ने समझ लिया था कि इस बार जो तूफ़ान उठा है वह बिना किसी बड़ी उथल-पुथल के थमने वाला नहीं है। जिन्हें ब्रिटिश सत्ता में जो कुछ ज्यादा ही विश्वास था, उनकी आँखें खोलने के लिए तो शायद पूर्ण विद्रोह की ही ज़रूरत थी। शासन का ढाँचा अब भी बरकरार था, लेकिन यह भय जरूर पैदा हो गया था कि यदि कांग्रेस ने चुनाव के बाद 1942 की तरह का

नोट

जनांदोलन फिर छेड़ा तो नौकरशाही और फ़ौज भरोसेमंद नहीं भी साबित हो सकती है और प्रांतीय सरकारें इस आंदोलन को रोकेंगी नहीं, बल्कि उसमें मदद भी करेंगी। वायसराय के शब्दों में "हम अब भी शायद आंदोलन का दमन कर लेंगे", लेकिन कठिनाई यह है कि इसके लिए अफ़सरों का सहारा लेना होगा और "सक्षम अफ़सर आवश्यक संख्या में मौजूद नहीं हैं।" (भारत के राज्य सचिव को पत्र, 27 दिसंबर 1945)

एक बारजब यह बात मान ली गई कि ब्रिटिश सत्ता पुराने ढंग से ज़्यादा दिन तक क़ायम नहीं रह सकती, तो फिर ब्रिटिश नीति-निर्माताओं का लक्ष्य यही हो गया कि सत्ता के हस्तांतरण का स्वरूप तथा आज़ादी के बाद भारत और ब्रिटेन का रिश्ता क्या रहेगा, इस बारे में समझौता कर सम्मानपूर्ण भारत छोड़ दिया जाए। उनके सामने दूसरा विकल्प यह था कि वे ब्रिटिश राज के तौर-तरीक़े बदलें, सख्ती तथा स्वेच्छाचारिता से काम लें और इस तरह 15-20 साल तक हुकूमत करते रहें। लेकिन इस विकल्प को अव्यवहारिक मान कर त्याग दिया गया। न तो लेबर पार्टी–जो उस वक्त ब्रिटेन में सत्तारूढ़ थी–के कार्यकर्ताओं को यह विकल्प मंजूर होता और न ब्रिटिश तथा अमरीकी जनमत को। इसके अलावा स्वेच्छाचारी शासन चलाने के लिए ब्रिटिश सैनिक भी उपलब्ध नहीं थे। इस सबके बावजूद यह रास्ता अपनाया भी जाता, तो 15-20 साल के बाद क्या होता? अंग्रेज़ों को बेइज़्ज़त होकर भारत छोड़ना पड़ता और भारत-ब्रिटेन रिश्तों में कड़वाहट आ जाती। ब्रिटिश सरकार के सामने यह स्पष्ट था कि भविष्य के अच्छे संबंधों के लिए और संभावित जनांदोलन की आशंका समाप्त करने के लिए समझौते से बचा नहीं जा सकता।

रियायतें ऐसी होनी चाहिए जो कांग्रेस की मूल माँगों की पूर्ति कर सकें क्योंकि ब्रिटिश सरकार समझौते की असफलता बर्दाश्त नहीं कर सकती थी। कांग्रेस की माँग थी "भारत छोड़ो" और ब्रिटिश सरकार ने निर्णय लिया कि मार्च 1946 में एक कैबिनेट मिशन भेजा जाए जो राष्ट्रीय सरकार की स्थापना की बातचीत करेगा। मिशन का उद्देश्य शक्ति-हस्तांतरण की कार्यप्रणाली का प्रबंध करना भी था। कैबिनेट मिशन क्रियात्मक मिशन की तरह खाली हाथ नहीं आया था–मिशन लंबे समय तक रहने को तैयार था।

समझौते के लिए कांग्रेस भी तैयार थी। आंदोलन की तैयारी थी ज़रूर–संगठन में चुस्ती लाकर, चुनाव प्रचार के द्वारा और आजाद हिंद फ़ौज से संबंधित मुक़द्दमों के व्यापक प्रतिवाद से यह माहौल बना दिया गया था कि किसी भी समय कोई बड़ा आंदोलन छेड़ा जा सकता है–लेकिन उसका मुख्य लक्ष्य सरकार पर समझौते के लिए दबाव बनाए रखना ही था। समझौता विफल हो जाने पर ही कांग्रेस आंदोलन के बारे में सोचने को तैयार थी। 22 सितंबर 1945 को अखिल भारतीय कांग्रेस समिति ने कांग्रेस की नीति पर जो प्रस्ताव पारित किया था, उसी में इस बात का संकेत दे दिया गया था, "अत: कांग्रेस का मार्गदर्शक सिद्धांत यही रहेगा संभव हो तो बाचीत और समझौता तथा ज़रूरी हो तो असहयोग और सीधी कार्रवाई।"

इसके अलावा 1946 के माहौल में कांग्रेस के नेता इस बात से अवगत थे कि भारत की जनता आज़ादी हासिल करने के लिए अब दृढ़प्रतिज्ञ हैं वह यह महसूस करते थे कि "ब्रिटेन दो से पाँच वर्षों में भारत छोड़ देगा" (नेहरू)। ब्रिटिश सरकार भी, 1 जनवरी 1946 को भारत के राज्य सचिव द्वारा नववर्ष के उपलक्ष्य में दिए गए वक्तव्य द्वारा तथा कैबिनेट मिशन की घोषणा के समय, अपना इरादा स्पष्ट कर चुकी थी। गाँधीजी के शब्दों में, "शासकों ने (भारत) 'छोड़ने' और भारतीय शासन स्थापित करने का अपना इरादा घोषित कर दिया है...ब्रिटेन की घोषणाओं में अविश्वास करना, अपनी ओर से कुद मान कर कलह शुरू कर देना निश्चित रूप से अदूरदर्शिता का परिचय देना होगा। कया यह सरकारी शिष्टमंडल एक महान राष्ट्र के साथ छल करने के लिए आ रहा है? इंतज़ार करने में हर्ज़ क्या है? बातचीत में शामिल होना इसलिए भी ज़रूरी हो गया था कि वैसा नहीं करने पर प्रतिक्रियावादी और सांप्रदायिक ताक़तों के लिए मेदान साफ़ हो जाता। यह डर भी था कि बातचीत का प्रस्ताव शुरू में ही ठुकरा देने पर दुनिया की निगाहों में, ख़ासकर उस ब्रिटिश समूह की निगाहों में, जो भारत की आज़ादी का पक्षधर था, कांग्रेस ही दोषी ठहरती।

समझौते के लिए समय उपयुक्त था क्योंकि एक ओर साम्राज्यवादी शासकों को इसकी आवश्यकता की समझ थी और दूसरी ओर राष्ट्रवादी नेता भी बातचीत करने को तैयार थे। लेकिन ख़ून की नदियाँ बहने के पश्चात् ही अगस्त 1947 में स्वतंत्रता प्राप्त हुई जबकि 1946 के शुरू में इसे मौन स्वीकृति मिल गई थी। साम्राज्यवाद और राष्ट्रवाद का संघर्ष, जिसका

नोट

सैद्धांतिक तौर पर समाधान हो गया था, 1946 के आरंभ में ही पर्दे से पीछे हट गया। अब एक नए संघर्ष ने उसका स्थान लिया जो ब्रिटिश सरकार, कांग्रेस और मुसलिम लीग की भविष्य की तरह-तरह की कल्पनाओं के बीच था। साम्राज्यवाद के पीछे हटने के बाद नए भारत की क्या दिशा होगी? कांग्रेस की माँग थी कि सर्वप्रथम एक केंद्रीय इकाई को सत्ता सौंपी जाए। उसके बाद अल्पसंख्यक संप्रदायों की समस्याओं का समाधान निकाला जाएगा–मुसलिम बहुमत प्रांतों को स्वायत्तता देकर या फिर आत्मनिर्णय द्वारा भारतीय संघ से संबंध विच्छेद करके, लेकिन यह सब तभी होगा जब अँग्रेज़ सरकार सत्ता हस्तांतरण कर देगी। ब्रिटिश सरकार अखंड भारत चाहती थी जो ब्रिटेन से मित्रता के साथ-साथ राष्ट्रमंडल की सुरक्षा योजनाओं में सक्रिय भूमिका निभाए। विभाजित भारत की आत्मरक्षा की क्षमता सीमित थी और संभव था कि वह संयुक्त सुरक्षा योजनाओं को निरर्थक बनाए और ब्रिटिश कूटनीति पर धब्बा बनकर रह जाए। आज़ादी से पहले मुसलिम लीग के प्रति प्रोतसाहन की ब्रिटिश नीति और वर्तमान विश्व-राजनीति में पाकिस्तान का पाश्चात्य साम्राज्यवादी ताक़तों के साथ गठबंधन को देखते हुए यह स्वाभाविक-सा लगता है कि आज़ाद होने पर भविष्य में पाकिस्तान ही ब्रिटेन का मित्र देश बनें पर ब्रिटिश सरकार की ऐसी धारणा नहीं थी।

पहले की ब्रिटिश नीति के विपरीत, 1946-47 में जो नीति वक्तव्य जारी किए गए, उनसे स्पष्ट था कि ब्रिटेन अब भारत को खंडित करने के पक्ष में नहीं था। वेवल ने जिन्ना को इस बात की छूट दी थी कि वे सभी मुसलमान नेताओं के नामांकन की ज़िद कर शिमिला सम्मेलन को विफल कर दें, लेकिन एटली ने 15 मार्च 1946 को यह स्पष्ट बयान दिया कि "अल्पमत को बहुमत की प्रगति रोकने की छूट नहीं दी जाएगी।" कैबिनेट मिशन की योजना में लीग की माँगों के लिए गुंजाइश निकालने के लिए प्रांतों के स्वायत्त शासन और अलग होने के अधिकार को मान लिया गया था, लेकिन अब भी उसकी कल्पना एक संयुक्त केंद्र की थी, जो प्रतिरक्षा, विदेश नीति और संचार की देखभाल करेगा। पटेल ने भी माना कि मिशन कीयोजना में पाकिस्तान की बात नहीं थी; लीग के वोटों को निरस्त किया जा चुका था और पूरे देश के लिए एक ही संविधान सभा की कल्पना की गई थी। सितंबर 1946 में अंतरिम सरकार बनी, तो सिर्फ़ कांग्रेस को लेकर और नेहरू उसके प्रधान नियुक्त किए गए। ज़ाहिर था कि लीग की इस माँग को दरकिनार कर दिया गया था कि लीग की मंज़ूरी के बग़ैर कोई भी समझौता न हो। वस्तुत: ब्रिटिश सरकार की नीति अब पूरी तरह पलटा खा चुकी। अपना शासन बरक़रार रखने के लिए उसने सांप्रदायिक शक्तियों को प्रोत्साहित करने तथा कांग्रेस को संपूर्ण भारतीय जनता का प्रतिनिधि नहीं मानने की नीति अख़्तियार की थी। लेकिन अब जबकि भारत को आज़ादी देने का निर्णय हो चुका था, ब्रिटिश सरकार का हित इसी में था कि भारत अखंड रहे।

लेकिन ब्रिटिश सरकार ने जिस मुसलिम लीग को संरक्षण देकर खड़ा किया था, उसे इतनी जल्द भूमिगत करना संभव नहीं था। जिन्ना ने कांग्रेस और ब्रिटिश सरकार के ख़िलाफ़ अपनी पूरी ताक़त लगा दी थी। कांग्रेस मानती थी कि विभाजन अगर ज़रूरी है तो उसका फ़ैसला आज़ादी के बाद होना चाहिए। जिन्ना की ज़िद थी, पहले विभाजन, तब आज़ादी। मुसलिम लीग ने मिशन की योजना उस हद तक स्वीकार कर ली, जिस हद तक उसमें पाकिस्तान को मान्यता दी गई थी। लीग को यह आश्वासन हासिल कर लेने की आशा थी कि प्रांतों का समूहीकरण ऐच्छिक नहीं, अनिवार्य होगा। लेकिन जब यह आश्वासन मिलता नहीं दिखाई पड़ा और सरकार ने भी कांग्रेस के इस बयान को चुनौती नहीं दी कि संविधान-सभा संप्रभु होगी तथा अपनी कार्य-प्रक्रिया खुद तय करेगी, तो लीग ने 29 जुलाई 1946 को कैबिनेट मिशन के 16 मई के वक्तव्य की अपनी मंज़ूरी वापस ले ली और ब्रिटेन पर आरोप लगाया कि वह मुसलमानों के साथ विश्वासघात कर रहा है। जिन्ना ने एटली को शुरू में ज़रा दबी आवाज़ में धमकी दी कि ब्रिटेन "मुसलमानों को अपना ख़ून बनाने के लिए मजबूर" न करे, फिर 'डाइरेक्ट एक्शन' की पिस्तौल दाग दी और "लेकर रहेंगे पाकिस्तान, लड़के लेंगे पाकिस्तान" की युद्ध घोषणा कर दी। अपनी इस नीति पर चलते हुए लीग ने 16 अगस्त 1946 को कलकत्ता में जो सांप्रदायिक पागलपन फैलाया, उसमें पाँच हज़ार लोग मारे गए और नागरिक व्यवस्था पूरी तरह छिन्न-भिन्न हो गई। जिन्ना की एकमात्र ज़िम्मेदारी "सड़कों पर फैले हुए मतदातामंडल" (आर.जे. मूर, इस्केप फ्रॉम एंपायर) के प्रति रह गई, तो आतंकित ब्रिटिश सरकार लीग को संतुष्ट करने में लग गई। केवल विलाप करने लगे कि हमने जिस भस्मासुर को शक्ति प्रदान की, उस पर हमारा ही नियंत्रण नहीं रहा। लेकिन बहुत विलंब हो चुका था।

नोट

वेवल ने मुसलिम लीग को अंतरिम सरकार में शामिल कर लिया, हालाँकि उसने कैबिनेट मिशन के किसी भी, अल्पकालीन या दीर्घकालीन, प्रावधान को स्वीकार नहीं किया था। भारत के राज्य सचिव लारेंस ने भी स्वीकार किया कि लीग को सरकार में शामिल नहीं किया जाता, तो "गृहयुद्ध अपरिहार्य हो गया होता।" लेकिन यह जल्द ही स्पष्ट हो गया कि लीग अंतरिम सरकार को चलने देना नहीं चाहती थी। उसने द्वितीय श्रेणी के नेताओं को अपना प्रतिनिधि बनाया था। जाहिर है कि जिन्ना को सिर्फ़ ताक़त चाहिए थी और वह भी सरकार को तोड़ने के लिए। वे समझते थे कि प्रशासन को कांग्रेस के हाथ में पूरी तरह छोड़ देना आत्मघाती होगा। साथ ही पाकिस्तान के लिए लड़ना है, तो सरकार में हिस्सेदारी ज़रूरी है। एस. गोपाल की इस टिप्पणी को कि "समझौते-वार्ताएँ गृहयुद्ध को जारी रखने का दूसरा माध्यम थीं" (जवाहरलाल नेहरू–ए बॉयोग्राफ़ी खंड एक) अंतरिम सरकार पर भी लागू किया जा सकता है। लीग के मंत्रियों की सरकार-भंजक चालाकियों ने नेहरू और कांग्रेस के अन्य नेताओं के सामने यह उजागर कर दिया कि उद्देश्य कांग्रेस-लीग सरकार है, तो अंतरिम सरकार को जारी रखना बेकार है। जब लीग ने संविधान सभा में शामिल होने से इनकार कर दिया, तो नेहरू वेवल को यह कहने के लिए बाध्य हो गए कि लीग या तो कैबिनेट मिशन योजना को स्वीकार करे या सरकार से बाहर निकल जाए। इससे एक नया संकट आने को ही था कि एटली ने 20 फ़रवरी 1947 को घोषणा की कि जून 1948 तक ब्रिटिश सरकार भारत को मुक्त कर देगी। नए वायसराय माउंटबेटन की नियुक्ति की घोषणा की गई। इसके साथ ही एक नया दौर शुरू हुआ।

लेबर सरकार ने एक बार फिर समझौते द्वारा समाधान को सर्वोच्च महत्त्व दिया था। संघर्ष का क्षेत्र कान्फ़रेंस हाल से सड़कों पर चले जाना तथा वेवल द्वारा इस संभावना की स्वीकृति से कि ब्रिटेन को भारत से अचानक हटना पड़ सकता है, उसे लग रहा था कि समझौते की अहमियत ख़त्म हो रही है। लेबर सरकार वेवल की आपात्कालीन योजना पर विचार करना तो दूर, उसकी संभावना से भी आतंकित थी। ब्रिटेन का बिना समझौते के भारत से हट जाना ख़तरनाक संभावनाओं से भरा हुआ था। इससे न केवल उसकी अंतर्राष्ट्रीय स्थिति को क्षति पहुँचती और उसकी प्रतिष्ठा भी धूल में मिल जाती, वरन् कोई ऐसी शक्ति नरहती, जिससे ब्रिटेन समझौता कर सकता।

सहमति से समाधान के लिए माउंटबेटन का तरीक़ा क्या था? पहले पता लगाना कि कांग्रेस और लीग किन बातों पर एकमत हो सकती हैं, फिर उन बातों पर उनकी तथा लेबर सरकार की सहमति प्राप्त करना, उनमें से कोई अपना विचार बदले, इसके पहले ही समझौता करा देना और किसी ज्वार द्वारा बालू के इन क़िलों को बहा देने के पूर्व ही भारत से विदा ले लेना। भारत पहुँचने के दो महीने के अंदर ही उन्होंने कैबिनेट मिशन योजना और भारत के विखंडीकरण की कल्पना को खारिज कर दिया। उनका स्थान ले लिया 3 जून योजना ने, जो माउंटबेटन की योजना का दूसरा नाम था। माउंटबेटन की योजना थी भारत को दोहरी डोमिनियन हैसियत प्रदान करना तथा 15 अगस्त 1947 तक सत्ता का हस्तांतरण। इसे कम-से-कम कुछ समय तक तो भारत राष्ट्रकुल में रहता ही और यह कोई मामूली तसल्ली की बात नहीं थी। यद्यपि जिन्ना ने पाकिस्तान को राष्ट्रकुल में लाने की तजवीज़ पेश की थी, पर भारत की सदस्यता को ज़्यादा महत्त्व दिया जा रहा था, क्योंकि भारत की आर्थिक तथा प्रतिरक्षा-क्षमता के बारे में ख़्याल किया जाता था कि वह ज़्यादा सुदृढ़ होगी तथा ब्रिटेन को व्यापार और विनियोग का अधिक मौका मिलेगा।

लॉड इसम न, जो उस समय रक्षामंत्री के चीफ़ स्टाफ़ थे, 30 अगस्त 1946 की रिपोर्ट में ब्रिटिश चीफ़ स्टाफ़ के विचार पेश किए–सैनिक दृष्टि से यह अत्यंत महत्त्वपूर्ण था कि भारत राष्ट्रमंडल में रहे।" माउंटबेटन की आशा थी कि दोनों देशों का गवर्नर-जनरल बनकर, वे संयुक्त सुरक्षा योजना की स्थापना कर सकेंगे और देशी राज्यों के भारतीय यूनियन में शामिल होने की समस्या को सुलझा लेंगे।

ब्रिटिश सरकार ने प्रस्थान की तिथि आगे लाकर 15 अगस्त निश्चित की। माउंटबेटन के अनुसार "स्थिति अत्यंत विस्फोटक थी," अत: 15 अगस्त की तिथि निश्चित कर ब्रिटेन ने ज़्यादा जल्दी नहीं की, बल्कि उसको तो उससे कहीं पहले भारत छोड़ देना चाहिए था। अन्य स्थानों पर सांप्रदायिक दंगे फूटने से क़ानून और व्यवस्था की स्थिति बिगड़ चुकी थी। यह आशंका थी कि कहीं ऐसी शोचनीय स्थिति न पैदा हो जाए जिसमें नियंत्रण का उत्तरदायित्व तो हो पर उसे निभाने की क्षमता न रहे। प्रशासनिक सेवा और सैनिक दलों में बहुसंख्या में अधिकारी सांप्रदायिक गुटों में बँट चुके

नोट

थे। इतिहास की विडंबना थी कि सांप्रदायिकता जिसे ब्रिटिश शासकों ने अपनी स्थिति को दृढ़ बनाने के लिए अपनाया था, अब उनके साम्राज्य के अंत की घड़ी को और समीप ले आई।

परिणाम यह हुआ कि कांग्रेस रियायतें देती गई लेकिन सांप्रदायिक शक्तियों की नींव कमज़ोर पड़ने की बजाय और दृढ़ होती गई। मुसलिम लीग की सफलता से प्रभावित होकर और ज़्यादा मुसलमान उनकी छत्रछाया में आने लगे थे। जिन्ना ने जब देखा कि कांग्रेस झुक रही है तो उन्होंने अपनी माँगें और बढ़ा दीं। दूसरी ओर हिंदू नेताओं ने दावा किया कि वे ही हिंदू हितों के संरक्षक हैं, जिनका बलिदान कांग्रेस राष्ट्रीय एकता के नाम पर लगातार करती आ रही है। यह प्रचार काफ़ी सफल रहा और हिंदू सांप्रदायिक तत्त्वों का प्रभाव बढ़ा।

कांग्रेस और विभाजन

लेकिन कांग्रेस ने विभाजन क्यों और कैसे मंजूर कर लिया? मुसलिम लीग किसी भी क़ीमत पर अपना हक़ लेने के लिए अड़ गई और ब्रिटिश सरकार को अपने ही बनाए जाल से न निकल पाने के कारण उनकी माँग को मंजूर करना पड़ गया, यह बात तो समझ में आती है। लेकिन भारत की अखंडता में विश्वास रखनेवाली कांग्रेस ने विभाजन क्यों स्वीकार किया, यह अब भी एक मुश्किल सवाल है। आख़िर बात क्या थी कि नेहरू और पटेल ने 3 जून योजना की वक़ालत की और कांग्रेस कार्यसमिति तथा (अखिल भारतीय) कांग्रेस समिति ने उसके पक्ष में प्रस्ताव पारित कर दिया? सबसे आश्चर्य की बात तो यह है कि गाँधीजी तक ने अपनी मूक स्वीकृति दे दी। क्यों? साम्यवादियों और गाँधीवादियों, दोनों का मानना है कि नेहरू और पटेल ने विभाजन को इसलिए स्वीकार किया, क्योंकि सत्ता का इंतज़ार उनके लिए असह्य हो रहा था। कहा जाता है कि इसीलिए उनहोंने गाँधीजी की सलाह की उपेक्षा कर दी, जिससे गाँधीजी इतने मर्माहत हुए कि उनकी और जीने की इच्छा ख़त्म हो गई। लेकिन फिर भी उन्होंने सांप्रदायिक घणा का अकेले ही मुक़ाबला किया, जिस प्रशस की प्रशंसा में माउंटबेअन ने उनहें एक "वनमैन बाउंडरी फ़ोर्स" कहा।

इस संदर्भ में यह भुला दिया जाता है कि 1947 में नेहरू, पटेल और गाँधी के सामने विभाजन को स्वीकार करने के सिवाय कोई और रास्ता भी नहीं रह गया था। चूँकि कांग्रेस मुसलिम जनसमूह को राष्ट्रीय आंदोलन में नहीं खींच सकी थी और मुसलिम सांप्रदायिकता के ज्वार को रोक पाने में अक्षम साबित हुई थी, इसलिए अब उसके पास विकल्प ही क्या था? कांग्रेस की विफलता 1046 के चुनावों में एकदम साफ़ हो चुकी थी। इन चुनावों में लीग को 90 प्रतिशत मुसलिम सीटें मिली थीं। यों तो कांग्रेस जिन्ना के ख़िलाफ़ अपनी लड़ाई 1946 में ही हार चुकी थी, लेकिन जब कलकत्ता और रावलपिंडी की सड़कों पर तथा नोआखाली और बिहार के गाँवों में सांप्रदायिक दंगे फूट पड़े, तो उसने अपनी पराजय स्वीकार भी कर ली। जून 1947 तक कांग्रेस के नेता महसूस करने लगे थे कि सत्ता के तुरंत हस्तांतरण से ही यह सांप्रदायिक पागलपन रोका जा सकता है। अंतरिम सरकार की अपंगता ने भी पाकिस्तान को एक अपरिहार्य वास्तविकता बना दिया। अखिल भारतीय कांग्रेस समिति की बैठक में 14 जून 1947 को पटेल ने कहा कि वस्तुत: हम इस सच्चाई से पलायन नहीं कर सकते कि पंजाब, बंगाल और अंतरिम सरकार में पाकिस्तान की स्थापना हो चुकी थी और उसने काम करना शुरू कर दिया है। अंतरिम सरकार के युद्धक्षेत्र में बदल जाने से नेहरू भी हैरान थे। मंत्री लोग आपस में तू-तू मैं-मैं करते, और अलग-अलग बैठकों में निर्णय करते। इसलिए बैठकों से बचते रहते और लियाकत अली खाँ, जिनके पास वित्त विभाग था, दूसरे विभागों के काम में रुकावट डालते। गवर्नर लीग का साथ दे रहे थे, प्रांतीय सरकारें निष्क्रिय थीं, बल्कि कहीं-कहीं दंगों में खुद भी शामिल थीं और लोग मारे जा रहे थे। नेहरू को लग रहा था कि अगर इन चीज़ों को अंतरिम सरकार रोक नहीं पा रही है, तो फिर उसमें हमारे बने रहने का औचित्य क्या है? सत्ता के हस्तांतरण से कम-से-कम इतना तो होगा कि एक ऐसी सरकार बनेगी जो सचमुच नियंत्रण कर सके।

दो डोमिनियन राज्यों को तात्कालिक सत्ता हस्तांतरण की योजना स्वीकार करने का एक और कारण था। इससे भारत के विखंडीकरण की आशंका नष्ट हो जाती, क्योंकि इस योजना में प्रांतों और रियासतों को अलग से स्वतंत्रता देने की बात नहीं थी। बाद में वस्तुत: हुआ भी यही—अपनी तमाम अनिच्छा के बावजूद रियासतों को इस या उस देश में शामिल

नोट

होना पड़ा। यह कोई मामूली उपलब्धि नहीं थी। रियासतों अगर अपना स्वतंत्र अस्तित्व बनाए रखतीं, तो भारत की एकता के लिए वे पाकिस्तान से भी बड़ा ख़तरा साबित होतीं।

इस तरह 1947 में कांग्रेस द्वारा विभाजन का स्वीकार मुसलिम लीग की एक संप्रभु मुसलिम राज्य की दलील को क़दम-दर-कदम स्वीकार करने की प्रक्रिया का ही आखिरी चरण था। 1942 में क्रिप्स मिशन के समय ही मुसलिम-बहुल प्रांतों की स्वायत्तता मंजूर कर ली गई थी। गाँधीजी एक क़दम और आगे बढ़ गए तथा 1944 में जिन्ना ने अपनी वार्ताओं के दौरान उन्होंने मुसलिम-बहूल प्रांतों के आत्म-निर्णय का अधिकार भी मान लिया। जून 1946 में कांग्रेस ने इस संभावना को भी स्वीकार कर लिया कि मुसलिम-बहुल प्रांत (जिन्हें कैबिनेट मिशन योजना में ग्रुप 'बी' और 'सी' में रखा गया था) अपनी अलग संविधान-सभा बना सकते हैं, हालाँकि उसने अनिवार्य समूहीकरण (ग्रुपिंग) का विरोध किया और कहा कि उत्तर-पश्चिम सीमाप्रांत तथा असम को यह अधिकार होना चाहिए ि वे चाहें तो अपने ग्रुप में शामिल न हों लेकिन सात बीतते-बीतते नेहरू ने कह दिया कि समूहीकरण अनिवार्य रहेगा या ऐच्छिक, इस पर संघीय न्यायालय का निर्णय उन्हें मंजूर होगा। फिर जब दिसंबर में ब्रिटिश मंत्रिमंडल ने यह स्पष्टीकरण किया कि समूहीकरण अनिवार्य है, तो कांग्रेस ने इसका विरोध नहीं किया। आधिकारिक तौर पर विभाजन की बात कांग्रेस ने मार्च 1947 में मान ली जब कांग्रेस कार्यसमिति द्वारा यह प्रस्ताव पारित किया गया कि यदि देश का बँटवारा होता है, तो पंजाब (और इसी में निहित था कि बंगाल) का भी बँटवारा होना ही चाहिए। वस्तुत: लीग के सम्मुख जून 1847 में ही पूर्ण समर्पण किया जा चुका था, जब कांग्रेस ने यह इच्छा जाहिर की थी कि यदि तत्कालीन अंतरिम सरकार को सत्ता का हस्तांतरण कर दिया जाए, तो वह डोमिनियन का दरजा स्वीकार कर लेगी। लेकिन अंतत: उसने विभाजन और डोमिनियन का दरजा, दोनों स्वीकार कर लिए।

कांग्रेस के नेता बातें तो बड़ी-बड़ी कर रहे थे, लेकिन ट्रेजेडी यह थी कि धीरे-धीरे अपनी जमीन भी छोड़ते जा रहे थे। कांग्रेस संविधान-सभा को संप्रभुता पर जोर दे रही थी, लेकिन उसने चुपचाप अनिवार्य समूहीकरण स्वीकार कर लिया तथा उत्तर-पश्चिम सीमा प्रांत को पाकिस्तान का अंग मान लिया। कांग्रेस के नेताओं ने विभाजन के लिए इसी कारण हामी भरी, क्योंकि वे साम्प्रदायिक दंगों को रोक नहीं पा रहे थे, लेकिन हिंसा के आगे आत्मसमर्पण न करने की बात भी वे दोहराते जा रहे थे। नेहरू के शब्दों थे–"हम हत्या से हाथ मिलाने नहीं जा रहे हैं और न उसे देश की नीति तय करने की इजाजत ही देंगे।" गाँधीजी ने वायसराय से बात करते हुए दृढ़ स्वर में कहा था, "अगर भारत खून से नहाना चाहता है, तो यही होगा।" वे अक्सर कहा करते थे कि हिंसा के आगे आत्मसमर्पण से अराजकता बेहतर है।"

गाँधी की स्थिति

गाँधीजी की क्या स्थिति थी? उनकी अप्रसन्नता और असहाय स्थिति का अक्सर जिक्र किया गया है। उनकी निष्क्रियता की व्याख्या यह कह कर की गई है कि कांग्रेस की फैसला लेने वाली समितियों में उनकी कोई आवाज नहीं रह गयी थी तथा वे अपने ही शिष्यों, नेहरू और पटेल की, इस आधार पर आधार पर आलोचना करने में अक्षम थे कि वे सत्ता के लालच में पड़कर झुक गए, क्योंकि वे वही लोग थे, जो अनेक वर्षों से निष्ठापूर्वक उनका अनुसरण करते आ रहे थे तथा उन्होंने काफी कुरबानी भी दी थीं।

हमारी दृष्टि में गाँधी जी का असहाय स्थिति का कारण न तो जिन्ना का दुराग्रह था और न उनके अपने शिष्यों की तथाकथित सत्ता-लोलुपता। वे, दरअसल, अपने ही लोगों के सांप्रदायिक हो जाने से असहाय थे। अपनी 4 जून 1947 की प्रार्थना सभा में उन्होंने कहा कि कांग्रेस ने विभाजन को इसलिए स्वीकार किया, क्योंकि लोग ऐसा ही चाहते थे। यह माँग मंजूर की गई, क्योंकि आप लोगों ने ऐसा चाहा। कांग्रेस ने यह माँग कभी नहीं की, लेकिन कांग्रेस में जनता की नब्ज समझने की क्षमता है, उसने महसूस किया कि खालसा और हिंदू, दोनों की इच्छा यही है। तो यह विभाजन के लिए सिखों और हिन्दुओं की आतुरता थी, जिसने गाँधीजी को व्यर्थ, दिशाहीन और अक्षम बना दिया था, गाँधीजी जन नेता थे और जन नेता की उस वक्त अहमियत ही क्या रह जाती है, जब उसका जन ही उसका अनुसरण करने से इनकार कर दे? क्या वे सांप्रदायिकता के खिलाफ आंदोलन सांप्रदायिक जनता के बल पर छेड़ते, तो उनकी

नोट

बात सुनने वाला कौन था? कारण, उनके अपने लोगों में सांप्रदायिकता घुस गई थी। गाँधीजी कांग्रेस के नेताओं की अवहेलना तो कर सकते थे, जैसा कि उन्होंने 1942 में किया था, जब उन्होंने देखा कि समय संघर्ष के लिए सही है। लेकिन तब वे बड़े पैमाने पर कुछ नहीं कर पाते। एन.के बोस ने जब उनसे कहा कि वे एक अनुकूल स्थिति उत्पन्न करें। तो गाँधीजी ने ईमानदारी से असमर्थता बतलाई। उनका विशेष गुण, उनके अपने ही शब्दों में, यही था कि वे सहज वृत्ति से यह जान पाते थे कि लोगों के हृदय को क्या मथ रहा है और जो चीज़ पहले से मौजूद रहती थी, उसको एक आकार दे देते थे। 1947 में 'अच्छाई की ताक़तें' थी ही नहीं, जिनके आधार पर वे कोई कार्यक्रम ले पाते–आज मुझे इस प्रकार भी स्वस्थ भावना का कहीं कोई चिह्न दिखाई नहीं देता। अतएव उपयुक्त समय आने तक मुझे इंतज़ार करना पड़ेगा।

लेकिन 'एक दृष्टिहीन व्यक्ति अँधेरे में निहायत अकेले टटोलते हुए' प्रकाश की किसी रिण तक पहुँचता, तब तक राजनीति इंतज़ार नहीं कर सकती थी। माउंटबेटन योजना उनका पीछा कर रही थी और गाँधीजी समझ रहे थे कि दंगों तथा अंतरित सरकार की अक्षमता के कारण विभाजन अपरिहार्य हो गया है, अत: वे 14 जून 1947 की अ. भा. कांग्रेस समिति की बैठक में दृढ़ क़दमों से गए और कांग्रेसजनों को विभाजन को एक तात्मालिक अनिवार्यता के रूप में स्वीकार करने को कहा, लेकिन उन्हें यह सलाह भी दी कि वे इसे हृदय से न स्वीकार करें तथा इसे निरस्त करने का दीर्घकालीन कार्यक्रम बनाएँ। गाँधीजी ने स्वयं भी विभाजन हृदय से स्वीकार नहीं किया और नेहरू की तरह भारतीय जनता में उनकी आस्था बनी रही। हाँ, अपने तइ उन्होंने अकेले चलने का फैसला किया, वे नोआखाली के गाँवों में पैदल घूमते रहे, बिहार के मुसलमानों को आश्वस्त करते रहे और कलकत्ता में दंगा रोकने के लिए न केवल लोगों को समझाते रहे, बल्कि उपवास की धमकी भी देते रहे। वैसे भी 'जदि तोर डाक शुने केउ न आशे, तबे एकला चलो रे' (यदि तुम्हारे आह्वान पर कोई नहीं आता, तो अकेले चलो) अरसे, से उनका प्रिय गीत था, वही उन्होंने किया।

15 अगस्त 1947 की सुबह आज़ादी और विभाजन की द्वैध वास्तविकता के साथ इस उपमहादेश पर उतरी। हमेशा की तरह, गाँधी और नेहरू दोनों ही भारतीय जनता की भावनाओं को प्रतिबिंबित कर रहे थे, गाँधीजी अपनी प्रार्थना के ज़रिए अँधेरे में हो रही हलचल, हत्याओं, अपहरणों और बलात्कारों का प्रतिकार कर रहे थे, तो नेहरू की आँखें क्षितिज पर उभर रहे प्रकाश पर टिकी थीं, जहाँ स्वतंत्र भारत का उदय हो रहा था–अर्द्धरात्रि में बारह का घंटा बजते ही, जब दुनिया सोई होती है, भारत जगेगा और रोशनी तथा आज़ादी हासिल करेगा। उनके इन कवित्वपूर्ण शब्दों ने कि "बरसों पहले हमने नियति के साथ एक क़रार किया था' लोगों को याद दिलाया कि उनकी किंकर्तव्यविमूढ़ता ही एकमात्र सत्य नहीं है, उससे भी बड़ा सत्य है वह गौरवपूर्ण संघर्ष जो जद्दोजहद से भरा था, जिसके दौरान बहुत-से लोग शहीद हुए और 'असंख्य लोगों ने कुरबानियाँ दीं, उस दिन का स्वप्न देखते हुए, जब भारत आज़ाद होगा, वह दिन आ गया था।"

10.5 सारांश (Summary)

- असहयोग आंदोलन कार्यक्रम के तहत तमाम चीज़ें आती थीं, जैसे उपाधियों और प्रशस्तिपत्रों को लौटाना, सरकारी स्कूलों, कॉलेजों, अदालतों, विदेशी कपड़ों का बहिष्कार। इस प्रस्ताव में यह भी कहा गया कि बाद में जनता को सरकारी नौकरियों से इस्तीफ़ा देने और क़ानून का अवज्ञा-जिसमें कर अदायगी न करना भी शामिल हो–के लिए भी कहा जा सकता था। राष्ट्रीय विद्यालयों की स्थापना और स्थानीय विवादों के निबटारे के लिए पंचायतों के गठन का भी प्रस्ताव था। हाथ से कताई-बुनाई को प्रोत्साहन देने तथा हिंदू-मुसलिम एकता को बढ़ावा देने पर विशेष ज़ोर देने की बात कही गई थी। छुआछूत को मिटाने और हर हाल में अहिंसा का पालन करने का सख्त निर्देश था।
- कलकत्ता के विद्यार्थियों ने राज्यव्यापी हड़ताल की। उनकी माँग थी कि स्कूलों के प्रबंधक सरकार से अपना रिश्ता तोड़ें। सी.आर. दास ने इस आंदोलन को बहुत प्रोत्साहित किया और सुभाषचंद्र बोस 'नेशनल कॉलेज'

नोट

(कलकत्ता) के प्रधानाचार्य बन गए। पंजाब में भी बड़े पैमाने पर शिक्षा का बहिष्कार किया गया। बंगाल के बाद इसी का नंबर था। लाला लाजपत राय ने यहाँ बड़ा काम किया, हालाँकि शुरू में वह इसके समर्थक नहीं थे। बंबई, उत्तरप्रदेश, बिहार, उड़ीसा, असम में भी इस कार्यक्रम पर काफी अमल हुआ, लेकिन मद्रास में इसे सफलता नहीं मिली।

- इस आंदोलन में एक और कार्रवाई, जो बहुत लोकप्रिय हुई, वह थी ताड़ी की दुकानों पर धरना। हालाँकि यह मूल कार्यक्रम में नहीं था। सरकार को इससे बहुत आर्थिक नुकसान पहुँचा और वह मजबूर होकर इसके प्रचार में जुट गई। वह बताने लगी कि ताड़ी पीने के कितने फ़ायदे हैं।
- 'तिलक स्वराज फंड' अपने लक्ष्य से भी आगे निकल गया। एक करोड़ से ज्यादा रुपए इकट्ठे कर लिए गए। चरखे और खादी का खूब प्रचार हुआ। खादी तो राष्ट्रीय आंदोलन की प्रतीक बन गई। छात्रों की एक सभा में गाँधीजी खादी पहनने की अपील कर रहे थे, तो कुछ लोगों ने शिकायत की कि खादी बहुत महँगी है। गाँधीजी ने सुझाव दिया कि कम कपड़े पहनिए, गाँधीजी ने खुद उस दिन से कुरता और धोती पहनना छोड़ दिया, लंगोटी पहनने लगे और जीवन भर अधनंगे फ़कीर की तरह रहे।
- इसके बाद हुई प्रिंस ऑफ़ वेल्स की भारत यात्रा, जो 17 नवंबर 1921 को शुरू हुई थी। जिस दिन वे बंबई आए पूरे भारत में हड़ताल थी।
- 'प्रिंस ऑफ़ वेल्स' जहाँ भी गए, वीरान सड़कों और बंद दरवाजों ने ही उनका स्वागत किया। असहयोग आंदोलनकारियों का हौंसला बढ़ता ही जा रहा था। कांग्रेस की स्वयंसेवी कोर, दिन-ब-दिन शक्तिशाली होती जा रही थी, मानो समांतर पुलिस दस्ते का गठन हो रहा हो। वर्दी और काम के तरीक़े देख, सरकार का चिंतित होना स्वाभाविक था।
- मई 1921 में नए वाइसराय लॉर्ड रैडिंग ने गाँधीजी से मुलाकात की और गाँधीजी से कहा कि वे अली भाइयों को अपने भाषणों में हिंसा भड़काने वाली बातें न कहने के लिए मनाएँ। सरकार का उद्देश्य था–गाँधीजी और अली भाइयों में आपसी फूट डालना। लेकिन वह इसमें असफल हुई और गाँधी-रैडिंग वार्तालाप यहीं पर समाप्त हुआ।
- 5 फ़रवरी 1922 को चौरीचौरा में कांग्रेस और ख़िलाफ़त का एक जुलूस निकला था। कुछ पुलिसवालों ने इनके साथ दुर्व्यवहार किया, जिसका नतीज़ा यह हुआ कि जुलूस में शामिल एक जत्थे ने पुलिस पर हमला बोल दिया। पुलिस ने गोली चलाई। पुलिस की गोलीबारी से जुलूस में शामिल सारे लोग उत्तेजित हो गए और पुलिस पर हमला बोल दिया। सिपाही भागकर थाने में घुस गए, तो भीड़ ने थाने में आग लगा दी। जो सिपाही भागने के प्रयास में बाहर आए उन्हें भीड़ ने मार डाला और आग में फेंक दिया। 22 पुलिसकर्मी मारे गए। इस घटना की ख़बर मिलते ही गाँधीजी ने आंदोलन वापस लेने की घोषणा कर दी। उन्होंने कांग्रेस कार्यकारिणी से इस फ़ैसले को स्वीकृति देने की अपील की। 12 फ़रवरी 1922 को असहयोग आंदोलन समाप्त हो गया।
- कांग्रेस की कार्यकारिणी को 1929 में हुई लाहौर कांग्रेस में यह अधिकार दिया गया था कि वह देश में सविनय अवज्ञा (सिविल नाफ़रमानी) आंदोलन छेड़े। इस आंदोलन में कर न अदा करना भी शामिल था। इसने विधान सभा के सदस्यों से विधायक पद से इस्तीफ़ा देने का भी आह्वान किया था।
- गाँधीजी को, साबरमती आश्रम के अपने 78 सहयोगियों के साथ अहमदाबाद मुख्यालय से गुजरात के गाँवों में होते हुए 240 मील की यात्रा करनी थी। उनके इस कार्य के सहयोगियों में भारत के सभी क्षेत्रों और धर्म के लोग शामिल थे। दांडी में समुद्र के किनारे पहुँचकर गाँधीजी को नमक़ कानून तोड़ना था। ऊपर से हानि रहित दिखने वाला आंदोलन भयंकर साबित हुआ।
- अपने समर्पित कार्यकर्ताओं के साथ हाथ में लाठी लेकर गाँधीजी ने जब यह यात्रा शुरू की तो इस दृश्य में कुछ ऐसा जादू था कि लोगों का मन आंदोलित हो उठा। गाँधीजी के आगे बढ़ने का समाचार अख़बारों के जरिए देश के कोने-कोने तक पहुँचने लगा।

नोट

- गाँधीजी के आह्वान पर गुजरात के 300 ग्राम अधिकारियों द्वारा अपने पदों से त्यागपत्र देने के बारे में भी ख़बरें अख़बारों ने प्रकाशित कीं और समूचे देश को इन गतिविधियों से अवगत कराया।
- 1930 को 6 अप्रैल के दिन एक मुट्ठी नमक हाथ में लेकर गाँधीजी ने सिविल नाफ़रमानी आंदोलन का श्रीगणेश किया। यह ऐसा आंदोलन था जो राष्ट्रीय आंदोलन के इतिहास में आम जनता की भागीदारी की दृष्टि से बेमिसाल था।
- एक बार जब गाँधीजी ने दांडी में नमक हाथ में लेकर इसके शुरू होने की रस्म पूरी कर दी तो नमक क़ानून तोड़ने का सत्याग्रह समूचे देश में शुरू हो गया। तमिलनाडु में तंजौर के समुद्री तट पर चक्रवर्ती राजगोपालचारी ने, त्रिचिनापल्ली से वेदारण्यम की नमक यात्रा प्रारंभ की और 30 अप्रैल को जब उनको गिरफ़्तार किया गया तो उनके शिविर में इतने अधिक लोग एकत्र हो चुके थे कि उनकी मदद से यह सत्याग्रह काफ़ी समय तक चलता रहा। मालाबार में वैकम सत्याग्रह के नायक ने नमक क़ानून तोड़ने के लिए कालीकट से पयान्नर तक की यात्रा की। सत्याग्रहियों का एक दल असम के सिलहट स्थान से बंगाल के नोवाखाली समुद्र तट तक नमक बनाने के लिए पहुँचा था।
- नमक क़ानून भंग करने पर सरकार गाँधीजी को गिरफ़्तार करने में असफल रही। स्थानीय स्तर के नेताओं ने इसको अपने पक्ष में इस्तेमाल किया और लोगों को यह समझाकर प्रभावित किया कि "हम लोगों से सरकार भयभीत हो गई है।" और यह कि "जब से नमक सत्याग्रह आरंभ हुआ है, सरकार गायब हो गई है। यह कहीं जाकर छिप गई है और गाँधीजी की सरकार कायम हो गई है।"
- पेशावर (पश्चिमोत्तर प्रांत) में जनाक्रोश की अभिव्यक्ति कई रूपों में देखने को मिली जहाँ कांग्रेस नेताओं की गिरफ़्तारी को लेकर जनता ने अभूतपूर्व प्रदर्शन किया। इस इलाक़े में खान अब्दुल गफ़्फार खाँ वर्षों से सक्रिय थे और उनके द्वारा जनता में किए गए काम की वजह से अहिंसक क्रांतिकारियों के बहादुर जत्थे यानी खुदाई ख़िदमतगारों के दल तैयार हुए थे। ये लोग 'लालकुर्ती' के नाम से जाने जाते थे। सिविल नाफ़रमानी आंदोलन में इनकी भूमिका काफ़ी सक्रिय थी।
- पेशावर की घटनाएँ इसलिए भी काफ़ी महत्त्वपूर्ण थीं कि गढ़वाल रेजिमेंट के सिपाहियों ने निहत्थी भीड़ पर गोली चलाने से इनकार कर दिया था।
- गाँधीजी की गिरफ़्तारी का लोगों ने ज़बरदस्त विरोध किया। बम्बई में लोगों की बहुत बड़ी भीड़ सड़कों और गलियों में निकल आई। यह भीड़ इतनी अधिक थी कि पुलिस को पीछे हटना पड़ा। इसमें रेलवे और सूती मिलों में काम करने वाले मज़दूर हजारों की संख्या में जमा थे। कपड़ा व्यापारियों ने छह दिन की हड़ताल रखी। दिल्ली और कलकत्ता में पुलिस के साथ टकराव हुए और गोली भी चली। लेकिन महाराष्ट्र के शोलापुर नगर में इसकी प्रक्रिया सबसे उग्र थी।
- 21 मई को सरोजिनी नायडू (जिनको अख़िल भारतीय कांग्रेस की प्रथम महिला अध्यक्ष होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था), गाँधीजी के अफ्रीका संघर्ष के दिनों के दोस्त इमाम साहब तथा गाँधीजी के पुत्र मणिलाल 2000 कार्यकर्त्ताओं को अपने साथ लेकर इनका नेतृत्व करते हुए उस घेरे की तरफ़ दृढ़तापूर्वक बढ़े जो धरासना नमक कारख़ाने की रक्षा के लिए बनाया गया था। जैसे ही वे नजदीक पहुँचे वैसे ही लोहे की मुठवाली लाठी लेकर के पुलिस आगे बढ़ी और निहत्थे सत्याग्रहियों पर तब तक लाठी बरसाती रही जब तक कि घायल होकर वे ज़मीन पर गिर नहीं पड़े।
- कर न अदा करने के अभियान का मुख्य स्थल पूर्वी भारत था जहाँ चौकीदारी के लिए कर अदा करने से लोगों ने मना कर दिया। ख़ास तौर से गाँवों से जो कर दिया जाता था उसका एक हिस्सा चौकीदारों के लिए हुआ करता था। चौकीदार गाँव के रक्षक होते थे और पुलिस बल की छोटी इकाई के पूरक के रूप में काम करते रहते थे। पूर्वी क्षेत्र में इनकी मुख्य भूमिका थी।

नोट

- पुलिस ने तो सरदार वल्लभभाई पटेल की 80 वर्ष की माँ को भी नहीं बख्शा, जो करमसाड़ के अपने गाँव के मकान में बैठी खाना पका रही थीं। उनके खाना पकाने के बरतनों को उठाकर फेंक दिया गया, उनमें कंकड़-पत्थर और मिट्टी का तेल भर दिया गया। 1930 के दौरान वल्लभभाई अधिकांश समय जेल में रहे और थोड़े दिनों के लिए जब भी बाहर निकले अपने गाँव और आसपास के इलाक़ों में कठिन जीवन-यापन कर रहे किसानों को लगातार ढाढस बँधाते और प्रोत्साहित करते रहे।
- महाराष्ट्र, कर्नाटक और मध्य भारत में वन नियमों के उल्लंघन का आंदोलन भी विशाल जनांदोलन का रूप ले चुका था। इसमें विशेष रूप से वे क्षेत्र शामिल थे जिनमें जन-जातियाँ रहती थीं।
- उत्तर प्रदेश में आंदोलन का दृश्य और भी भिन्न क़िस्म का था। यहाँ पर 'कर न दो, लगान न दो' का आंदोलन चलाया गया। कर न देने का आह्वान ज़मींदारों के लिए था। उनसे निवेदन कियाग या था वे सरकार को राजस्व न दें और लगान न देने का आग्रह किसानों से था ताकि ज़मींदारों को वे लगान न दें।
- 5 मार्च 1931 को गाँधी-इरविन समझौते के रूप में 15 दिन के लंबे विचार-विमर्श के बाद एक दस्तावेज सामने आया। इसे कुछ लोगों ने 'शांति समझौता' और कुछ ने 'अस्थाई क़रार' नाम दिया।
- इस समझौते पर कांग्रेस की तरफ़ से गाँधीजी ने हस्ताक्षर किए और सरकार की ओर से लार्ड इरविन ने हस्ताक्षर किए। नौकरशाही के लिए यह विचित्र बात थी क्योंकि इसमें कांग्रेस और सरकार को समानता के स्तर पर रखा गया था।
- बिहार के तिरहुत प्रखंड में तो दो सप्ताह तक कोई सरकार ही नहीं थी। सचिवालय गोलीकांड के बाद पटना दो दिन तक बेकाबू रहा। उत्तर और मध्य बिहार के 80 प्रतिशत थानों पर जनता का राज हो गया था। कुछ स्थानों पर गोरों का व्यक्तिगत हमला भी हुआ। पूर्वी यू.पी. में आजगढ़, बलिया और गोरखपुर तथा बिहार में गया, भागलपुर, सारन, पूर्णिया, शाहाबाद, मुजफ्फरपुर और चंपारण स्वत:स्फूर्त जन-विद्रोह के मुख्य केंद्र रहे।
- उन दिनों आंदोलन के समाचार पहुँचाना भी एक महत्त्वपूर्ण काम था। इस दृष्टि से सबसे नाटकीय मामला रहा बंबई शहर के विभिन्न केंद्रों से कांग्रेस रेडियों का गुप्त रूप से संचालन। इसके प्रसारणों को मद्रास तक सुना जा सकता था। राममनोहर लोहिया नियमित रूप से कांग्रेस रेडियो पर बोलते थे। नवंबर 1942 में पुलिस ने इसे खोज निकाला और ज़ब्त कर लिया।
- फ़रवरी 1943 में एक महत्त्वपूर्ण घटना हुई। ग़ाँधीजी ने जेल में 10 फ़रवरी से उपवास शुरू कर दिया और घोषणा की कि वह 21 दिनों तक चलेगा।
- विदेश में न केवल मैनचेस्टर गार्डियन, न्यू स्टेट्समैन, नेशन, न्यूज़ क्रॉनिकल और शिकागो सन ने, बल्कि ब्रिटेन की कम्युनिस्ट पार्टी, लंदन तथा मैनचेस्टर के नागरिकों, वूमैन्स इंटरनेशनल लीग, ऑस्ट्रेलियन काउंसिल ऑफ़ ट्रेड यूनियस और सीलोन स्टेट काउंसिल ने भी गाँधीजी को रिहा करने की सलाह दी। इसके लिए संयुक्त राज्य अमरीका की सरकार का भी दबाव पड़ा।
- सरकार की प्रतिष्ठा को सबसे ज़्यादा आघात उस वक्त लगा, जब वायसराय की कार्यपरिषद् के तीन सदस्य, एम. एस. एनी, एन.आर. सरकार और एच.पी. मोदी ने इस सवाल पर इस्तीफ़ा दे दिया। 1942 के आंदोलन के दमन में इन लोगों ने सरक़ार का साथ दिया था, पर ये गाँधीजी की मौत से साझेदार बनना नहीं चाहते थे।
- ब्रिटिश प्रधानमंत्री विन्स्टन चर्चिल की इस घोषणा कि "जब दुनिया में हम हर कहीं जीत रहे हैं, ऐसे वक्त में हम एक कमबख्त बुड्ढे के सामने कैसे झुक सकते हैं, जो हमेशा हमारा दुश्मन रहा है,"
- भारत छोड़ो आंदोलन की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता थी देश के कुछ हिस्सों में समानांतर सरकारों की स्थापना। पहली ऐसी सरकार बनी बलिया में, चित्तू पांडे के नेतृत्व में। चित्तू पांडे अपने को गाँधीवादी कहते थे। उनकी सरकार ने कलक्टर से सारे अधिकार छीन लिए और सभी गिरफ़्तार कांग्रेसी नेताओं को रिहा कर दिया, लेकिन उसका प्रभुत्व ज़्यादा समय तक क़ायम नहीं रह सका।

नोट

- बंगाल के मिदनापुर ज़िले के तामलुक नामक स्थान पर 17 दिसंबर 1942 को 'जातीय सरकार' (राष्ट्रीय सरकार) का गठन किया गया। उसका अस्तित्व सितंबर 1944 तक रहा।
- 'जातीय सरकार' ने बड़े पैमाने पर तेज़ी से राहत का काम चलाया, स्कूलों को अनुदान दिए और एक सशस्त्र विद्युत वाहिनी का भी गठन किया।
- सतारा (महाराष्ट्र) की समानांतर सरकार सबसे ज़्यादा दीर्घजीवी साबित हुई। भारत छोड़ो आंदोलन की शुरुआत से ही यह क्षेत्र काफ़ी सक्रिय रहा था।
- वाइ.बी. चव्हाण यहाँ के सबसे महत्त्वपूर्ण नेता थे। उनका अच्युत पटवर्धन तथा अन्य भूमिगत नेताओं से भी संपर्क था।
- इस ऐतिहासिक आंदोलन की एक बड़ी ख़ूबी यह रही कि इसके द्वारा आज़ादी की माँग राष्ट्रीय आंदोलन की पहली माँग बन गई। 'भारत छोड़ो' के बाद अब पीछे नहीं मुड़ा जा सकता था।
- गाँधीजी को बीमारी के आधार पर 6 मई 1944 को रिहा कर दिया गया और इसके साथ ही राजनीतिक गतिविधियों में गरमी आ गई। रचनात्मक कार्य इस समय कांग्रेस की मुख्य गतिविधि में थे।
- इस संदर्भ में यह भुला दिया जाता है कि 1947 में नेहरू, पटेल और गाँधी के सामने विभाजन को स्वीकार करने के सिवाय कोई और रास्ता भी नहीं रह गया था।
- जून 1947 तक कांग्रेस के नेता महसूस करने लगे थे कि सत्ता के तुरंत हस्तांतरण से ही यह सांप्रदायिक पागलपन रोका जा सकता है। अंतरिम सरकार की अपंगता ने भी पाकिस्तान को एक अपरिहार्य वास्तविकता बना दिया।
- आधिकारिक तौर पर विभाजन की बात कांग्रेस ने मार्च 1947 में मान ली जब कांग्रेस कार्यसमिति द्वारा यह प्रस्ताव पारित किया गया कि यदि देश का बँटवारा होता है, तो पंजाब (और इसी में निहित था कि बंगाल) का भी बँटवारा होना ही चाहिए। वस्तुतः लीग के सम्मुख जून 1847 में ही पूर्ण समर्पण किया जा चुका था, जब कांग्रेस ने यह इच्छा जाहिर की थी कि यदि तत्कालीन अंतरिम सरकार को सत्ता का हस्तांतरण कर दिया जाए, तो वह डोमिनियन का दर्जा स्वीकार कर लेगी लेकिन अंततः उसने विभाजन और डोमिनियन का दर्जा, दोनों स्वीकार कर लिए।
- गाँधीजी ने वायसराय से बात करते हुए दृढ़ स्वर में कहा था, "अगर भारत खून से नहाना चाहता है, तो यही होगा।" वे अक्सर कहा करते थे कि हिंसा के आगे आत्मसमर्पण से अराजकता बेहतर है।"

10.6 शब्दकोश (Keywords)

- भौंचक्के–आश्चर्यचकित होना।
- अपरिहार्य–निश्चित, जिसे टाला न जा सके।

10.7 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में असहयोग आंदोलन महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। स्पष्ट कीजिए।
2. गाँधीजी द्वारा चौरी-चौरा काण्ड के बाद असहयोग आंदोलन को वापस लेने के निर्णय का बुद्धिजीवियों ने एक स्वर से निन्दा की थी। आंदोलन वापस लेने के निर्णय से आप सहमत हैं या असहमत, स्पष्ट कीजिए।
3. सविनय अवज्ञा आंदोलन की सफलताओं एवं दुर्बलताओं पर प्रकाश डालिए।
4. भारत छोड़ो आंदोलन की विशेषताओं का विश्लेषण कीजिए।
5. भारत को स्वतंत्रता तो मिली किन्तु विभाजित! समीक्षात्मक वर्णन कीजिए।

नोट

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer: Self Assessment)

1. 1. 1920 2. 22 पुलिसकर्मियों 3. 12 फरवरी 1922
4. विदेशी कपड़ों 5. ताड़ी की दुकान

2. 1. (क) 2. (ग) 3. (ख) 4. (ख)
5. (क)

10.8 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. *आधुनिक भारत*– एस.के. पाण्डे, प्रयाग एकेडमी इलाहाबाद।
2. *स्वतंत्रता का इतिहास*– बी.एल. ग्रोवर एवं यशपाल, एस, चन्द एण्ड कम्पनी लि., दिल्ली।
3. *स्वतंत्रता संग्राम*– विपिन चन्द्र, हिन्दी माध्यम कार्यान्वय, निदेशालय दिल्ली विश्वविद्यालय।

नोट

इकाई–11: स्वतंत्रता प्राप्ति से 1964 तक का भारत (India Independent to 1964)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

11.1 संसदीय व्यवस्था, धर्मनिरपेक्ष एवं जनवादी गणतंत्र (A Parliamentary, Secular and Democratic Republic)

11.2 विकसित समाजवादी समाज पर जवाहर लाल नेहरू का दृष्टिकोण (Jawahar Lal Nehru's Vision of a Developed Socialist Society)

11.3 योजना, राज्य नियंत्रित औद्योगीकरण एवं कृषि सम्बंधी सुधार (Planning, State Controlled Industrialization and Agrarian Reforms)

11.4 सारांश (Summary)

11.5 शब्दकोश (Keywords)

11.6 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

11.7 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- आजादी के बाद भारत में संसदीय व्यवस्था, धर्मनिरपेक्षता एवं जनवादी गणतंत्र के विकास प्रक्रिया का विवेचन करने में;
- समाजवादी समाज के विकास पर जवाहर लाल नेहरू के दर्शन को समझने में;
- कृषि सम्बंधी सुधार, योजना और राज्य नियंत्रित औद्योगीकरण की व्याख्या करने में;

प्रस्तावना (Introduction)

1951 से 1964 तक के वर्ष परिपक्वता और उपलब्धियों के वर्ष थे। ये वर्ष ऊंची उम्मीद, आकांक्षा तथा सफलता के प्रति उज्ज्वल आशावादी मानसिकता और आत्मविश्वास के वर्ष भी रहे हैं। अप्रैल 1953 में जवाहरलाल नेहरू ये घोषणा कर रहे थे–

मैं तब तक आराम से नहीं बैठ सकता जब तक कि इस देश के प्रत्येक व्यक्ति, स्त्री और बच्चे को एक उचित व्यवहार और न्यूनतम जीवन स्तर की सुविधा प्राप्त नहीं हो जाती ... एक राष्ट्र को जांचने के लिए पांच-छह वर्ष की अवधि बहुत छोटी होती है। आप दस साल और इंतजार कीजिए और आप पाएंगे कि हमारी योजनाएं इस देश का नजारा पूरी तरह ऐसे बदल देंगी कि दुनिया भौंचक्की रह जाएगी।

और देश के मिजाज को प्रतिबिंबित करते हुए उन्होंने जून 1955 में लिखा–

हमारे चारों ओर ढेरों समस्याओं और मुसीबतों के होते हुए भी, जो अकसर लगता है हमारे ऊपर हावी हो रही हैं, इस देश में आशा का माहौल बना हुआ है; भविष्य के प्रति एक विश्वास और उन मौलिक सिद्धांतों में आस्था बनी

नोट

हुई है जिन्होंने हमें यहां तक पहुंचाया है। सुबह की रोशनी फैल रही है और भारत के दीर्घ और जटिल इतिहास में एक नए युग का सूत्रपात हो रहा है।"

यह वे वर्ष थे जब भारत व्यावहारिक रूप से स्थिर था, इसकी राजनीतिक प्रणाली एक विशिष्ट स्वरूप ग्रहण कर रही थी, देश हर दिशा में तरक्की कर रहा था और सबसे बड़ी बात, राजनीतिक और आर्थिक व्यवस्था का भारी पुनर्निर्माण आरंभ हो चुका था। आम लोग भी यह महसूस कर रहे थे कि जनवाद, नागरिक अधिकार, धर्मनिरपेक्षता, वैज्ञानिक और अंतर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण, आर्थिक विकास और नियोजन तथा समाजवाद के रास्ते पर अग्रसर होने की शुरुआत हो चुकी है। मौलिक उपलब्धियों के रास्ते पर कदम बढ़ रहे थे, हालांकि विकास की धीमी रफ्तार, खासतौर पर गरीबी और बेरोजगारी की समस्याओं और भूमिसुधार के क्षेत्र में प्रगति बहुत कम और असंतोषजनक ढंग से हो रही तरक्की से बुद्धिजीवी समुदाय में काफी नाराजगी भी थी।

अपनी समस्याओं और कमजोरियों के बावजूद उपलब्धियों और प्रगति के कुछ विशिष्ट क्षेत्र इस प्रकार थे–

(*i*) राष्ट्र का समेकन तथा भाषाई एवं जनजातीय समस्या का समाधान, (*ii*) स्वतंत्र और नियोजित आर्थिक विकास की प्रक्रिया का शुभारंभ, (*iii*) स्वतंत्र और मौलिक विदेश नीति का विकास, (*iv*) चुनावी प्रक्रिया की शुरुआत, (*v*) जनवाद का आरोपण, (*vi*) प्रशासनिक व्यवस्था की स्थापना, (*vii*) विज्ञान और तकनीक का विकास और, (*vii*) कल्याणकारी राज्य का आरंभ।

11.1 संसदीय व्यवस्था, धर्मनिरपेक्ष एवं जनवादी गणतंत्र (A Parliamentary, Secular and Democratic Republic)

राष्ट्रपति (President)–संविधान ने कार्यकारिणी के अधिकार राष्ट्रपति को प्रदान किए हैं लेकिन अंबेडकर के शब्दों में वे उसी स्तर के राष्ट्रपति (President) संवैधानिक प्रमुख हैं जिस स्तर के अंग्रेजी संविधान में राजा। वे राज्य के प्रमुख हैं, न कि कार्यकारिणी के। वे राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करते हैं लेकिन उस पर शासन नहीं करते। कार्यकारिणी का प्रमुख वास्तव में प्रधानमंत्री है जो मंत्रिपरिषद प्रमुख है, और मंत्रिपरिषद् संसद के प्रति जिम्मेदार है। भारत की संसदीय प्रणाली ब्रिटिश प्रणाली से सबसे अधिक मिलती है। अंतर यह है कि भारत में कोई परंपरागत राजा नहीं है, बल्कि चुना गया राष्ट्रपति राज्य का सांकेतिक मुखिया है।

भारतीय संविधान राष्ट्रपति को भारी अधिकार प्रदान करता है, लेकिन इनकाउ प्रयोग मंत्रिमंडल की सलाह के अनुसार ही किया जा सकता है। लेकिन, साथ ही, राष्ट्रपति नाममात्र का प्रमुख नहीं हैं; ऐसी राजनीतिक परिस्थितियाँ पैदा हो सकती हैं जिसमें राष्ट्रपति को सक्रिय होना पड़ सकता है। उनके औपचारिक और वास्तविक अधिकारों के बीच यह तनाव प्रथम राष्ट्रपति डॉ. राजेंद्र प्रसाद के वक्त से ही दीख पड़ता था। उन्हें हिंदू कोड बिल के बारे में गंभीर आपत्तियां थीं। उन्होंने इस संदर्भ में सितंबर 1951 में कहा कि राष्ट्रपति की भूमिका अधिक सक्रिय होती है। नेहरू ने तुरंत संवैधानिक विशेषज्ञ मद्रास के अल्लादी कृष्णस्वामी अय्यर और एटॉर्नी–जनरल एम.सी. सीतलवाड के विचार जाने। भारतीय जनतंत्र के सौभाग्य से, दोनों ही विशेषज्ञों ने स्पष्ट कहा कि प्रेसीडेंट राजेंद्र प्रसाद के विचार स्वीकार कर लेने से देश का समूचा संवैधानिक ढांचा अस्त–व्यस्त हो जाएगा, और राष्ट्रपति के हाथों में तानाशाही की ताकतें भी सिमट सकती हैं। राजेंद्र प्रसाद को अधिक सीमित भूमिका अदा करने के लिए मनवाया गया। उन्हें संविधान सभा में उन्हीं के द्वारा कहे गए शब्दों की याद दिलाई गई जिनमें उन्होंने बहस के दौरान आशा प्रकट की थी कि "भारत में भी वही परंपरा पाली जाएगी जिसके तहत इंगलैंड में राजा हमेशा ही अपने मंत्रियों की सलाह पर ही काम करता है... राष्ट्रपति को हर मामले में संवैधानिक राष्ट्रपति ही होना चाहिए।"

जब एक पार्टी का स्पष्ट बहुमत हो तो राष्ट्रपति द्वारा अपनी शक्तियों के प्रयोग की संभावना कम होती है। लेकिन विभाजित जनादेश और अस्थायी मिल–जुली सरकारों की स्थिति में राष्ट्रपति के अधिक हस्तक्षेप की संभावना बढ़ जाती है। ऐसा पहली बार 1979 में हुआ जब मोरारजी देसाई के नेतृत्व में जनता सरकार शासक पार्टी में फूट के कारण गिर गई। राष्ट्रपति नीलम संजीव रेड्डी ने अपने अधिकारों का प्रयोग करके मोरारजी देसाई को नई सरकार बनाने की अनुमति देने से इनकार कर दिया। उन्होंने चरणसिंह से निश्चित तिथि तक विश्वास मत हासिल करने को

नोट

कहा। नए प्रधानमंत्री चरणसिंह द्वारा लोकसभा भंग करने की सलाह मानने से पहले राष्ट्रपति ने अन्य पार्टियों के नेताओं से सलाह-मशविरा किया। इस अस्थिर परिस्थिति ने राष्ट्रपति के लिए अपने अधिकारों का प्रयोग करने की स्थिति पैदा कर दी।

हाल के वर्षों में, राष्ट्रपति की भूमिका के बारे में चिंताएं बढ़ गई हैं। इंदिरा गांधी की हत्या के बाद राजीव गांधी के 1984-85 के चुनावों में सत्ता में आना वह पिछला मौका था। जब किसी एक पार्टी को स्पष्ट बहुमत मिला। 1989, 1991, 1996 और 1998 के चुनावों के नतीजों ने राष्ट्रपति के हस्तक्षेप के लिए काफी अनुकूल परिस्थितियाँ पैदा कर दीं। उदाहरण के लिए, मोर्च 1998 के चुनाव नतीजों के बाद भा.ज.पा. ने सबसे बड़ी पार्टी होने के नाते सरकार बनाने का दावा किया। उसके दावे के अनुसार उसे अन्य पार्टियों से उचित समर्थन हासिल था, और इसलिए वह लोकसभा में विश्वास मत हासिल कर सकती थी। तब राष्ट्रपति नारायणन ने भा.ज.पा. के नेता अटल बिहारी वाजपेयी से इस बात का लिखित प्रमाण पेश करने पर जोर दिया कि उनकी पार्टी को सचमुच बहुमत का समर्थन हासिल है। फलस्वरूप इंतजार का बड़ा ही कष्टदायक दौर शुरू हुआ। इस पार्टी की एक महत्वपूर्ण सहभोगी ए.आई.ए.डी.एम.के. की जे. जयललिता (जिनके समर्थन वापस लेने पर अप्रैल 1999 में भा.ज.पा. सरकार गिर गई) ने समर्थन संबंधी निर्णय पर कई बार पुनर्विचार किया। इस पार्टी ने ऐसी गुप्र बैठकों में काफी मोल-तोल किया, जिन्हें जानबूझकर प्रचारित किया गया था। तभी ए.आई.ए.डी.एम.के. ने आखिरकार भा.ज,पा. को समर्थन देना स्वीकार किया। इस संपूर्ण घटना में राष्ट्रपति की भूमिका महत्वपूर्ण रही। वे समर्थन के पत्र का इंतजार करने से इनकार कर सकते थे और अगली बड़ी पार्टी या ग्रुप को सरकार बनाने के लिए आमंत्रित कर सकते थे। इस प्रकार वे भा.ज.पा. को सरकार बनाने से रोक सकते थे, जो वैसे भी बहुत कम बहुमत पर भरोसा कर रही थी। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि अस्थायी या अस्पष्ट राजनीतिक परिस्थितियों में राष्ट्रपति द्वारा हस्तक्षेप तथा अधिकारों के उपयोग या दुरुपयोग की संभावना बढ़ जाती है।

लेकिन, स्थायित्व की परिस्थितियों में भी कई बार राष्ट्रपतियों ने व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा या संविधान के प्रति ज़िम्मेदारी निभाने के इरादे से अपने अधिकारों का प्रयोग किया है। सबसे महत्वपूर्ण उदाहरण राष्ट्रपति ज्ञानी जैल सिंह का है। वे ऐसे पहले राष्ट्रपति थे जिन्होंने कई बिल संसद को वापस कर दिया था। साथ ही उन्होंने प्रधानमंत्री को यह भी लिखा कि उन्हें महत्वपूर्ण घटनाओं की जानकारी नहीं दी जा रही है। इससे उन्हें यह देखने की संवैधानिक ज़िम्मेदारी निभाने में दिक्कत हो रही है कि सरकार संविधान की धाराओं और आत्मा के अनुरूप चलाई जा रही थी। उनके द्वारा प्रधानमंत्री को बर्खास्त करने संबंधी अफवाहें काफी जोर पकड़ रही थीं। उसी वर्ष 1987 में बाद में प्रतिरक्षा खरीदारी संबंधी बोफोर्स कांड फूट पड़ा। ऐसी प्रतीत होता है कि जैल सिंह ने सचमुच विभिन्न राजनीतिक नेताओं के साथ राजीव गांधी को प्रधानमंत्री के रूप में बर्खास्त करने की संभावना पर विचार-विमर्श किया था। लेकिन आखिर यह नहीं हुआ। लेकिन स्पष्ट है कि संसद में प्रधानमंत्री को स्पष्ट बहुमत होने के बावजूद राष्ट्रपति द्वारा अपने अधिकारों की परंपरागत सीमओं से बाहर जाने की संभावना बनी रहती है। राजीव गांधी के नेतृत्व में कांग्रेस को लोकसभा में आज तक का सबसे बड़ा बहुमत प्राप्त था।

विवाद का एक और क्षेत्र राज्य सरकारों को भंग करने में राष्ट्रपति को भूमिका और राष्ट्रपति शासन लागू करने संबंधी है। फरवरी 1998 में, लोकसभा चुनावों के दौरान, उत्तर प्रदेश में भा,ज,पा, के नेतृत्व में कल्याण सिंह की सरकार को गवर्नर रमेश भंडारी ने बर्खास्त कर एक अन्य व्यक्ति को मुख्यमंत्री नियुक्त किया। हाईकोर्ट ने कल्याण सिंह को पुनर्स्थापित कर दिया। गवर्नर ने केंद्र को असेंबली भंग करने और राष्ट्रपति शासन लागू करने की सलाह के साथ रिपोर्ट भेजी। मंत्रिमंडल ने काफी विचार-विमर्श के बाद गवर्नर की रिपोर्ट स्वीकार कर ली, और प्रधानमंत्री आई.के. गुजराल ने रिपोर्ट का अनुमोदन राष्ट्रपति को भेज दिया। लेकिन राष्ट्रपति नारायणन ने असहमति जताते हुए इसे मंत्रिमंडल को पुनर्विचार के लिए वापस भेज दिया। तदनुरूप उत्तर प्रदेश के गवर्नर ने इस्तीफा दे दिया, और कल्याण सिंह 'आया-राम--गया-राम,' अपराधियों तथा अन्य प्रकार के तत्वों के मिलावट वाले मंत्रिमंडल के साथ मुख्यमंत्री बने रहे।

नोट

क्या आप जानते हैं राजीव गांधी के नेतृत्व में कांग्रेस को लोकसभा में आज तक का सबसे बड़ा बहुमत प्राप्त था।

इस मामले में राष्ट्रपति नारायणन के लिए कोई निर्णय लेना एक कठिन काम था। कल्याण सिंह के पास समर्थन के अलग-अलग दावे थे। पक्ष छोड़ने-छुड़वाने और वापस आने की घटनाएं हो रही थीं, और इस काम में धन के प्रयोग का भी आरोप था। लेकिन राष्ट्रपति ने तय किया कि चूंकि उ.प्र. मंत्रिमंडल ने अपना बहुमत सदन में दर्शा दिया था, चाहे वह हासिल क्यों न किया गया हो, इसलिए उन्हें उसे बर्खास्त करने का कोई अधिकार नहीं था। उनके आलोचकों का तर्क है बहुमत दर्शा देना ही यह साबित करने के लिए काफी नहीं होता कि राज्य में संवैधानिक मशीनरी टूट चुकी है। डरा-धमकाकर हासिल किए गए बहुमत पर प्रश्न-चिन्ह लगाया जा सकता है।

44वें संशोधन में राष्ट्रपति को यह अधिकार दिया गया है कि वह मंत्रिपरिषद से अपने निर्णय पर पुन: विचार करने का अनुरोध करे। लेकिन यदि मंत्रिपरिषद अपने निर्णय पर कायम रहे तो राष्ट्रपति को वह स्वीकार करना ही होगा। लेकिन जैसा कि राष्ट्रपति नारायणन और उत्तर प्रदेश के मामले से स्पष्ट होता है, राष्ट्रपति द्वारा मामला पुनर्विचार के लिए वापस भेजा जाना एक गंभीर मामला होता है और उसकी उपेक्षा करना आसान नहीं है।

दूसरे मामलों में राष्ट्रपति के अधिकार स्पष्ट हैं। धारा 111 के तहत जब कोई बिल उनके सामने पेश किया जाता है, तो उन्हें इससे असहमति जताने का अधिकार है, और यदि वे चाहें तो इसे संसद को पुनर्विचार के लिए वापस भी भेज सकते हैं। यदि दोनों सदन इसे फिर पास कर देते हैं और उनके पास पुन: भेज देते हैं तो उन्हें अपनी सहमति देनी ही पड़ती है। लेकिन धन संबंधी बिल के बारे में उन्हें कोई अधिकार नहीं है। कुछ मिलाकर उन्हें वीटो का असीमित अधिकार नहीं है।

1978 में किए गए 44वें संशोधन के अनुसार यह स्पष्ट किया गया है कि राष्ट्रपति तभी आपातकाल की घोषणा कर सकता है जब इस संबंध में मंत्रिमंडल का लिखित निर्णय उन्हें प्राप्त हो। आपातकाल के दौरान भी उन्हें मंत्रिमंडल की सलाह पर ही काम करना होगा। यह बिल्कुल स्पष्ट है कि राष्ट्रपति के लगभग सारे ही अधिकारों : उच्चतर अदालतों के जजों की नियुक्ति, गवर्नरों, राजदूतों, एटॉर्नी-जनरल, भारत के कांपट्रोलर एवं ऑडिटर-जनरल, इत्यादि की नियुक्ति, जैसे अधिकारों समेत अन्य का उपयोग मंत्रिमंडल की सलाह पर ही हो सकता है। सशस्त्र सेनाओं के सुप्रीम कमांडर के रूप में तथा संसद के अधिवेशन नहीं होने की स्थिति में अध्यादेश लागू करने के उनके अधिकारों पर भी यही बात लागू होती है।

राष्ट्रपति का चुनाव पांच वर्षों के लिए होता है। उन्हें फिर से चुना जा सकता है। उन्हें संविधान के उल्लंघन के आरोप में हटाया भी जा सकता है। उनका चुनाव संसद के दोनों सदनों के चुने प्रतिनिधियों, और राज्य असेंबलियों के सदस्यों द्वारा एकल हस्तांतरण मत के जरिए समानुपातिक प्रतिनिधित्व के आधार पर होता है। प्रत्येक एम.पी. या एम.एल.ए. के पस एकल हस्तांतरण वोट होता है जिसका मूल्य उसके द्वारा प्रतिनिधित्व किए जाने वाली जनसंख्या पर आधारित होता है।

उपराष्ट्रपति (Vice-President)

यदि राष्ट्रपति की मृत्यु अपने कार्यकाल के दौरान होती है, या वे अपनी अनुपस्थिति, बीमारी, हटाए जाने या इस्तीफा देने के कारण अपना कार्य संपादित करने में असमर्थ हों, तो धारा 65 के अनुसार उपराष्ट्रपति राष्ट्रपति के रूप में काम करने लगते हैं। ऐसा दो मौकों पर हुआ–जब डॉ. जाकिर हुसैन और फखरुद्दीन अली अहमद की अपने कार्यकाल में ही मृत्यु हो गई, तो उपराष्ट्रपति वी.वी. गिरी और बी.डी. जत्ती को कार्यभार संभालना पड़ा। इसलिए, उपराष्ट्रपति का चुनाव बड़ी सावधानी से किया जाना चाहिए। सामान स्थिति में, उपराष्ट्रपति का मुख्य कार्य राज्यसभा के अध्यक्ष की जिम्मेदारी संभालना होता है। उनका चुनाव संसद के दोनों सदनों द्वारा पांच वर्षों के लिए होता है। लेकिन वे किसी भी विधायिका के सदस्य नहीं होते।

नोट

नोट्स सामान्य स्थिति में, उपराष्ट्रपति का मुख्य कार्य राज्यसभा के अध्यक्ष की जिम्मेदारी संभालना होता है।

मंत्रिपरिषद और प्रधानमंत्री (Council of Minister and Prime Minister)

संविधान के तहत वास्तविक कार्यकारिणी-संबंधी अधिकार प्रधानमंत्री के नेतृत्व में लोकसभा में बहुमत वाली पार्टी का नेता हो। यदि किसी पार्टी को स्पष्ट बहुमत प्राप्त नहीं है तो ऐसे व्यक्ति को नियुक्त किया जाता है जिसे लोकसभा के अधिकांश सदस्यों का विश्वास प्राप्त हो। दूसरे मंत्री प्रधानमंत्री द्वारा चुने जाते हैं और राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त किए जाते हैं। मंत्रियों का संसद-सदस्य होना जरूरी नहीं है, लेकिन उन्हें नियुक्ति के छह महीनों के अंदर ही किसी एक सदन का सदस्य चुनाव या मनोनयन के जरिए होना जरूरी है। मंत्रिपरिषद सामूहिक रूप से लोकसभा के प्रति ज़िम्मेदार होती है। यदि वह लोकसभा का विश्वास खो बैठती है तो उसे तुरंत इस्तीफा दे देना चाहिए।

नेहरू के शब्दों में प्रधानमंत्री "सरकार का केंद्रबिंदु" होता है। लगभग सारे अधिकार राष्ट्रपति में औचारिक तौर पर निहित होते हुए भी वास्तव में प्रधानमंत्री द्वारा प्रयुक्त होते हैं। प्रधानमंत्री राष्ट्रपति, मंत्रिमंडल तथा संसद के बीच कड़ी होता है। भारत में प्रधानमंत्री के पद ने काफी महत्व हासिल कर लिया है। इसका आंशिक कारण है जवाहरलाल नेहरू का प्रधानमंत्री होना, जो लगभग सत्रह वर्षों तक इस पद पर बने रहे। उनकी प्रतिष्ठा और सम्मान इतना अधिक था कि उसका कुछ प्रभाव स्वयं पद पर भी पड़ा। चुनावों में अपनी जीत और 1971 के बांग्लादेश युद्ध के बाद इंदिरा गांधी इतनी शक्तिशाली बन गई थी कि राजनीतिक प्रणाली में प्रधानमंत्री पद ने अत्यंत महत्व की स्थिति ध ारण कर ली। प्रधानमंत्री को मंत्रियों के चुनाव या उनकी बर्खास्तगी के पूर्ण अधिकार हैं। इससे प्रधानमंत्री को दूसरों के ऊपर बड़े पैमाने पर अधिकार मिलते हैं।

संविधान में मंत्रियों की विभिन्न श्रेणियों का उल्लेख नहीं किया गया है, जैसे–मंत्रिमंडल-स्तरीय मंत्री, राज्यमंत्री तथा उपमंत्री। हां, धारा 352 में अवश्य ही मंत्रिमंडल को कैबिनेट-स्तर के मंत्रियों की परिषद बताया गया है। ये मंत्री नियमित रूप से प्रधानमंत्री के सभापतित्व में कैबिनेट की बैठकों में भाग लेते हैं। सभी महत्व के निर्णय कैबिनेट की बैठकों में लिए जाते हैं।

संविधान में राज्यों के समान केंद्र में संवैधानिक मशीनरी के बिखरने की इज़ाजत नहीं दी गई है और प्रत्यक्ष राष्ट्रपति शासन की भी नहीं। केंद्र का शासन हमेशा ही मंत्रिपरिषद के हाथों में रहेगा। विश्वास-मत खो देने और मंत्रिपरिषद के इस्तीफे के बावजूद राष्ट्रपति उससे तब तक बने रहने का अनुरोध करते हैं जब तक नए मंत्रिमंडल का गठन नहीं हो जाता।

भा.ज.पा. के नेतृत्व वाली सरकार ने 17 अप्रैल 1999 को विश्वास मत खो दिया। इस सरकार ने कामचलाऊ सरकार के रूप में काम करने से इनकार का दिया, जैसा कि अब तक की परंपरा थी। फलस्वरूप एक नया संवैधानिक विवाद पैदा हो गया। विरोधी पार्टियों द्वारा विरोध के बावजूद सरकार ने इस बिना पर कामचलाऊ सरका का विचार अस्वीकार कर दिया कि संविधान में इसका कोई प्रावधान नहीं है। इस पर विवाद हो सकता है कि यह तर्क एक स्थापित परंपरा की अनदेखी करता है और स्वार्थ-प्रेरित है। मुख्य चुनाव आयुक्त ने सरकार को सलाह दी कि वह इस बात का ध्यान रखे कि देश चुनावोन्मुख हो चुका है हालांकि वास्तविक चुनाव तैयारी की अवधि अभी आरंभ नहीं हुई है। लेकिन इस सलाह पर कोई ध्यान नहीं दिया गया। (हालांकि लोकसभा अप्रैल 1999 में भंग की गई, मानसून के कारण तथा वोटर लिस्टों के संशोधन के लिए नए चुनाव सितंबर या अक्तूबर तक मुल्तवी कर दिए गए।) लोकसभा भंग किए जाने के तुरंत बाद 3 मई 1999 को सचिव-पद के आठ अफ़सर (जो अफ़सरों की प्रणाली में उच्चतम पद होता है) एकाएक स्थानांतरित कर दिए गए। इनमें गृह-सचिव भी शामिल थे, जो क़ानून एवं व्यवस्था के लिए ज़िम्मेदार होते हैं। महत्वपूर्ण परंपराओं में से एक के अनुसार चुनावों की घोषणा कर दिए जाने पर अफ़सरों का तबादला नहीं किया जा सकता है। दु:ख की बात यह है कि संविधान के अक्षरों का सहारा संवैधानिक व्यवहार समाप्त करने के उद्देश्य से लिया जा रहा है।

नोट

संसद (Parliament)

भारतीय संसद में दो सदन होते हैं–ऊपरी सदन राज्यसभा या राज्यों की परिषद है, और निचली सदन लोकसभा का जनता का सदन है। राज्यसभा में 250 सदस्य होते हैं। इनमें से 238 का चुनाव राज्य विधानसभाओं के चुने सदस्य एकल हस्तांतरण मत प्रणाली के तहत समानुपातिक प्रतिनिधित्व के आधार पर करते हैं। अन्य 12 का मनोनयन सरकार के सुझाव पर राष्ट्रपति करते हैं। वे विभिन्न कार्य-क्षेत्रों का प्रतिनिधित्व करते हैं, जैसे शिक्षा, सामाजिक कार्य, मीडिया, खेलकूद, इत्यादि। राज्यसभा के एक-तिहाई सदस्य हर दो वर्षों पर रिटायर हो जाते हैं। लेकिन सदस्यों का कार्यकाल छह वर्षों के लिए होता है। इस प्रकार, राज्यसभा एक स्थायी संस्था है। भारत के उपराष्ट्रपति राज्यसभा अध्यक्ष होते हैं। सभा के सदस्य अपने बीच से ही एक उप-सभापति का चुनाव करते हैं।

लोकसभा का चुनाव जनता द्वारा पांच वर्षों के लिए होता है। इसे इसका कार्यकाल समाप्त होने से पहले भी भंग किया जा सकता है। आपातकाल के दौरान लोकसभा का कार्यकाल एक बार में एक वर्ष के लिए बढ़ाया जा सकता है, लेकिन आपातकाल की समाप्ति के बाद छह महीनों से अधिक के लिए नहीं। वास्तव में, लोकसभा का कार्यकाल सिर्फ एक ही बार, 1976 में, एक वर्ष के लिए बढ़ाया गया था, जब प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी ने आपातकाल की घोषणा की थी।

अठारह वर्ष की उम्र के या उससे अधिक उम्र वाले सभी नागरिक वोट देने के अधिकारी हैं। विजयी उम्मीदवार वह होता है जो "दौड़ में सबसे आगे" होता है, अर्थात जिसे सबसे अधिक वोट मिलते हैं। ऐसा कोई नियम नहीं है कि जीतने वाले उम्मीदवार को कम से कम 50 प्रतिशत वोट मिलें ही, जैसा कि कई देशों में होता है। कई विशेषज्ञों का मत है कि यह प्रणाली अपनाई जानी चाहिए ताकि चुने गए उम्मीदवार का स्वरूप अधिक प्रतिनिधि हो और वह अपने वोट-बैंक से अधिक व्यापक तबकों की ओर ध्यान दे। हमारी प्रणाली में समानुपातिक प्रतिनिधित्व का स्थान नहीं है।

मतदाता-क्षेत्र भौगोलिक आधार पर होती हैं, जिनका एक-सदस्यीय प्रतिनिधित्व होता है। ये क्षेत्र राज्यों में जनसंख्या के अनुपात में बनाए जाते हैं। इनमें से कुछ जनजातियों एवं आदिवासियों के लिए राज्य की जनसंख्या में उनके अनुपात में सुरक्षित रखी जाती हैं। इस प्रकार, यदि आंध्र प्रदेश की जनसंख्या का 40 प्रतिशत जनजातियों और 10 प्रतिशत आदिवासियों का है, जो राज्य से लोकसभा की 40 प्रतिशत सीटों पर सिर्फ जनजातियों के उम्मीदवार और 10 प्रतिशत पर सिर्फ आदिवासी उम्मीदवार ही चुनाव लड़ सकते हैं। लेकिन उनके मतदाता अलग नहीं होंगे; उस क्षेत्र में रहने वाली सारी जनता उन्हें चुनेगी। आज़ादी के पूर्व की स्थिति के समान उनके लिए अलग मतदाता नहीं हैं।

हाल के वर्षों एक-तिहीई मतदाता-क्षेत्रों को महिलाओं के लिए आरक्षित करने संबंधी दबाव बढ़ रहा है। इस संबंध में एक बिल संसद में 1998 में पेश भी किया गया था। लेकिन यह विभिन्न जातिगत एवं धर्मगत दलबंदियों के दावों तथा विरोधी दावों के बीच फंसा हुआ है। वे आरक्षण के अंदर आरक्षण की मांग कर रहे हैं। उनका कहना है कि अन्यथा सिर्फ ऊपरी जातिख तबकों कि हिंदू स्त्रियां ही स्त्रियों के लिए आरक्षित सीटों पर कब्जा कर लेंगी। अंतिम नतीजा चाहे जो हो, विवाद ने स्पष्ट रूप से आरक्षण के सिद्धांत का आंतरिक विकास-स्रोत दर्शाया है।

उद्देश्य चाहे कितना ही अच्छा हो, सिद्धांत-रूप में स्वीकार किए जाने पर उन्हीं अधिकारों के लिए अन्य ग्रुपों के दावों की अनदेखी नहीं की जा सकती है। आरक्षण का अनुभव दर्शाता है कि इसे वापस लेना लगभग असंभव है। संविधान में आरक्षण को दस वर्षों का अल्पकालिक प्रावधान रखा गया है। किसी भी सरकार ने इसे हर बार दस वर्षों के लिए बढ़ाने का विरोध नहीं किया है। फलस्वरूप, अब तक इसे पचास वर्षों तक के लिए बढ़ाया जा चुका है। उल्टे, आरक्षण की मांग और स्वीकृति में वृद्धि ही हुई है। आरक्षण कुछ ग्रुप-पहचानों को बनाए रखता है। वर्तमान राजनीतिक परिस्थितियों में यह प्रश्न कठिन है कि आरक्षण संविधान में निहित नागरिकता के लिए बाधक है या नहीं। अधिकार-वंचित समुदाय और उनके नेता समझते हैं कि आरक्षण सभी बीमारियों का निदान है। यह शायद इसलिए कि ऐसे समुदायों/ग्रुपों के स्पष्ट एवं मुखर सबकों के लिए ऊपर उठने का आसान मौका मिलता है। शायद इसलिए भी कि भविष्य की अस्पष्ट चीज के बजाए सामने स्पष्ट चीज हासिल करना अधिक आसान है।

नोट

लोकसभा की अधिकतम सीटें 552 होती हैं। इनमें से 550 भौगोलिक मतदाता-क्षेत्र हैं, और दो ऐंग्लो-इंडियन समुदाय के मनोनीत सदस्य होते हैं। सदस्यों की उम्र कम से कम पच्चीस वर्ष होनी चाहिए। लोकसभा की अध्यक्षता स्पीकर करते हैं, और उनकी अनुपस्थिति में उपाध्यक्ष या डिप्टी स्पीकर। दोनों ही का चुनाव सदस्यों द्वारा सदस्यों के बीच से ही होता है। परंपरा के अनुसार स्पीकर का पद बहुमत वाली पार्टी को जाता है, और डिप्टी स्पीकर का विरोध पक्ष को। फिर भी, हाल के वर्षों में खंडित चुनाव नतीजों और सरकार के भीतर तथा बाहर विरोधी गुटों के दावों ने स्थापित परंपराएं उल्ट दी हैं। अब तक स्पीकर तथा डिप्टी स्पीकर का चुनाव विवाद से दूर रखा जाता था, ताकि उनकी छवि पक्षपात से रहित हो। स्पीकर ऐसा व्यक्ति हो जिसमें काफी क्षमता और प्रभाव हो, जिनका प्रयोग वह सदन में कर सके। लेकिन 1998 में भा.ज.पा. के नेतृत्व वाली सरकार ने पहले तो सभी द्वारा समर्थित कांग्रेस उम्मीदवार पी.ए. संगमा के समर्थन का वादा किया। लेकिन बाद में अपने एक घटक दल तेलुगू देशम पार्टी को खुश करने के लिए एक अनजान उम्मीदवार बालयोगी को चुना। यह दुर्भाग्यपूर्ण है, क्योंकि संविधान ने स्पीकर को भारी जिम्मेदारियाँ सौंपी हैं—लोकसभा के अंदर इससे संबंधित सभी मसलों पर स्पीकर का निर्णय अंतिम होता है।

संसद को व्यापक वैधानिक अधिकार हैं, और बिल किसी भी सदन में पेश किए जा सकते हैं। क़ानून बनने के लिए बिल को दोनों सदनों में पास करना तथा उसे राष्ट्रपति का अनुमोदन मिलना जरूरी है। राष्ट्रपति, यदि जरूरी समझें तो, बिल संसद या सरकार को वापस पुनर्विचार के लिए भेज सकते हैं। लेकिन यदि वह पुन: पारित कर दिया जाता है तो राष्ट्रपति उसे अनुमोदित करने से नहीं रोक सकते। लेकिन धन-संबंधी बिल पहले लोकसभा में पेश किया जाना चाहिए और उसे राष्ट्रपति का अनुमोदन प्राप्त होना चाहिए। उसे फिर राज्यसभा भेजा जाता है, और यदि चौदह दिनों के अंदर वापस नहीं किया जाता, तो पास हुआ मान लिया जाता है। धन-संबंधी बिलों के बारे में राज्यसभा के सुझाव लोकसभा मानने को बाध्य नहीं है।

टास्क लोकसभा की अध्यक्षता कौन करता है?

इस प्रकार संविधान ने संसद को बड़ा सम्मानजनक स्थान प्रदान किया है, और इसी के अनुरूप इसके सदस्यों को सुविधाएं प्रदान की है। दुर्भाग्यवश, हाल के वर्षों में कुछ सदस्यों एवं पाटियों का व्यवहार संसद के सम्मान से काफी नीचे रहा है जिससे विधान-निर्माण की प्रक्रिया में बाधा पहुंची है। उसमें अनर्थक वाक-आउट, शोर-शराबा, यहां तक कि शारीरिक गुत्थमगुत्थे तक हुए हैं। इससे जन-आक्रोश बढ़ा है, और यह भावना फैली है कि संसद टैक्स देने वालों के लिए बहुत बढ़ी बर्बादी है।

धर्मनिरपेक्ष राज्य (Secular State)

संविधान भारत को एक सार्वभौम, समाजवादी, धर्मनिरपेक्ष तथा जनतांत्रिक गणतंत्र घोषित करता है। हालांकि 'धर्मनिरपेक्ष' और 'समाजवादी' शब्द 1976 में 42वें संशोधन के जरिए जोड़े गए थे, संविधान की आत्मा धर्मनिरपेक्ष थी। 1973 में सुप्रीम कोर्ट ने संविधान के धर्मनिरपेक्ष चरित्र को इसके मूल लक्षणों में एक बताया। इसके अलावा इसमें मूलभूत अधिकारों में धर्म के आधार पर भेदभाव पर रोक, आस्था की आज़ादी समेत धार्मिक आज़ादी, धर्म का प्रचार और व्यवहार, धार्मिक मामलों का प्रबंधन, किसी भी धर्म को बढ़ावा देने के लिए टैक्स की आज़ादी, कुछ शैक्षणिक संस्थाओं में धार्मिक पूजा या धार्मिक उपदेश में हिस्सा लेना, अल्पसंख्यकों के हितों की रक्षा और उनके द्वारा अपनी शैक्षणिक संस्थाएं स्थापित और प्रबंधित करने समेत सांस्कृतिक एवं शैक्षणिक अधिकार शामिल हैं।

भारतीय संदर्भ में धर्मनिरपेक्षता के अर्थ पर गर्मागर्म बहस होती रही है। कुछ का कहना है कि पश्चिम में, जहां से यह शब्द लिया गया, इसका मतलब काफी भिन्न है। पश्चिम में चर्च और राज्य के बीच संघर्ष के फलस्वरूप दोनों अलग हो गए। चर्च को धार्मिक मामले तय करने का अधिकार मिला, जबकि राज्य गैर-धार्मिक मामले तय करने लगा। भारत में, धर्मनिरपेक्षता सांप्रदायिक ताकतों के खिलाफ़ राष्ट्रवादी ताकतों के संघर्ष के संदर्भ में विकसित हुई।

नोट

ये सांप्रदायिक ताकतें धर्म का प्रयोग राजनीतिक उद्देश्यों के लिए करना चाहती थीं, और इस प्रकार उभरते राष्ट्र को धर्म के आधार पर विभाजित करना चाहती थीं। जैसा कि नेहरू ने बड़ा सही कहा है–

हम अपने राज्य को धर्मनिरपेक्ष कहते हैं। 'धर्मनिरपेक्ष' शब्द शायद पूरी तरह उचित नहीं है, लेकिन बेहतर शब्द के अभाव में हम इसी का प्रयोग कर रहे हैं। इसका अर्थ क्या है? स्पष्ट है, इसका अर्थ समाज में धर्म के प्रति उदासीनता पैदा करना नहीं है। इसका मतलब है, धर्म और आस्था की आज़ादी को बढ़ावा देना। इनमें उनकी भी आज़ादी शामिल है जो धर्म नहीं मानते। इसका मतलब है सभी धर्मों को पूरी आज़ादी; बस शर्त यह है कि वे एक-दूसरे के मामलों में और हमारे राज्य की मूल मान्यताओं में हस्तक्षेप न करें।

डॉ. एस. राधाकृष्णन ने, जो भारतीय दर्शन के प्रसिद्ध विद्वान और 1962 से 1967 तक भारत के राष्ट्रपति रहे, धर्मनिरपेक्षता के भारतीय संदर्भ में कहा–

हम यह मानते हैं कि किसी भी धर्म को प्राथमिकता नहीं दी जानी चाहिए... नागरिकों के किसी भी दल को वे अधिकार एवं विशेषाधिकार नहीं मिलने चाहिए जिनसे वह दूसरों को वंचित रखता है। धर्म के आधार पर किसी भी व्यक्ति के प्रति न भेदभाव बरता जाना चाहिए और न ही उसे नुकसान पहुंचाया जाना चाहिए। सबों को समान जीवन का पूरा हक होना चाहिए...ऐसी धर्मनिरपेक्षता भारत की प्राचीन धार्मिक परंपरा के अनुकूल है।

धर्मनिरपेक्षता के प्रति नेहरू की प्रतिबद्धता अतुलनीय और सर्वांगीण थी। वे अपने पूरे अस्तित्व से सांप्रदायिकता से नफरत करते थे और अपनी पूरी जिंदगी सारी ताकत लगाकर उससे लड़ते रहे। उन्होंने धर्मनिरपेक्षता की जड़ों को भारतीय जनता के बीच फैलाया और उस समय फैलती हुई सांप्रदायिक आग को पीछे धकलने में कामयाब हुए। जब धार्मिक उन्माद फैलाने के लिए एक माहौल तैयार हो गया था। हालांकि वे सभी मुद्दों पर आम सहमति और समझौते के पक्ष में थे, परंतु सांप्रदायिकता एक ऐसा मुद्दा था जिस पर वे कभी कोई समझौता नहीं कर सकते थे। जैसा कि 1950 में उन्होंने कहा, "सांप्रदायिकता पर किसी भी समझौते का अर्थ अपने सिद्धांतों की तिलांजलि और भारतीय स्वाधीनता के मकसद से गद्दारी के अलावा और कुछ नहीं हो सकता।"

भारत की ख़ास परिस्थितियों का ध्यान रखते हुए, नेहरू ने धर्मनिरपेक्षता को दोहरे अर्थों में परिभाषित किया यानी एक तरफ राज्य, राजनीति और शिक्षा को धर्म से अलग रखना तथा धर्म को व्यक्ति का निजी मामला बनाना एवं दूसरी तरफ सभी धर्मों के लिए समान आदरभाव दिखाना और उनके अनुयायियों को समान अवसर उपलब्ध कराना। उन्होंने सांप्रदायिकता को परिभाषित करते हुए इसे एक ऐसी विचारधारा बताया जो "हिंदू, मुसलमान, सिख या ईसाई को समरूप समूह मानकर राजनीतिक तथा आर्थिक मामलों की व्याख्या करता है, एक धार्मिक समूह को दूसरे धार्मिक समूहों के खिलाफ़ भड़काकर नफरत फैलाता है।"

नेहरू उन पहले व्यक्तियों में थे जिन्होंने सांप्रदायिकता की सामाजिक-आर्थिक जड़ों को समझने की कोशिश की थी। वे इस विश्वास पर पहुंचे थे कि यह मुख्यत: प्रतिक्रियावादियों का एक हथियार है, हालांकि इसका सामाजिक आधार मुख्यत: मध्यवर्गीय ही है। अवतार के रूप में परिभाषित किया। उनके अनुसार दूसरी तरफ धर्मनिरपेक्षता जनवाद की मूलभूत एवं अनिवार्य पूर्वशर्त है। नेहरू किसी भी तरह, हिंदू, मुसलिम, सिख या ईसाई संप्रदाय में कोई अंतर नहीं करते थे। उनके मुताबिक ये सभी एक ही विचारधारा के विभिन्न रूप हैं और इसलिए इन सबों का एक साथ विरोध किया जाना चाहिए। जहां वे इस बात के प्रति पूरी तरह स्पष्ट थे कि अल्पसंख्यकों को पूरी सुरक्षा देनी चाहिए एवं उनके भय को दूर करना चाहिए, वहीं वे अल्पसंख्यकों की सांप्रदायिकता का भी उतना ही विरोध करते थे जितनी बहुसंख्यकों की सांप्रदायिकता का। उन्होंने बहुत तार्किक अंदाज में समझाते हुए कहा कि भारत जैसे बहु-धार्मिक समाज में राष्ट्रीय एकता सिर्फ धर्मनिरपेक्षता के आधार पर बन सकती है और इसलिए सांप्रदायिकता साफ तौर पर राष्ट्रीय एकता की दुश्मन और राष्ट्र विरोधी है।

हालांकि सांप्रदायिकता की समस्या के प्रति नेहरू के रवैए में एक भारी दोष भी था। उनमें इसके बार में कुछ हद तक आर्थिक व्याख्यावादी, यांत्रिक, अतिसरलवादी और नियतिवादी झुकाव मौजूद था। उनका विश्वास था कि नियोजन और आर्थिक विकास तथा शिक्षा के प्रसाद के साथ-साथ सांप्रदायिक चिंतक खुद ब खुद कमज़ोर होता चला जाएगा और

नोट

धर्मनिरपेक्ष चेतना के निर्माण में यह मददगार साबित होगा। इस तरह उन्होंने विचारधारात्मक स्तर पर सांप्रदायिकता के विरुद्ध संघर्ष की अवहेलना की। इसका एक नतीजा यह हुआ कि उन्होंने शिक्षा के सार तत्व पर अथवा विज्ञान एवं वैज्ञानिक दृष्टिकोण के जनता के बीच प्रचार-प्रसार पर बहुत ही कम ध्यान दिया। इसके अलावा जहां वे स्वयं काफी सक्रिय थे, वहीं उन्होंने सांप्रदायिकता के विषय में अपनी विलक्षण समझदारी को आम जनता में पहुंचाने के लिए कांग्रेस का एक संगठन के रूप में उपयोग नहीं किया। अपने सिद्धांतों से भी उस समय कुछ समझौता किया जब केरल में उन्होंने मुसलिम लीग और ईसाई सांप्रदायिक दलों के साथ 1960 के चुनाव में कांग्रेस को समझौता करने की इज़ाजत दी। वे राज्य सरकारों को सांप्रदायिक हिंसा फैलाने वालों के खिलाफ़ कठोरतम प्रशासनिक कार्रवाई करने के लिए भी तैयार नहीं कर पाए। परिणामस्वरूप, बड़े पैमाने पर होने वाले सांप्रदायिक दंगों के कारण उनके जीवन के अंतिम दिन दु:ख से भरे हुए थे।

जनवादी गणतंत्र (Democratic Republic)

भारतीय जमीन पर जनवाद की सुदृढ़ स्थापना इस हद तक सफल रही कि आज के लोग ऐसा मानने लगे हैं कि हमेशा से भारत में जनवाद ऐसे ही स्थापित था। इस जनवाद की स्थापना की शुरुआत 1947 के बाद संविधान निर्माण प्रक्रिया के साथ ही आरंभ हुई और 26 जनवरी 1950 को इसे लागू कर दिया गया। 1951-52 के दौरान हुए आम चुनावों में जनवाद ने एक महान छलांग लगाई। ये चुनाव चार महीनों के दौरान संपन्न हुए। यह चुनाव पूरी दुनिया में जनवाद के लिए किया गया सबसे बड़ा प्रयोग था। चुनाव सर्व वयस्क मताधिकार के आधार पर करवाए गए, जिसमें 21 वर्ष से ऊपर के सभी व्यक्तियों को वोट डालने का अधिकार सौंपा गया। मतदाताओं की कुल संख्या 17 करोड़ 30 लाख थी, जिसमें ज्यादातर लोग गरीब, अनपढ़ और ग्रामीण क्षेत्रों के थे। इन लोगों को चुनावों का पहले से कोई अनुभव प्राप्त नहीं था। उस समय का सबसे बड़ा सवाल यही था कि पता नहीं लोगों की प्रतिक्रिया क्या होगी।

कई लोग ऐसे मतदाताओं द्वारा अपने मत का प्रयोग, राजनीतिक परिपक्वता और जिम्मेदार तरीके से कर पाने पर शंका करते थे। कुछ लोगों का कहना था कि भारत जैसे जाति विभाजित, बहु धर्मावलंबी, अशिक्षित और पिछड़े समाज के लिए जनवादी चुनाव उचित नहीं जंचते हैं और ऐसे समाज में सिर्फ उदार निरंकुशता ही राजनीतिक रूप से प्रभावशाली व्यवस्था हो सकती है। आगामी चुनावों को किसी ने अंधेरे में छलांग कहा तो किसी ने 'विचित्र' या फिर 'विश्वास आधारित प्रयास' कहा।

राष्ट्रीय आंदोलन की परंपरा को मजबूत करते हुए भारतीय नेताओं ने और विशेषत: नेहरू ने देश में जनवाद की नींव को और भी मजबूत बनाया। अपनी राजनीतिक कार्यप्रणाली के तौर तरीकों और राजनीतिक स्थिरता की उपलब्धि द्वारा इस कार्य को अंजाम दिया गया। उन्होंने जनवादी प्रणाली के संस्थागत पक्षों को भरपूर महत्व दिया, जिसमें संसदीय संस्थाओं के प्रति लगाव धीरे-धीरे बढ़ता गया। वे न केवल भावनात्मक रूप से जुड़े, बल्कि जनवादी संस्थाओं के ढांचे और कार्यप्रणाली से जुड़ते चले गए। लोगों के ऊपर भारी प्रभाव नियंत्रित करने के बावजूद नेहरू ने ख़ास तौर से इस बात पर पूरा ध्यान दिया कि राजनीतिक शक्ति केंद्रित न होकर फैली रहे।

नागरिक अधिकारों को मजबूतआधार पर खड़ा किया गया और प्रेस को सरकार की तीखी आलोचना करने के बावजूद पूरी आज़ादी मिली। न्यायालयों की स्वायत्तता को बहुत सावधानी से पाला पोसा गया। इसके बावजूद कि कृषि सुधार संबंधी महत्वपूर्ण और लोकप्रिय विधेयक का न्यायालय द्वारा विरोध किया गया, इसकी स्वायत्तता पर कोई आंच नहीं आने दी गई।

नेहरू संसद को बहुत आदर देते थे और इसका सम्मान और शक्ति बनाए रखने के लिए अपनी पार्टी द्वारा भारी बहुमत प्राप्त करने के बावजूद हर संभव प्रयास करते थे। उन्होंने संसद को जनता के विचारों को व्यक्त करने का एक महत्वपूर्ण मंच बना दिया। उन्होंने यह सिद्धांत बना रखा था कि वे संसद में प्रश्नकाल के दौरान होने वाली बहसों के समय हमेशा वहां मौजूद रहेंगे। विपक्ष ने भी संसद और उसकी कार्यप्रणाली का आदर करते हुए अपनी भूमिका निभाई। बिना किसी भय के अपनी बात रखते हुए उन्होंने संसदीय बहसों को एक ऊंचा स्तर प्रदान किया। संसद सचमुच में देश की सबसे

नोट

महत्वपूर्ण संस्था बन गई। इसके अलावा आकलन समिति (इस्टिमेट्स कमेटी) जैसी संसदीय समितियों ने सरकारी प्रशासन के ऊपर निगरानी रखी और एक आलोचक की महत्वपूर्ण भूमिका निभाने लगी।

नेहरू के नेतृत्व में मंत्रिमंडल (कैबिनेट) प्रणाली बहुत स्वस्थ तरीके से विकसित हुई। यह प्रयास किया गया कि मंत्रिमंडल को सामूहिक नीति निर्धारण का प्रमुख माध्यम बनाया जाए। नेहरू अपने मंत्रिमंडल के सहयोगियों से काफी विनम्रता और आदर से पेश आते थे। 1950 से 1956 के दौरान भारत के वित्तमंत्री रहे सी.डी. देशमुख ने अपनी जीवनी में बाद में कहा था–"मंत्रिमंडल के प्रमुख के रूप में नेहरू बहुत ही विनम्रता, जनवादी और दूसरे के विचारों पर ध्यान देने वाले थे, अपने सहयोगियों पर कभी अपना निर्णय नहीं थोपते थे... निर्णय हमेशा ही आम सहमति से लिए जाते, और जहां तक मुझे याद है, मेरे समय में कभी भी कोई निर्णय मतदान द्वारा नहीं लिया गया।"

कांग्रेस पाटी का वर्चस्व होते हुए भी इस काल में विपक्ष की भूमिका और मजबूत होती चली गई। नेहरू विपक्षी दलों को पूरा स्थान और आदर दिया करते थे एवं उनकी आलोचनाओं के प्रति बहुत संवेदनशील रहते थे। एक बार उन्होंने जनवाद को इस तरह परिभाषित किया–"यह अंतिम विश्लेषण में सोचने का एक तरीका, काम करने का एक तरीका है, यह पड़ोसियों, विपक्षियों और अपने विरोधियों से व्यवहार करने का एक तरीका है।" विपक्षी दल भी अद्‌भुत साहस और खुलेपन के साथ गतिविधि चलाना सीख चुके थे। इसके अतिरिक्त, संख्या की दृष्टि से छोटे होते हुए भी विपक्षी दल इस बात का फायदा उठाते थे कि कांग्रेस कोई एकमत पार्टी नहीं है और इसके अंदर भी कई राजनीतिक रुझान और विचारधारात्मक प्रवृत्तियां मौजूद हैं। इसीलिए कांग्रेस के अंदर विभिन्न रुझानों को प्रभावित कर वे सरकार की नीतियों पर असर डालते थे। नेहरू कांग्रेस के भीतर भी आंतरिक जनवाद का आदर करते हुए अंदरूनी विवादों को प्रोत्साहित करते थे। वे हमेशा कोशिश करते थे कि नई सामाजिक प्रवृत्तियों और शक्तियों को कांग्रेस के अंदर उचित जगह दी जाए।

नेहरू युग के दौरान संविधान में दिए गए संघवादी प्रावधानों को मजबूती से स्थापित किया गया। राज्यों के बीच सत्ता का समुचित बंटवारा किया गया। राज्यों की स्वायत्तता का आदर करते हुए नेहरू कभी भी राज्य सरकारों पर अपना निर्णय नहीं थोपते थे, न ही उनकी नीतियों में कोई हस्तक्षेप करते थे। हालांकि वे राज्य सरकारों को अपने विचारों से परिचित कराते रहते थे और समय-समय पर अपनी सलाह, यहां तक कि कुछ दबाव भी, किसी खास नीति को स्वीकार कराने के लिए डाला करते थे। वे प्रदेश कांग्रेस को अपना और अपनी सरकार का नेता चुनने की पूरी छूट देते थे। वे राज्यों की समस्या को बेहतर ढंग से समझने के लिए उस राज्य के नेताओं और सरकार पर आश्रित रहते थे। यह एक बहुत बड़ा कारण था कि नेहरू अपनी समझ के हिसाब से किए जाने वाले भूमि सुधार कार्यक्रम को राज्यों में लागू नहीं कर सके, क्योंकि भूमि सुधार राज्य सूची का विषय था और अपने प्रिय कार्यों को संपन्न करने के लिए भी वे राज्यों की शक्ति और अधिकार सीमा में जबर्दस्ती घुसना पसंद नहीं करते थे। नेहरू सलाह, निर्देश और आग्रह करते थे पर अपने संवैधानिक दायरे से कभी बाहर नहीं जाते थे। दसअसल कृषि, शिक्षा, स्वास्थ्य और अन्य कल्याणकारी कार्यक्रमों की कमजोरी का एक बहुत बड़ा कारण इनको लागू करने में केंद्र की राज्य सरकारों पर निर्भरता भी रही है क्योकि ये सभी राज्य सूची के विषय हैं। फिर भी नेहरू ने केंद्रीय सरकार की सत्ता और प्रतिष्ठा पर कभी जांच नहीं आने दी। उन्होंने हमेशा शक्ति के केंद्रीकरण अथवा राज्यों पर केंद्र के वर्चस्व तथा राष्ट्र निर्माण, देश की स्वतंत्रता, एकता की रक्षा तथा विखंडनकारी और विभाजनकारी शक्तियों को नियंत्रण में रखने के लिए एक मजबूत केंद्र की आवश्यकता में फर्क किया।

हमें इस बात पर भी गौर करना चाहिए कि केंद्र और राज्यों के बीच सौहार्द्रपूर्ण संबंध तथा विभाजनकारी शक्तियों पर नियंत्रण बने रहने का एक सबसे बड़ा कारण यह था कि केंद्र तथा राज्य, दोनों में एक ही पार्टी सत्तारूढ़ थी। केंद्र की नेतृत्वकारी भूमिका स्थापित होने का एक दूसरा कारण यह था कि तत्कालीन भारतीय राजनीति के कुछ सबसे कद्दावर लोग उस समय मंत्रिमंडल तथा कांग्रेस कार्यसमिति के सदस्य थे।

नेहरू युग के वर्षों में, सेना पर नागरिक सरकार की श्रेष्ठता की परंपरा पूरी तरह स्थापित हो गई। भारतीय सेना पारंपरिक रूप से भी अराजनीतिक हुआ करती थी तथा नागरिक नियंत्रण और नेतृत्व स्वीकार करती चली आई थी। पर यह भूमिका बनी रहेगी, इसकी कोई गारंटी नहीं थी। खासतौर पर नेहरू इस आशंका से चिंतित रहते थे कि कहीं सेना राजनीति

नोट

में हस्तक्षेप करना न शुरू कर दे। खासकर किसी अनोखी परिस्थिति में ऐसा हो सकता था, जैसा कि 19वीं सदी के फ्रांस और जर्मनी तथा उस समय के अनेक तीसरी दुनिया के देशों में हो रहा था। उन्होंने इस दिशा में कई कदम उठाए। उन्होंने सैनिक बलों का आकार अपेक्षाकृत छोटा रखा और 1954 में अमरीका द्वारा पाकिस्तान को भारी सैनिक सहायता देने के बावजूद भारतीय सेना के विस्तार की अनुमति नहीं दी। सैन्य बलों पर खर्च भी काफी कम रखा गया जो राष्ट्रीय आय के दो प्रतिशत से भी कम था। ब्रिटिश उपनिवेशवादी नीति के आधार पर सेना में 'युद्धप्रिय' जातियों की भर्ती की नीति को छोड़कर सेना को व्यापक आधार वाला संगठन बनाया गया और उसमें प्रत्येक क्षेत्र और समाज के हर तबके को प्रतिनिधित्व दिया गया। इस प्रकार भारत को अपने विकास के आरंभिक वर्षों में सैन्यवाद के खतरे से बचाया गया। सैन्यबल के छोटे आकार और उन पर खर्च में कटौती दो अन्य कारणों से भी की गई–1. आर्थिक विकास के लिए कीमती दुर्लभ संसाधनों को बचाना तथा 2. घरेलू सैनिक उद्योग के अभाव में विदेशी शक्तियों पर निर्भरता और उसके परिणामस्वरूप भारत के आंतरिक और विदेशी मामलों में उनके हस्तक्षेप की संभावना से बचना।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

सही विकल्प चुनिए (Choose the Correct Option)–

1. राज्यसभा में कितने सदस्य होते हैं–

   (क) 250 (ख) 255 (ग) 260 (घ) 274

2. राष्ट्रपति राज्य सभा में कितने सदस्यों का मनोनयन सरकार के सुझाव पर करता है–

   (क) 5 (ख) 10 (ग) 12 (घ) 15

3. आपातकाल के दौरान लोकसभा का कार्यकाल एक बार में कितने समय के लिए बढ़ाया जा सकता है–

   (क) 3 महीने (ख) 6 महीने (ग) 10 महीने (घ) एक वर्ष

4. लोकसभा सदस्यों की संख्या कितनी होती है–

   (क) 550 (ख) 552 (ग) 555 (घ) 556

5. लोकसभा सदस्यों की न्यूनतम उम्र कितनी होनी चाहिए?

   (क) 18 वर्ष (ख) 25 वर्ष (ग) 30 वर्ष (घ) 35 वर्ष

11.2 विकसित समाजवादी समाज पर जवाहरलाल नेहरू का दृष्टिकोण (Jawahar Lal Nehru's Vision of a Developed Socialist Society)

भारतीय गणतंत्र के संस्थापकों की दृष्टि मात्र राष्ट्रीय एकीकरण और राजनीतिक स्थिरता तक ही सीमित नहीं थी। भारतीय समाज को सामाजिक परिवर्तन के एक बड़े दौर से गुजरना था। संविधान के अनुच्छेद 36 के तहत राज्य के नीति निर्देशक सिद्धांतों में कहा गया था कि–"राज्य जनता के कल्याण को बढ़ावा देने के लिए एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था को यथासंभव प्रभावशाली उपयों से हासिल और सुरक्षित रखने की कोशिश करेगा, जिसमें आर्थिक और राजनीतिक न्याय राष्ट्रीय जीवन को हरेक संस्था के माध्यम से उपलब्ध होगा।" 'समाज के समाजवादी प्रारूप' के रूप में इसे व्यक्त किया गया और आधिकारिक तौर पर कांग्रेस के अवाडी अधिवेशन द्वारा स्वीकार किया गया। बाद में इस आदर्श को दूसरी और तीसरी पंचवर्षीय योजनाओं का अंग बना लिया गया। परिणामस्वरूप, सामाजिक सुधारों के कई महत्वपूर्ण कदम नेहरू काल में उठाए गए जिन्हें कुछ लोग कल्याणकारी राज्य की शुरुआत के रूप में देखते हैं। इस संदर्भ में उठाए गए कुछ महत्वपूर्ण कदम भूमि-सुधार, नियोजित आर्थिक विकास की शुरुआत और सार्वजनिक क्षेत्र के तीव्र विस्तार आदि के रूप में देखे जा सकते हैं। इसके अलावा दूरगामी श्रमिक कानून निर्धारित किए गए जिसके तहत सामूहिक समझौता और सौदेबाजी को मान्यता, ट्रेड यूनियन बनाने और हड़ताल करने का अधिकार, रोज़गार की सुरक्षा तथा स्वास्थ्य एवं दुर्घटना बीमा का प्रावधान आदि की सुरक्षा दी गई। संपत्ति के अधिक समतापूर्ण

नोट

वितरण की दिशा में प्रयास किए गए। इस उद्देश्य से आयकर की ऊंची दर और आबकारी कर (एक्साइज टैक्स) की नीति लागू की गई। शिक्षा, स्वास्थ्य और अन्य सामाजिक सुविधाओं का आमतौर पर विस्तार किया गया।

नेहरू एवं अन्य नेता एक ऐसे सामाजिक परिवर्तन के लिए उत्सुक थे जो समाज के पिछड़े और कुचले हुए तबकों की मुक्ति का मार्ग प्रशस्त कर सके। जैसा कि नेहरू ने 1956 में कहा–

हम सिर्फ राजनीतिक क्रांति का ही प्रयास नहीं कर रहे और न सिर्फ यही उपलब्धि चाहते हैं, और हम सिर्फ आर्थिक क्रांति के लिए ही जी-तोड़ मेहनत नहीं कर रहे हैं, बल्कि... हम सामाजिक क्रांति के लिए भी उतना ही दृढ़संकल्प रखते हैं, इन तीन अलग-अलग रास्तों पर चलकर और उन्हें एक महान् संपूर्णता में बदलकर ही भारत के लोग तरक्की कर सकते हैं।

(*i*) संविधान में पहले ही अस्पृश्यता के उन्मूलन का एक प्रावधान शामिल कर लिया गया था। सरकार ने इसमें और वृद्धि करते हुए 1955 में अछूत विरोधी कानून पास कर दिया था, जिससे छुआछूत का रिवाज दंडनीय और संज्ञेय अपराध बना दिया गया था। सरकार ने संविधान के द्वारा शिक्षण संस्थानों और सरकारी नौकरियों में अनुसूचित जातियों, जनजातियों तथा समाज के अन्य कमजोर तबकों के हित में आरक्षण के प्रावधान को पूरी तरह लागू करने का प्रयास किया। सरकार ने उनकी सामाजिक हैसियत को ऊंचा करने के लिए अन्य आवश्यक उपाय जैसे, छात्रवृत्ति, छात्रावास, वित्तीय सहायता, कर्ज, आवास, स्वास्थ्य और कानूनी सहायता आदि की व्यवस्था भी की। एक अनुसूचित जाति एवं जनजाति आयुक्त की भी नियुक्ति की गई ताकि इन कार्यक्रमों के लागू किए जाने पर पूरी निगरानी रखी जा सके। लेकिन इन सभी प्रयासों के बावजूद अनुसूचित जाति और जनजाति पिछड़े हुए ही रहे तथा जाति आधारित शोषण, विशेषत: ग्रामीण क्षेत्रों में अभी भी बना हुआ है। अनुसूचित जाति और जनजाति के लोग अब भी अधिकांशत: भूमिहीन कृषि मजदूर ही बने हुए हैं। इसलिए उनका वर्गीय शोषण भी चल रहा है। अभी तक जाति प्रथा की विचारधारा को निर्मूल करने का कोई प्रयास नहीं किया जा सकता है। जातीय असमानता और जातीय शोषण को समाप्त नहीं किया गया। परिणामस्वरूप, जातिवाद उच्च जातियों से पिछड़ी जातियों और ग्रामीण से शहरी क्षेत्रों में फैलता जा रहा है।

(*ii*) राष्ट्रीय आंदोलन में महिला संगठनों और समूहों की सक्रिय भागीदारी होने के कारण अब वे परिवार में महिलाओं के अधिकार की मांग कर रही थीं और नेहरू के रूप में उन्हें एक सशक्त समर्थक प्राप्त था। आजादी के पहले ही इस मुद्दे पर नेहरू अपना दृष्टिकोण साफ कर चके थे और उन्होंने फ्रांसीसी दार्शनिक चार्ल्स फूरिस को उद्धृत करते हुए कहा–"एक देश की सभ्यता के विकास का अंदाजा वहां की महिलाओं की सामाजिक और राजनीतिक स्थिति से लगाया जा सकता है।"

इस दिशा में एक बहुत बड़ा कदम 1951 में हिंदू कोड बिल प्रस्तावित करने के साथ लिया गया। इस विधेयक का समाज के दकियानूसी तबके में भारी विरोध हुआ। खास तौर पर जनसंघ और अन्य हिंदू सांप्रदायिक संगठनों ने इस विरोध का नेतृत्व किया। कांग्रेस पार्टी के दबंग सदस्यों, महिला संसद सदस्यों और अन्य महिला कार्यकर्ताओं द्वारा भरपूर समर्थन दिए जाने के बावजूद नेहरू ने इस बिल को तात्कालिक रूप से लागू करने पर रोक लगा दी ताकि इसके लिए और भी समर्थन जुटाया जा सके। वे इस बिल को पारित करने के लिए कटिबद्ध थे और 1951-52 के चुनावों में उनहोंने इसे मुद्दा बनाया।

सत्ता में वापस आने के बाद सरकार ने इस विधेयक को चार अलग-अलग कानूनों की शक्ल में पारित किया, जिसने एकनिष्ठ विवाह, पुरुष और स्त्री दोनों के लिए तलाक का प्रावधान, विवाह और सहमति की उम्र सीमा बढ़ाने तथा महिलाओं को वृत्ति (मेंटेनेंस) पाने और पारिवारिक संपत्ति में हिस्सा प्राप्त करने का अधिकार दिलाया। इस प्रकार महिलाओं की मुक्ति की दिशा में एक क्रांतिकारी कदम उठाया गया, हालांकि इसे व्यवहार में लागू होने में कई दशक लग गए। इस संदर्भ में एक बहुत बड़ी कमज़ोरी, यह रही है कि हरेक धर्म के अनुयायियों के लिए एक साझा सिविल कोड लागू नहीं किया गया। इसके लिए मुसलिम पर्सनल लॉ में एकनिष्ठता में परिवर्तन और संपत्ति में हिस्सा एवं विरासत संबंधी कानूनों में परिवर्तन करना पड़ता। इस बात

नोट

पर मुसलमान कट्टरपंथियों की तरफ से भारी विरोध पैदा किया गया। इसके अलावा, मुसलमानों में सामाजिक सुधार की प्रक्रिया आधुनिक काल में हिंदुओं के मुकाबले बहुत पिछड़ी हुई थी। इसलिए मुसलमान मध्यवर्गीय महिलाओं के बीच भी परिवर्तन चाहने वाली शक्तियां बहुत कमजोर थीं। नेहरू मुसलमान अल्पसंख्यकों के बीच कोई खतरे की घंटी बजाने के पक्ष में नहीं थे, जो पहले से ही काफी दबाव में जी रहे थे। वे मुसलिम पर्सनल लॉ में परिवर्तन लाने और सामान्य सिविल कोड (युनिफॉर्म सिविल कोड) लागू करने के पक्ष में थे, परंतु सिर्फ तभी, जब मुसलमान लोग उसके लिए तैयार हो जाएं।

(*iii*) गणराज्य के संस्थापक इस बात से वाकिफ थे कि सामाजिक एवं आर्थिक विकास, अवसर की समानता और जनवादी समाज के निर्माण के लिए व्यापक और बेहतर शिक्षा एक बहुत बड़ा हथियार होता है। इसकी आवश्यकता इसलिए भी बहुत ज्यादा थी कि 1951 में कुल आबादी का मात्र 16.6 प्रतिशत ही साक्षर था और ग्रामीण परिवारों में यह और भी कम, मात्र 6 प्रतिशत ही था। परिणामस्वरूप, संविधान ने निर्देश दिया कि 1961 तक सरकार 14 वर्ष की उम्र तक के प्रत्येक बच्चे को मुफ्त और अनिवार्य शिक्षा प्रदान करे। बाद में यह लक्ष्य बढ़ाकर 1966 तक कर दिया गया।

सरकार प्राथमिक, माध्यमिक, उच्च और तकनीकी शिक्षा की सुविधाएं विकसित करने पर एक बड़ी रकम खर्च कर रही थी। जहां 1951-52 में शिक्षा के ऊपर खर्च 19.80 करोड़ था, वहीं यह 1964-65 में बढ़कर 146.27 करोड़ हो गया। यह 7 गुना से भी अधिक वृद्धि थी। चूंकि शिक्षा मूलत: राज्य सूची का विषय था, जो भी वित्तीय कठिनाई आए, प्राथमिक शिक्षा पर खर्च में किसी तरह की कटौती नहीं की जानी चाहिए। यदि इतना ही जरूरी हो तो औद्योगिक विकास के खर्च में थोड़ी कटौती की जा सकती है और उन्होंने मई 1961 में राष्ट्रीय विकास परिषद को कहा–"मैं यह महसूस करने लगा हूं कि यह (शिक्षा) सभी चीजों का आधार है और किसी भी कारण से, यदि हमारे सिर ही काट लिए जाएं और हम काम ही नहीं कर सके तो और बात है, पर हमें शिक्षा को किसी प्रकार हानि नहीं पहुंचने देनी चाहिए।"

नेहरू के दिनों में शिक्षा, खासकर लड़कियों की शिक्षा में भारी प्रगति दिखाई पड़ी। 1951 और 1961 के बीच स्कूलों में छात्रों की संख्या दो गुनी और छात्राओं की संख्या तीन गुनी हो गई। 1950-51 के मुकाबले 1965-66 में पहली से चौथी कक्षा तक के छात्रों की संख्या 1.37 करोड़ से बढ़कर 3.21 करोड़ हो गई। इसी प्रकार माध्यमिक स्तर पर भी परिवर्तन दिखता है जहां इसी अवधि में छात्रों की संख्या 10 लाख से बढ़कर 40 लाख (यानी 4 गुनी वृद्धि) और छात्राओं की संख्या 1.9 लाख से बढ़कर 10.2 लाख (करीब साढ़े छह गुनी से अधिक) हो गई। माध्यमिक स्कूलों की संख्या 7,288 से बढ़कर 24,477 इस दौरान हो गई।

आज़ादी के दिनों में सिर्फ 18 विश्वविद्यालय थे, जबकि करीब 3 लाख विद्यार्थी थे। 1964 तक विश्विद्यालयों की संख्या 54 और कालेजों की संख्या 2,500 हो गई। स्नातक और स्नातकोत्तर छात्रों की संख्या 6.13 लाख हो चुकी थी। छात्राओं की संख्या छह गुना बढ़कर कुल विद्यार्थियों का 22 प्रतिशत हो गया। लेकिन प्राथमिक शिक्षा में तरक्की के बावजूद इच्छित प्रगति नहीं हो पा रही थी क्योंकि उसमें छात्रों की संख्या में वृद्धि मूलत: जनसंख्या दर में वृद्धि के कारण ही हो रही थी। संविधान द्वारा मुफ्त और अनिवार्य शिक्षा का लक्ष्य, जो पहले 1961 तक पूरा किया जाना था, वह बढ़कर 1966 और फिर सुदूर भविष्य के लिए टाल दिया गया। 1965-66 के दौरान तीसरी योजना के अंत में 6 से 14 वर्ष के बच्चों का मात्र 61 प्रतिशत ही स्कूल जाता था, छात्राओं के लिए यह आंकड़ा और भी कम मात्र 43 प्रतिशत ही था। परिणामस्वरूप निरक्षरता बड़े पैमाने पर बढ़ती रही एवं 1991 में मात्र 52 प्रतिशत भारतीय ही साक्षर थे।

प्राथमिक शिक्षा की सबसे बड़ी कमजोरी पढ़ाई छोड़कर जाने वाले छात्रों की ऊंची संख्या रही है। पहली कक्षा में नाम लिखाने वाले करीब आधे बच्चे चौथी कक्षा में पहुंचते-पहुंचते स्कूल छोड़ देते और फिर वापस निरक्षरता के घेरे में पहुंच जाते थे। पढ़ाई छोड़ने वालों में लड़कियों की संख्या लड़कों से बहुत अधिक थी। इससे साफ हो जाता है कि शिक्षा का समान अवसर सब को प्राप्त नहीं हो रहा था। इसलिए नौकरी में

नोट

अवसर की समानता का सवाल पैदा नहीं होता। परिणामस्वरूप, ग्रामीण और गरीब लोग भारत का बहुसंख्यक हिस्सा होते हुए भी इनके लाभ से वंचित रहे। एक दूसरी कमजोरी जो इस समय पैदा हुई, वह थी शिक्षा के स्तर में गिरावट। इस समस्या को महसूस करने के बावजूद सिर्फ तकनीकी शिक्षा को छोड़कर शेष शिक्षा व्यवस्था को बगैर सुधार के अछूता छोड़ दिया गया और शिक्षा का स्तर पहले स्कूलों में और फिर उसके बाद कालेजों और विश्वविद्यालयों में गिरने लगा। इसके अतिरिक्त, शिक्षा का विचारात्मक स्वरूप नहीं रह गया जो औपनिवेशिक काल में था। उदाहरण के लिए, यह सांप्रदायिकता के प्रसार का एक हथियार हो बना रह गया और बाद में क्षेत्रीय संकीर्णता और अहंकार का प्रसार भी इसके माध्यम से बढ़ता चला गया।

क्या आप जानते हैं

1965 में ग्रामीण आबादी के 5 प्रतिशत के पास किसी स्कूल की सेवा उपलब्ध नहीं थी। इसके अलावा मौजूदा स्कूलों में भी सुविधाएं बेहद कम थीं। ज्यादातर स्कूलों के पास कोई पक्की इमारत नहीं थी, न ही ब्लैकबोर्ड और पीने का पानी था। करीब 40 प्रतिशत प्राथमिक स्कूल ऐसे थे, जहां सिर्फ एक ही शिक्षक होते और वे तीन चार कक्षाओं को पढ़ाते थे।

नेहरू शिक्षा के क्षेत्र में असंतोषजनक प्रगति से परिचित थे और अपने प्रधानमंत्रित्व के अंतिम दिनों में शिक्षा के विकास पर ज्यादा जोर देने लगे थे। खासकर प्राथमिक शिक्षा के विकास के लिए और प्रयासरत हुए, जिसे वे किसी भी कीमत पर विकसित करना चाहते थे। 1963 में उन्होंने मुख्यमंत्रियों को लिखा, "अंतिम विश्लेषण में प्रत्येक व्यक्ति के लिए सही शिक्षा की उपलब्धि, हमारी सभी मौलिक समस्याओं का समाधान है।" इसके अलावा "अपने उद्योगों को विकसित करने की मेरी तीव्र इच्छा के बावजूद मैं यह सोचने लगा हूं कि निचले स्तर पर पर्याप्त शिक्षा के बगैर काम चलाने से बेहतर है कि कुछ औद्योगिक विकास के बगैर ही काम चलाया जाए।"

(*iv*) ग्रामीण क्षेत्रों के विकास के लिए दो बड़े कार्यक्रम सामुदायिक विकास कार्यक्रम और पंचायती राज, 1952 और 1959 में शुरू किए गए। ये कार्यक्रम गांवों में कल्याणकारी राज्य की नींव डालने वाले थे। हालांकि ये कृषि के विकास के लिए भी बनाए गए थे, पर इनमें मुख्यत: कल्याण का उद्देश्य ग्रामीण भारत का चेहरा बदलना था ताकि लोगों का जीवन स्तर सुधारा जा सके।

सामुदायिक विकास कार्यक्रम सीमित स्तर पर 1952 में शुरू किया गया, जिसमें 55 विकास प्रखंड चुने गए। प्रत्येक प्रखंड में 100 गांव और करीब 60 से 70 हजार की आबादी थी। 1960 के दशक के मध्य में आकर देश का अधिकाधिक सामुदायिक प्रखंडों के जाल में ढंक गया, जिसमें 6,000 प्रखंड विकास पदाधिकारियों और करीब 6,00,000 वी.एल.डब्ल्यू. या ग्राम सेवक नियुक्त किए गए जो इस कार्यक्रम को लागू कर सकें। इस कार्यक्रम में ग्रामीण जीवन के हर पक्ष को लिया गया था, खेती बेहतर बनाने की विधियों से लेकर संचार, स्वास्थ्य और शिक्षा में सुधार आदि सभी पहलुओं को लिया गया था।

इस कार्यक्रम में लोगों द्वारा आत्मनिर्भरता तथा आत्म-सहायता और उत्तरदायित्व पर मुख्य रूप से जोर दिया जाना था। यह एक प्रकार से मूलत: जनता के अपने कल्याण के लिए, जनता के एक आंदोलन के रूप में संगठित किया जाने वाला कार्यक्रम था। जैसा कि नेहरू ने इस कार्यक्रम के शुभारंभ के अवसर पर 1952 में कहा था कि इसका मूल लक्ष्य "जनता के बीच नीचे से शक्ति संचार करने" का था। एक तरफ यह "आवश्यक था कि योजना बनाई जाए, उसका निर्देशन, संगठन और संयोजन किया जाए, परंतु दूसरी तरफ उससे भी ज्यादा जरूरी, निचले स्तर से स्वत: विकास की आवश्यक परिस्थिति तैयार करना था।" इसके अलावा कार्यक्रम में भौतिक उपलब्धि का लक्ष्य तो रखा गया था, परंतु इसका मूल उद्देश्य "समुदाय और व्यक्ति को विकसित करना तथा व्यक्ति को अपने गांव और व्यापक अर्थों में भारत का निर्माता बना देना था।" उन्होंने कहा, "प्राथमिक वस्तु है इसमें लगा मानव।" इसका एक

नोट

दूसरा बड़ा उद्देश्य पिछड़े तबके को उठाना था–"हमारा लक्ष्य अवसर की समानता और अन्य पक्षों को अधिक से अधिक ऊंचे स्तर पर ले जाना होना चाहिए।" 1952 और उसके बाद के वर्षों में, नेहरू बार-बार सामुदायिक विकास कार्यक्रम और उसके साथ जुड़ी राष्ट्रीय विस्तार सेवा की चर्चा "नई सरकार" और एक "महान क्रांति" तथा "भारत के पुनरुत्थानशील भावना का प्रतीक" के रूप में किया करते थे।

इस कार्यक्रम को विस्तार कार्यों में अच्छी सफलता प्राप्त हुई। जैसे–बेहतर बीज, खाद आदि होने के परिणामस्वरूप आमतौर पर खेती का विकास तेज हुआ और खाद्य उत्पादन बढद्या। इसके अलावा सड़क, तालाब, कुंआ, स्कूल तथा प्राथमिक चिकित्सा केंद्र आदि का निर्माण और शिक्षा एवं चिकित्सा सुविधाओं का विस्तार हुआ। परंतु जल्दी ही यह स्पष्ट हो गया कि कार्यक्रम अपने एक प्रमुख उद्देश्य असफल हो गया–वह था अपनी विकास गतिविधियों में लोगों को पूरी भागीदारी। न केवल इससे अपनी मदद स्वयं करने की भावना का विकास नहीं हो सका, बल्कि इसने सरकार से उम्मीदों और सरकार पर निर्भरता को और बढ़ा दिया। धीरे-धीरे इसका झुकाव सरकारी काम जैसा हो गया और अफसरशाही ढांचे का हिस्सा बनकर ऊपर से शासित होने लगा। पूरा कार्यक्रम रोजमर्रा की तरह बन गया। प्रखंड विकास पदाधिकारी पारंपरिक सब डिविजलन पदाधिकारी के प्रतिरूप बन गए और ग्रामसेवक उनके कर्मचारी। जैसा कि नेहरू ने बाद में 1963 के दौरान कहा कि जहां यह पूरा कार्यक्रम इस प्रकार बनाया गया था कि किसान को "लीक पर से हटाया जा सके, जो पिछले कई युगों से उसी पर जीता चला आ रहा है" वहां यह कार्यक्रम खुद ही "उसी लीक में धंस गया है।"

इस कार्यक्रम की कमजोरी 1957 में ही स्पष्ट हो चुकी थी, जब बलवंत्री मेहता समिति को इसका मूल्यांकन करने का काम दिया गया। इस समिति ने इस कार्यक्रम के नौकरशाही के चंगुल में फंसने और लोगों की भागीदारी के अभाव की जमकर आलोचना की। इसके इलाज के लिए समिति ने यह सिफारिश की कि ग्रामीण और जिला स्तरीय विकास प्रशासन का जनवादी विकेंद्रीकरण किया जाए। इस सिफारिश के आधार पर यह तय किया गया कि पूरे देश में ग्राम पंचायत को आधार बनाकर एक जनवादी स्वशासन की समाकलित व्यवस्था शुरू की जाए। यह नई व्यवस्था पंचायती राज के नाम से जानी गई और विभिन्न राज्यों में 1959 से लागू की जाने लगी। इसमें प्रत्यक्ष रूप से चुने गए ग्राम पंचायत और अप्रत्यक्ष रूप से चुने गए प्रखंड स्तरीय जिला परिषद के तीन स्तर बनाए गए। सामुदायिक विकास कार्यक्रम को पंचायती राज के साथ जोड़ दिया गया और बड़ी मात्रा में कार्य, वित्तीय संसाधन और अधिकार तीन स्तरीय समितियों को विकास कार्यक्रमों को चलाने के लिए सौंप दिए गए। इस प्रकार पंचायती राज्य के द्वारा सामुदायिक विकास कार्यक्रम की एक बहुत बड़ी कमजोरी को जनता की भागीदारी तथा कार्यक्रमों को लागू करने एवं निर्णय लेने का अधिकार सौंप कर दूर करने की कोशिश की गई। इसके तहत अधिकारियों की भूमिका सिर्फ सहायता और निर्देश देने की रह गई। इसके साथ ही, गांवों में हजारों सहकारी संस्थाओं का जाल बुन दिया गया, जिनमें सहकारी बैंक, भूमि गिरवी बैंक, सेवा एवं बाजार सहकारी समिति आदि संस्थाएं बनाई गईं। ये सभी संस्थाएं स्वायत्त थीं क्योंकि इनका संचालन चुनाव के आधार पर बनी संस्थाओं द्वारा किया जाता था।

नेहरू का उत्साह फिर बढ़ गया क्योंकि पंचायती राज एवं सहकारी संस्थाएं समाज में अन्य क्रांतिकारी परिवर्तन की प्रतिनिधि थीं। इससे विकास और ग्रामीण प्रशासन का उत्तरदायित्व लोगों को प्राप्त हो रहा था, जिससे ग्रामीण विकास की गति तीव्र हो सकती थी। अत: वे जनता के हाथों में शक्ति प्रदान करने का उपकरण ही नहीं, बल्कि और ज्यादा आत्म-निर्भरता और लोगों के दृष्टिकोण में परिवर्तन लाने वाली एक प्रशिक्षण प्रक्रिया बन सकती थी। इससे भी अधिक यह बेहतर मानव के निर्माण की प्रक्रिया का शुभारंभ हो सकता था।

लेकिन एक या दूसरे रूप में पंचायती राज को स्वीकार कर लेने के बावजूद राज्य सरकारों ने इसके विषय में बहुत कम उत्साह दिखाया। उन्होंने पंचायती राज को कोई वास्तविक अधिकार प्रदान नहीं किया, बल्कि उनके कामों और शक्ति पर अंकुश लगाया और पैसे का अभाव पैदा कर मर जाने के लिए मजबूर कर दिया। नौकरशाही ने भी ग्रामीण प्रशासन पर अपनी पकड़ बिलकुल ढीली नहीं होने दी। पंचायतों का राजनीतिकरण हो गया और राजनीतिज्ञों द्वारा, गांव के अंदर गुटों का समर्थन हासिल करने के लिए इसका इस्तेमाल किया जाने लगा। परिणामस्वरूप, ग्रामीण स्वशासन की नींव तो डाल दी गई, परंतु इसका जनवादी विकेंद्रीकरण मोटेतौर पर अवरूद्ध हो गया और बलवंत्री

नोट

मेहता समिति एवं जवाहरलाल नेहरू द्वारा जो भूमिका इसे सौंपी गई, वह कभी पूरी नहीं हो पाई।

इतना ही नहीं, सामुदायिक विकास के लाभ, नई कृषि सुविधाएं और विस्तार सेवाएं मूलरूप से धनी और पूंजीवादी किसानों द्वारा हथिया ली गई। इन्हीं लोगों ने पंचायती राज संस्था पर भी प्रभुत्व जमा लिया। गांव पर समृद्ध, मध्यम और पूंजीवादी किसानों का सामाजिक और आर्थिक वर्चस्व था और न तो नौकरशाह और न ही समृद्ध ग्रामीण वर्ग जनता की भागीदारी और सामाजिक रूपांतरण के अग्रदूत बन सकते थे। यह एक और ऐसा क्षेत्र था जिसमें नेहरू युग की भूमि सुधार की कमजोरियाँ उजागर हो गईं।

नोट्स सामुदायिक विकास कार्यक्रम, पंचायती राज और सहकारी आंदोलन की सबसे बड़ी कमजोरी यह थी कि इसने ग्रामीण समाज के अंदर वर्ग विभाजन को नजरअंदाज किया, जहाँ आधे से ज्यादा लोग भूमिहीन और इसलिए बिलकुल शक्तिहीन थे।

11.3 योजना एवं राज्य नियंत्रित औद्योगीकरण और कृषि सम्बंधी सुधार (Planning, State Controlled Industrialization and Agrarian Reforms)

स्वतंत्र भारत के सामने तीव्र औद्योगिक विकास के लिए इसी औपनिवेशिक विरासत को तोड़ना जरूरी है। प्रथम औद्योगिक क्रांति के दो सौ वर्षों बाद और कई अन्य देशों के सौ वर्षों बाद भारत का आधुनिक औद्योगीकरण करना एक विशाल कार्य था। उपनिवेशवाद द्वारा निर्मित इन समस्याओं के अलावा भारत के सामने पूरी तरह बदली हुई रणनीतिक एवं आर्थिक परिस्थितियां खड़ी थीं। ऐसी स्थिति में नई और आविष्कृत राजनीतिक की आवश्यकता थी।

साथ ही, इस कार्य के दौरान, उपनिवेशवाद से मुक्ति पाए अन्य देशों के मुकाबले भारत कई मानों में अनुकूल स्थिति में था। पहला, 1914 और 1947 के बीच भारतीयों के स्वामित्व में और उनके द्वारा नियंत्रित एक छोटा किंतु स्वतंत्र औद्योगिक आधार देश में तैयार हो चुका था। दोनों विश्व युद्धों एवं तीस के दशक के महा विश्व आर्थिक मंदी के फलस्वरूप साम्राज्यवाद के कमजोर पड़े शिकंजे का फ़ायदा उठाकर यह कार्य संभव हुआ। भारत की आज़ादी आते-आते भारतीय उद्यमी भारत में यूरोपीय उद्यम से सफलतापूर्वक मुकाबला कर पा रहे थे, साथ ही विदेशी आयात से भी। इस प्रकार, वे भारत के औद्योगिक उत्पादन के 75 फीसदी पर अपना अधिकार कर सके। भारतीय पूंजीपतियों का वित्तीय क्षेत्र पर भी, जैसे बैंकिंग, जीवन बीमा, इत्यादि, पर भी प्रभुत्व संभव हो गया।

इसलिए आज़ादी के वक्त उपनिवेशवादी इतिहास के बावजूद, और उसके विरोध में, भारत ने एक ऐसा स्वतंत्र आर्थिक आधार तैयार कर लिया था, जिसके सहारे आगे बढ़ा जा सकता था और स्वतंत्र तथा तेज औद्योगीकरण का काम लिया जा सकता था। यह स्थिति उन कई उत्तर-औपनिवेशिक देशों से अलग थी, जो नव-उपनिवेशवाद का शिकार बने। उनकी राजनीतिक आज़ादी मात्र औपचारिकता थी, जबकि उनके आर्थिक हित अपने पूर्व उपनिवेशवादी शासक देश के साथ जुड़े हुए थे।

देश में काफी संख्या में भारतीय उद्यमी वर्ग मौजूद था जो आगे नियोजित विकास में सहायक हो सकता था अथवा, अंग्रेजों के जमाने में ही अर्थतंत्र में काफी हद तक संकेंद्रण और स्थायित्व पैदा हो चुका था जिसके फलस्वरूप उसी जमाने में बिरला, टाटा, सिंघानिया, डालमिया जैन, जैसे बड़े कारोबारी घराने पैदा हो चुके थे। वे व्यापार, बैंकिंग, यातायात, उद्योग, इत्यादि में विकसित हो चुके थे। ऐसे बड़े घराने जापान में जाइबात्सु या दक्षिण कोरिया में चाईबोल के समान, विश्व पूंजीवाद में देर से प्रवेश करने वालों के लिए महत्व के थे। उनके हसारे वे विदेशी पूंजी और ख़ासकर बहुराष्ट्रीय कंपनियों के साथ सफल मुकाबला कर सकते थे।

यह बड़े ही सौभाग्य की बात थी कि आज़ादी के बाद आगे विकास के संबंध में देश में एक आम सामाजिक सहमति थी। उदाहरण के लिए गांधीवादी, सोशलिस्ट, पूंजीपति और कम्युनिस्ट (कुछ संकीर्णतावादी दौरों को छोड़)

नोट

निम्नलिखित एजेंडे पर करीब-करीब सहमत थे; आत्म-निर्भरता पर आधारित आर्थिक विकास की बहु-आयामी रणनीति; मूल उद्योगों सहित आयात के विकल्प में तीव्र औद्योगीकरण; साम्राज्यवादी और विदेशी पूंजी के प्रभुत्व पर रोक; भूमि सुधार जिसमें शामिल थे–जमींदारी-उन्मूलन, काश्तकारी सुधार, सहकारी संस्थाओं की स्थापना, कर्जा, बिक्री, इत्यादि के लिए सहकारी सेवा संस्थाएं, समान अवसर के लिए विकास, अर्थात ग़रीबों तथा कल्याणकारी कामों तक में सुधारवादी विकास माडल; जनजातियों एवं आदिवासियों जैसे सबसे पीड़ित तबकों के लिए कुछ अवधि का सकारात्मक आरक्षण; राज्य द्वारा आर्थिक विकास में केंद्रीय भूमिका, विशेषकर सार्वजनिक क्षेत्र के जरिए उत्पादन प्रक्रिया में हिस्सेदारी; इत्यादि।

सबसे महत्व की बात थी जनतांत्रिक एवं सामाजिक उदारवादी ढांचे के तहत इस योजनाबद्ध तीव्र औद्योगीकरण की असाधारण कोशिश। औद्योगीकरण में प्रवेश करने या 'आदिम संचय' के शुरुआती दौर में सभी औद्योगिक देशों में जनतंत्र नहीं था, और न ही सामाजिक आजादियां। नेहरू तथा कई दूसरे लोग तथा स्वयं पूंजीपति इस बात से अवगत थे कि वे एक अनजानी राह पर चल पड़े हैं। फिर भी वे इसके प्रति समर्पित बने रहे। भारत में किसी ने भी दक्षिणी अमरीका या पूर्वी एशिया या अन्य जगतों के पूंजीवादी माडल को देश में लागू करने का सवाल तक नहीं उठाया। उन देशों में प्रभुत्ववादी सरकारें पूंजीपतियों के साथ मिलकर कृत्रिम तरीके से तेज विकास समाज पर लाद रही थीं। भारत में विकास-पथ के बारे में आम सहमति राष्ट्रीय आंदोलन के विशेष स्वरूप की देन थी। इसलिए भारत पूर्व-औपनिवेशिक देशों में लगभग एकमात्र ऐसा था जिसने वास्तविक जनतंत्र निर्मित और विकसित किया।

योजना तथा सार्वजनिक क्षेत्र (Planning and Public Sector)

उन्नीसवीं सदी के अंतिम भाग में ही एम.जी. रानाडे और दादाभाई नौरोजी जैसे शुरुआती राष्ट्रवादियों के आर्थिक चिंतन ने आर्थिक विकास में राज्य को महत्वपूर्ण भूमिका प्रदान की गई थी। राज्य द्वारा हस्तक्षेप की अपेक्षा करने तथा अर्थतंत्र को पूरी तरह बाजार की ताकतों के हाथों नहीं छोड़ने के ये विचार दोनों महायुद्धों की बीच की अवधि में और भी स्पष्ट और व्यापक हुए। इसका एक कारण कींस का आर्थिक विचार, अमरीका में 'न्यू डील' (नए आर्थिक सहयोग) के अनुभव और सोवियत प्रयोग था। 1934 में भारतीय चेंबर ऑफ कॉमर्स एंड इंडस्ट्री (फिक्की) के अध्यक्ष एन.आर. सरकार ने घोषणा की–"असीमित मुक्त व्यापार के दिन हमेशा के लिए लद चुके हैं।" वे पूंजीपति वर्ग के नेतृत्व के विचार प्रकट कर रहे थे। उन्होंने कहा कि भारत जैसे पिछड़े देश में आर्थिक विकास की एक व्यापक योजना होनी चाहिए, जिसमे अर्थतंत्र कृषि, उद्योग, ऊर्जा, बैंकिंग, वित्त इत्यादि के सभी पहलू शामिल किए जाने चाहिए। इनसे संबंधित योजनाओं की रूपरेखा तैयार करके उन्हें लागू करने का काम उच्च-स्तरीय 'राष्ट्रीय योजना कमिशन' करे। यह भूतकाल के साथ संबंध-विच्छेद करने तथा विकास की संभावनाएं पूरी तरह खोलने के लिए जरूरी था। **1938 में नियोजित आर्थिक विकास के सबसे बड़े पहलकर्ता जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में राष्ट्रीय योजना कमिशन (एन.पी.सी.) गठित की गई।** इसने बाद के दशक में विकास की एक व्यापक योजना तैयार की, और इसकी विभिन्न उप-समितियों ने सुझावों के उनतीस खंड तैयार किए।

राजकीय योजना बनाने संबंधी विचार पर आम सहमति के अलावा राज्य की भूमिका के बारे में भी एक सी राय थी। करीब-करीब सबका मानना था कि राज्य को न सिर्फ आर्थिक नीति के वित्तीय, मौद्रिक और दूसरे जरियों का प्रयोग करना चाहिए और विकास प्रक्रिया पर राज्य की देखरेख और नियंत्रण होना चाहिए, बल्कि सार्वजनिक क्षेत्र के जरिए उत्पादन प्रक्रिया में एक हद तक राज्य की सीधी हिस्सेदारी होनी चाहिए। अखिल भारतीय कांग्रेस कमिटी द्वारा संशोधित 1931 के कांग्रेस के कराची प्रस्ताव में कहा गया कि 'राज्य प्रमुख उद्योगों, सेवाओं, खनिज स्त्रोतों, रेलवे, जल-परिवहन, जहाजरानी और दूसरे यातायात साधनों पर नियंत्रण रखेगा।' नेहरू ओर एन.पी.सी. के अलावा भारतीय उद्यमों के नेता भी सार्वजनिक क्षेत्र तथा आंशिक राष्ट्रीकरण के पक्षधर थे। सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमियों के महत्वपूर्ण समर्थन का कारण प्लैन फॉर इकोनॉमिक डेवलपमेंट ऑफ इंडिया (भारत के आर्थिक विकास की योजना) में 1945 में पेश किया गया था। इसे कारोबार के नेताओं ने तैयार किया था, और यह 'बांबे प्लान' (बांबे योजना) के नाम से भी प्रसिद्ध है। बांबे प्लान के अनुसार विकसित देशों पर भारत की निर्भरता का मुख्य कारण स्थानीय मूल उद्योगों का

नोट

न होना था। दूसरी पंचवर्षीय योजना के काफी पहले ही इसके एक मूल मुद्दे को प्लान ने इस प्रकार पेश किया– हम समझते हैं कि मूल उद्योगों की इस कमी को जितनी जल्दी हो सके, ठीक किया जाना चाहिए। यह न सिर्फ भारत में औद्योगिक विकास की गति तेज करने का एक महत्वपूर्ण जरिया है, बल्कि संयंत्र और मशीनों के बारे में विदेशों पर हमारी निर्भरता कम करेगा और इस प्रकार बाहरी वित्त की हमारी जरूरत कम करेगा।

मूल वस्तुओं और भारी तथा मूल उद्योगों के विकास के लिए बड़े वित्त की जरूरत थी। यह महसूस किया गया कि इस काम में सार्वजनिक क्षेत्र को प्रमुख भूमिका अदा करनी होगी। नेहरू तथा वामपंथी राष्ट्रवादी, एवं पूंजीपति सार्वजनिक क्षेत्र की इस भूमिका पर एकमत रखते थे। उनमें इसकी व्यापकता और अधिकार-रोज के बारे में मतभेद था। नेहरू एवं वाम राष्ट्रवादी सार्वजनिक क्षेत्र को समाजवादी दिशा में एक कदम मानते थे। दूसरी ओर पूंजीपति इसे स्वतंत्र पूंजीवाद विकसित करने का एक जरिया तथा विकास को बराबरी के साथ मिलाकर समाजवाद रोकने का एक उपाय समझते थे। ख़ासकर शुरुआती वर्षों में इन दो रुझानों के बीच तनाव स्पष्ट था।

उदाहरण के लिए, 1947 में, नेहरू के नेतृत्व में अखिल भारतीय कांग्रेस कमिटी ने एक आर्थिक कार्यक्रम समिति गठित की। उसने सार्वजनिक क्षेत्र के लिए प्रतिरक्षा, प्रमुख उद्योग और जन सेवाएं तय कीं। इतना ही नहीं; समिति ने आगें कहा कि 'वर्तमान उद्यमों के मामले *में निजी से सार्वजनिक स्वामित्व में हस्तांतरण पांच वर्षों के बाद शुरू होगा।*' इस बात पर पूंजीपतियों ने काफी हो-हल्ला मचाया। 1948 के औद्योगिक नीति प्रस्ताव में समझौते के चिह्न दिखाई देते हैं। इसमें निजी तथा सार्वजनिक क्षेत्रों के अधिकार-क्षेत्र निर्धारित किए गए। इसमें कहा गया कि किसी भी वर्तमान उद्योग के राष्ट्रीकरण के संबंध में दस वर्षों बाद समीक्षा की जाएगी और परिस्थिति के मुताबिक निर्णय लिया जाएगा। दिसंबर 1954 में भारतीय संसद ने 'समाज की समाजवादी प्रणाली' को अपना सामाजिक तथा आर्थिक उद्देश्य माना। कांग्रेस के अवाड़ी अधिवेशन (1955) ने इन्हीं लाइनों पर तीव्र वामपंथी मोड़ लिया। इन बातों के बावजूद 1956 के औद्योगिक नीति प्रस्ताव तथा दूसरी योजना में सार्वजनिक क्षेत्र के प्रसार की बात करने के बावजूद वर्तमान उद्योगों के राष्ट्रीकरण का कोई उल्लेख नहीं किया। वास्तव में, 'मिश्रित अर्थव्यवस्था' का माडल पेश किया गया। इसमें सार्वजनिक एवं निजी क्षेत्र न सिर्फ सहअस्तित्व में रहते हैं बल्कि एक-दूसरे के पूरक भी होते हैं। राष्ट्रीय योजना की सीमाओं में निजी क्षेत्र को विकसित होने के लिए अधिकाधिक प्रोत्साहन दिया गया। यह अलग बात है कि दूसरी योजना में भारी और मूल वस्तुओं के उद्योगों पर जोर देने के कारण सार्वजनिक क्षेत्र की ओर झुकाव बढ़ गया क्योंकि सभी मानते थे कि इसी क्षेत्र में इन उद्योगों का विकास हो सकता है।

योजना कमिशन ने इसी परिप्रेक्ष्य के साथ काम शुरू किया। इसकी स्थापना 15 मार्च 1950 को हुई थी। इसके पास बड़े अधिकार थे, इसमें शक नहीं; और स्वयं नेहरू इसके अध्यक्ष बने। प्रथम योजना (1951-56) में मुख्यत: अधूरे काम पूरे करने का प्रयत्न किया गया। साथ ही, युद्ध के बाद की स्थिति से जनित संकट का सामना करने का भी प्रयत्न किया गया। आज़ादी देश-विभाजन के साथ मिली, और इसलिए सारे देश में भारी अफरा-तफरी मच गई। इतिहास का सबसे बड़ा जनसंख्या हस्तांतरण हुआ और बड़े पैमाने पर शरणार्थियों के आने से समस्या और भी गंभीर हो गई। दूसरी योजना (1956-61) में प्रसिद्ध नेहरू-महालनोबिस विकास रणनीति लागू की गई, जो तीसरी योजना (1961-66) में भी जारी रही। प्रो. पी.सी. महालनोबिस ने द्वितीय योजना तैयार करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। इस रणनीति का एक मूल तत्त्व भारी तथा मूल वस्तुओं के उद्योगों का विकास था, जो मुख्यत: सार्वजनिक क्षेत्र में होना था। दूसरी योजना के दौरान सार्वजनिक क्षेत्र में तीन इस्पात संयंत्र लगाए गए। आयात के बदले इस उद्योग का विकास आत्मनिर्भरता के लिए आवश्यक था। साथ ही, विदेशों पर निर्भरता कम होती थी। साथ ही, यह भी समझा गया कि मूल वस्तुओं और मशीनरी के आयात के अनुपात में निर्यात का विकास नहीं हो सकता था। निर्यात के संबंध में ऐसी निराशावाद उस वक्त आम बात थी, हालांकि बाद में इसकी कड़ी आलोचना की गई। इस माडल के तहत शुरू में कुछ विदेशी सहायता और निवेश आवश्यक था, ताकि बड़े पैमाने पर लागत की व्यवस्था हो सके। लेकिन आंतरिक बचत तेजी से बढ़ाकर यह निर्भरता समाप्त करने का उद्देश्य भी रखा गया। और सच बात यह है कि आज़ादी के बाद शुरू के वर्षों में नेहरू ने भारत में विदेशी पूंजी निवेश आकर्षित करने का प्रयत्न किया था। उसे

नोट

भारतीय पूंजीपतियों ने पसंद नहीं किया क्योंकि उनमें अभी आत्मविश्वास की कमी थी।

नेहरू-महालनोबिस रणनीति का एक और महत्वपूर्ण अंग विकास और समानता पर जोर था। इसलिए उद्योग और खेती में संकेंद्रण और वितरण के प्रश्न पर काफी ध्यान दिया गया हालांकि इसमें अपेक्षित सफलता नहीं मिली। रणनीति में विकास तथा समानता को एक-दूसरे का विरोधी नहीं समझा गया, यह माना गया उच्चतर विकास से समानता के उच्चतर स्तरों तक पहुंचा जा सकता है। साथ ही, इसे ग़रीबी से निबटने के लिए आवश्यक माना गया। इसलिए तेज विकास पर ज्यादा ध्यान दिया गया।

राज्य नियंत्रित सुनियोजित विकास, सार्वजनिक एवं निजी क्षेत्रों के बीच जिम्मेदारियों का बंटवारा, इजारेदारों तथा संकेंद्रण के विकास पर रोक, छोटे उद्योग को संरक्षण, क्षेत्रीय संतुलन बनाए रखना, योजनाबद्ध उद्देश्यों एवं प्राथमिकताओं के अनुरूप स्रोतों का प्रयोग, इत्यादि-इन सारे कामों के लिए एक विस्तृत एवं नियंत्रणों की जटिल प्रणाली तथा औद्योगिक-लाइसेंसिंग की व्यवस्था की जरूरत थी। यह काम 1951 के औद्योगिक विकास एवं नियमन एक्ट (आई.डी.आर.ए.) के जरिए किया गया। दूसरी योजना के शुरू में ही 1956-57 में विदेशी मुद्रा की भारी कमी और भुगतान-संतुलन का संकट पैदा हो गया। फलस्वरूप आयात और विदेशी मुद्रा संबंधी व्यापक नियंत्रण लगाए गए। इस प्रकार, लाइसेंस-कोटा नियमों के काफ्का-स्वरूपी जाल बुन दिए गए। यह बाद के वर्षों में ही पाया गया कि इस प्रणाली ने भारतीय अर्थतंत्र पर अपनी पकड़ कितनी मजबूत कर रखी थी, और इसे तोड़ना कितना कठिन काम था। इसे तोड़ने का विरोध नौकरशाही-राजनीतिज्ञ गठबंधन और कारोबारियों के कुछ हिस्सों ने किया, जिन्हें इस प्रणाली से फ़ायदा पहुंच रहा था।

उपलब्धियां (Achievements)

विकास की शुरुआती मंजिलों में कई मोर्चों पर काफी प्रगति दीख पड़ती है। यह काल प्रथम तीन पंचवर्षीय योजनाओं का है अर्थात साठ के दशक के मध्य तक का। औपनिवेशिक काल की तुलना में अर्थतंत्र ने प्रभावशाली विकास किया। भारत की राष्ट्रीय आय या कुल राष्ट्रीय उत्पाद (जी.एन.पी.) औसतन 4 फीसदी प्रति वर्ष के हिसाब से बढ़ी। यह आंकड़ा 1951 से 1964-65 के बीच की अवधि के लिए हैं (इसमें तीसरी योजना का अंतिम वर्ष 1965-66 शामिल नहीं है जिसके दौरान अभूतपूर्व सूखा पड़ा और युद्ध भी हुआ)। औपनिवेशिक शासन के अंतिम पचास वर्षों की तुलना में यह विकास चार गुना था।

विकास की दर बढ़ाने के लिए निवेश की दर बढ़ाना जरूरी था। इस अवधि की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि बचत और निवेश दरों में वृद्धि थी। एक हद तक छिटपुट आंकड़ों के आधार पर चौथी योजना के मसविदे में हिसाब लगाया गया कि भारतीय अर्थतंत्र में घरेलू बचत और कुल निवेश, दोनों ही 1950-51 में राष्ट्रीय आय का 5.5 फीसदी थे, जो 1965-66 में बढ़कर क्रमशः 10.5 और 14 फीसदी हो गए। बाद के वर्षों में आंतरिक बचत और निवेश के बीच का अंतर अंशतः विदेशी मुद्रा भंडार तोड़कर पूरा किया गया। ख़ासकर स्टर्लिंग बचत बहुत बड़ा था, करीब 16 अरब रुपयों के बराबर। यह 1947 में भारत को अदा किया जाने वाला इंग्लैंड का कर्ज़ा था, क्योंकि युद्ध के दौरान इंगलैंड ने भारत से जबर्दस्ती हासिल किया था। आंशिक रूप से इसे विदेशी सहायता और कर्ज़ से पूरा किया गया। हिसाब लगाया गया है कि 1965-66 में कुल निवेश 1951-52 की तुलना में ऊपरी आंकड़ों में पांच गुना तथा वास्तविक आंकड़ों में तीन गुना था।

11.3.1 कृषि सम्बंधी सुधार (Agrarian Reform)

कृषि के क्षेत्र में आज़ादी के बाद व्यापक सुधार लागू किए गए। ग्राम-स्तर पर कृषि के विकास के लिए तथा सामुदायिक विकास से संबंधित कार्य का जाल बिछा दिया गया। सिंचाई, ऊर्जा, कृषि अनुसंधान, इत्यादि क्षेत्रों में आधारभूत रचना के विकास के लिए बड़े पैमाने पर निवेश किया गया। इन सारे कदमों के फलस्वरूप खेती का काफी विकास हुआ। 1965-66 को छोड़ प्रथम तीन योजनाओं के दौरान भारतीय कृषि का विकास 3 फीसदी के वार्षिक दर से हुआ। यह औपनिवेशिक काल के अंतिम पचासेक वर्षों के दौरान हासिल विकास की दर से 7.5 गुना ज्यादा थी। चीन और जापान

नोट

जैसे देशों द्वारा इसी प्रकार के स्तर और परिस्थिति से शुरुआती विकास दरों से यह विकास दर मिलती-जुलती है। उदाहरण स्वरूप, जापान ने 1878-1912 के दौरान इससे भी कम विकास दर हासिल की, और उसके बाद 1937 तक यह दर और भी कम रही। भारत के लिए विशेष श्रेय की बात यह रही कि चीन, जापान, कोरिया, ताइवान, सोवियत संघ, ब्रिटेन, इत्यादि जैसे अधिकतर अन्य देशों के विपरीत उसने भूमि सुधार तथा विकास आधुनिक जनतांत्रिक ढांचे और नागरिक अधिकारों की प्रणाली के तहत हासिल किया। लेकिन यह प्रशंसा-योग्य कृषि विकास कृषि उत्पाद की बढ़ती मांग को पूरा करने के लिए काफी नहीं था। फलस्वरूप, तीनों योजनाओं के दौरान अनाज का अधिकाधिक आयात करना पड़ा। 1956 से ही भारत को अमरीका से विवादास्पद पी.एल. 480 स्कीम के तहत अनाज का बड़े पैमाने पर आयात करना पड़ा। छठवें दशक के अंत में हरित-क्रांति की शुरुआत के बाद ही आयात पर यह निर्भरता समाप्त हो पाई।

प्रथम तीन योजनाओं में उद्योगों का विकास तो कृषि से भी तेज हुआ। 1951 तथा 1965 के बीच वह 7.1 फीसदी प्रति वर्ष की कुल दर से बढ़ा। उद्योगों के विकास ने तेजी से आयातित वस्तुओं की जगह ले ली, शुरू में उपभोक्ता वस्तुओं की, बाद में मूल वस्तुओं और अन्य सामानों की, विशेष तौर पर दूसरी योजना से। मूल वस्तुओं पर जोर का इस तथ्य से पता चलता है कि दूसरी योजना के खर्चे का 70 फीसदी धातु, मशीनरी और रसायन उद्योगों में लगा; तीसरी योजना में यह आंकड़ा 80 फीसदी हो गया। "1951 तथा 1969 के बीच औद्योगिक उत्पादन का कुल आंकड़े में तीन गुना वृद्धि का कारण उपभोक्ता उद्योगों में 70 फीसदी की वृद्धि, बीच के किस्म की वस्तुओं में चार गुना वृद्धि, और मूल वस्तुओं के उत्पादन में दस गुना वृद्धि थी।" किसी भी मानदंड से मूल वस्तुओं के उत्पादन में यह बड़ी भारी वृद्धि थी। तालिका 11.1 तथा 11.2 में अधिक लंबे काल में विकास का स्वरूप दर्शाया गया है। खासकर 1951 तथा 1971 के बीच मध्यम तथा मूल वस्तु उद्योग, जैसे धातु, रसायन, यातायात के साधन तथा बिजली एवं गैर-बिजली मशीनरी का विकास, कपड़ा जैसे उपभोक्ता उद्योगों से अधिक तेजी से हुआ।

तालिका 11.1 भारत में औद्योगिक उत्पादन के क्षेत्र 1951-79

1960 = 100 (1951-71); 1970 = 100 (1978-79 के लिए)

औद्योगिक क्षेत्र	1951	9161	1971	1978-79
सामान्य	55	109	153	186
कपड़ा	80	103	106	110
मूल धातु	47	119	209	144
मशीनरी	22	121	373	203
इलेक्ट्रिकल मशीनरी	26	110	405	162

स्रोत–इंडिया; ऐ रेफरेंस एनुएल, भारत सरकार, नई दिल्ली, 1980, पृ. 312 में उद्धृत।

तालिका 11.2 : भारतीय उत्पादन क्षेत्र में विकास-दर

1951-52 से 1982-83 (फीसदी)

उद्योग	1951-52 से 1959-60	1960-61 से 1969-70	1970-71 से 1982-83
कपड़ा	2.98	0.70	5.36
रबर, पेट्रोलियम और प्लास्टिक उत्पाद	17.54	10.4	3.82
रसायन उत्पाद	7.9	8.39	5.76

नोट

मूल धातु एवं मिश्र धातु	6.52	7.01	5.46
गैर-बिजली मशीनरी	21.02	17.01	6.09
बिजली मशीनरी	17.64	14.01	6.17
यातायात के सामान	14.83	7.66	3.34

यह गणन अर्द्ध-लॉग प्रणाली पर आधारित विकास दरों की रुझान दर्शाती हैं, और भारतीय उत्पादन-व्यवस्था के फैक्टरी क्षेत्र के सम्बन्ध में हैं।

स्रोत–सुखमय चक्रवर्ती, *डेवलमेंट प्लानिंग : द इंडियन एक्सपीरियंस,* दिल्ली 1981, तालिका 13, पृ. 111, से चुना गया।

विकास के इस रुझान ने मूल वस्तुओं और यंत्रों के संबंध में विकसित देशों पर भारत की करीब-करीब पूरी निर्भरता को काफी कम कर दिया। यह निवेश के लिए या क्षमता के निर्माण के लिए आवश्यक था। आजादी के समय नई क्षमता कायम करने के लिए लगभग सारे यंत्र बाहर से मंगाने पड़ते थे। उदाहरण के लिए, 1950 में भारत ने मशीन टूल्स की 89, 8 फीसदी तक की जरूरतें आयात से पूरी कीं। इसकी तुलना में यंत्रों के रूप में कुल स्थायी निवेश में आयातित यंत्रों का हिस्सा 1960 में 43 फीसदी तक आ गया, और 1974 में मात्र 9 फीसदी तक। इसी दौर में भारत में स्थायी निवेश का मूल्य ढाई गुना गया। दूसरे शब्दों में सत्तर के दशक के मध्य तक निवेश की दर बनाए रखने के लिए यंत्रों की आवश्यकता का 90 फीसदी से भी अधिक देश के अंदर से ही पूरा कर रहा था। यह एक महत्वपूर्ण उपलब्धि थी। इसके विकास या पूंजी संचय की अपनी दर तय करने के मामले में विकसित देशों पर भारत की निर्भरता काफी कम कर दी। यह तथ्य, और हरित-क्रांति भारत की स्वतंत्र विदेश नीति का आधार बने जो भारी दबावों का सामना कर पाया।

विदेशी स्रोतों, विदेशी सहायता और विदेशी निजी निवेश पर निर्भरता कम रखी गई। भारत द्वारा उपयोग में लाई गई वास्तविक सहायता प्रथम योजना के दौरान कारक मूल्य पर वास्तविक राष्ट्रीय उत्पाद का मात्र 0.4 फीसदी था। दूसरी तथा तीसरी योजनाओं में यह बढ़कर क्रमशः 2.25 और 3.17 फीसदी हो गया। साठ के दशक के अंत में इसमें भारी गिरावट आई। इसके अलावा, विदेशी स्रोतों का मुख्य स्वरूप अधिकाधिक सहायता था। एक अनुमान के अनुसार 1948 और 1961 के बीच वास्तविक विदेशी सहायता और वास्तविक विदेशी निजी निवेश के बीच 6:1 की तुलना थी। प्रथम योजना में विदेशी सहायता का 71 फीसदी गेहूं के कर्ज में इस्तेमाल किया गया, जबकि दूसरी तथा तीसरी योजनाओं में विदेशी सहायता का अधिकांश, 98 फीसदी, लोहा एवं इस्पात योजनाओं तथा सामान्य औद्योगिक विकास में एवं यातायात, संचार तथा ऊर्जा में लगाया गया। कुल मिलाकर प्रथम तीन योजनाओं में उद्योग, यातायात और ऊर्जा में विदेशी सहायता का करीब 95 फीसदी प्रयोग किया गया। अमरीका से पी.एल-480 के तहत दी गई अनाज सहायता से जनित कोष का उपयोग उपर्युक्त क्षेत्रों में किया गया। दूसरी योजना में सोवियत सहायता प्राथमिकता वाले क्षेत्रों में दी गई, जैसे मूल उद्योगों में, और वह भी सार्वजनिक क्षेत्र में।

भारतीय अर्थतंत्र में सार्वजनिक क्षेत्र का प्रभाव बढ़ता गया, और उसने इसके 'नियंत्रक स्थितियों' पर कब्जा कर लिया। विदेशी क्षेत्र वैसे भी छोटा था, अब और भी छोटा हो गया। लैटिन अमरीकी देशों के विपरीत भारत के सार्वजनिक क्षेत्र का विकास विदेशी निजी पूंजी का बहुराष्ट्रीय कारपोरेशनों के सहयोग से नहीं हुआ है। 1951 में संपूर्ण कारपोरेट क्षेत्र में कुल भुगतान की गई पूंजी का 3.4 फीसदी सरकारी कंपनियों का था, जबकि 1961 में यह बढ़कर 30 फीसदी हो गया। सत्तर के दशक की शुरुआत में यह प्रतिशत बढ़कर 50 फीसदी हो गया था और 1978 में 75 फीसदी तक जा पहुंचा।

उद्योग और खेती के अलावा योजनाओं ने शिक्षा और स्वास्थ्य समेत मूल ढांचों के विकास पर सबसे अधिक जोर दिया। औपनिवेशिक काल में इन क्षेत्रों की उपेक्षा की गई थी। प्रथम तीन योजनाओं के दौरान यातायात और संचार पर वास्तविक योजना ख़र्च करीब 13 अरब रुपए था, जो प्रत्येक योजना में कुल ख़र्चे का 26 फीसदी था। सामाजिक/सामुदायिक सेवाओं तथा ऊर्जा के लिए ये आंकड़े क्रमशः 9.4 अरब रुपए तथा 19.9 फीसदी, एवं 6.16 अरब रुपए तथा 10.6 फीसदी थे। आगे चलकर, इन क्षेत्रों तथा सिंचाई में योजना निवेश महत्वपूर्ण साबित हुआ। इससे निजी निवेश तथा उत्पादकता

बढ़ाने में मदद मिली। यह बात हरित-क्रांति के दौरान खेती में दिखाई दी।

नोट

तालिका 11.3–मूल ढांचे, स्वास्थ्य और शिक्षा का प्रसार

क्षेत्र	इकाई	1950-51	1960-61	1065-66	1950-51 से 1965-66 के बीच का प्रतिशत
बिजली लागू क्षमता	दस लाख किलोवाट	2.3	5.6	10.2	393.5
गांव और शहर	हज़ारों में	3.7	24.2	52.3	1313.5
बिजली की रेलें– सामान की ढुलाई	दस लाख टन	93	156	205	120.4
सड़कें	हज़ार कि.मी.	156	235	284	82
अस्पताल					
बिस्तरों की संख्या	हज़ार में	113	186	300	165.5
स्कूलों में भती	दस लाख में	23.5	44.7	67.7	188.1
तकनीकी शिक्षा–इंजीनियरिंग और टैक्नॉलोजी (भर्ती क्षमता)					
(*i*) डिग्री स्तर	हज़ार में	4.1	13.8	24.7	502.4
(*ii*) डिप्लोमा	हज़ार में	5.9	25.8	49.9	745.8
जनसंख्या	दस लाख	357	430	490	37.3

स्रोत–जे. भगवती और जी. देसाई, *इंडिया : प्लानिंग फॉर इंडिस्ट्रियलाइजेशन, लंदन,* 1970, पृ. 74.

तालिका 11.3 से कुछ आधारभूत रचनाओं और सामाजिक फ़ायदों के प्रति व्यक्ति विकास का पता चलता है, जो जनसंख्या के विकास से कई गुना आगे था। 1950-51 की तुलना में 1965-66 में बिजली क्षमता में 4.5 गुना, शहरों एवं गांवों के बिजलीकरण में 14 गुना अस्पताल में मरीजों के लिए बिस्तरों में 2.5 गुना, स्कूलों में भर्ती 3 गुना से थोड़े कम, और महत्त्वपूर्ण बात यह कि इंजीनियरिंग और टेक्नोलॉजी की तकनीकी शिक्षा में डिग्री तथा डिप्लोमा स्तरो पर 6 और 8.5 गुना वृद्धि हुई। इसी अवधि में जनसंख्या में मात्र एक-तिहाई की वृद्धि हुई।

1991 से देश में लागू किए गए आवश्यक आर्थिक सुधारों की प्रशंसा के जोश में विशेष तौर पर नेहरू-काल की आर्थिक उपलब्धियों को नीचा दिखाना कुछ लोगों के लिए एक तरह का फैशन हो गया है। अदूरदर्शिता और अ-ऐतिहासिकता का इससे बड़ा उदाहरण और कोई नहीं हो सकता। यह नेहरूवादी युग था जिसने मूल भौतिक आर मानव संसाधनों का निर्माण किया जो स्वतंत्र आधुनिक विकास की पूर्वशर्तें साबित हुईं।

इसके अलावा, नेहरूवादी मंजिल को उस वक्त के विश्व ऐतिहासिक संदर्भ में देखा जाना चाहिए। जैसा कि प्रखर अर्थशास्त्री और ढांचागत पुनर्गठन कार्यक्रम की शुरुआत करने वाले वित्तमंत्री डॉ. मनमोहन सिंह ने कहा, "यदि 1960 में आप किसी से भी पूदते कि 1996 या 1997 में कौन सा देश दुनिया के शिखर पर होगा, तो जवाब होता, भारत।" पश्चिम के अर्थशास्त्रियों समेत सबों के बीच एक बात पर सहमति थी–कि भारत के नियोजन की दिशा सकारात्मक और संभावनाओं से भरी हुई थी। इन अर्थशास्त्रियों में कुछ थे–डब्ल्यू. डब्ल्यू. रोस्टोव, रोजेनश्टेन-रोडन, विल्फ्रेड मैंडेलबाउम, जॉर्ज रोजेन, ईयन लिट्ल, ब्रायन रेडावे, इत्यादि। भारत के जनतांत्रिक रास्ते की प्रशंसा करते हुए अकसर ही चीन के प्रभुत्ववादी माडल की आलोचना की गई है।

इसमें शक नहीं कि बदलती परिस्थितियों में औपनिवेशिक पिछड़ेपन की विरासत पर विजय पाते हुए सक्रिय जनतंत्र बरक़रार रखकर परिवर्तनों की की आवश्यकता थी। इस पर दो राय नहीं हो सकती थी कि कुछ तरीकों को बदलते

नोट

या पूरी तरह छोड़ने की जरूरत है, जैसे–औद्योगिक लाइसेंसिंग, कीमत तथा वितरण के नियंत्रण, आयातों पर प्रतिबंध, अक्षम घरेलू उत्पादकों की रक्षा, अधिकाधिक अक्षम होते सार्वजनिक क्षेत्र पर निर्भरता, इत्यादि। अलावा, विश्व पूंजीवाद के बदलते स्वरूप के कारण आर्थिक परिवर्तनों की जरूरत थी। इसके कार्यकलापों में भी परिवर्तन की जरूरत थी। इसमें विश्व अर्थतंत्र की ओर अधिक खुलने की जरूरत भी शामिल थी। लेकिन साठ के दशक के मध्य में भारत को कई प्रकार के संकटों का सामना करना पड़ा, जिसके कारण ऐसे परिवर्तन हो नहीं पाए। साथ ही विश्व तथा आंतरिक राजनीतिक परिस्थिति के दबाव में उसे अधिक संरक्षणवादी, अंतर्मुखी और अलगाववादी दिशा पकड़नी पड़ी।

11.4 सारांश (Summary)

- स्थायित्व की परिस्थितियों में भी कई बार राष्ट्रपतियों ने व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा या संविधान के प्रति ज़िम्मेदारी निभाने के इरादे से अपने अधिकारों का प्रयोग किया है। सबसे महत्त्वपूर्ण उदाहरण राष्ट्रपति ज्ञानी जैल सिंह का है। वे ऐसे पहले राष्ट्रपति थे जिन्होंने कई बिल संसद को वापस कर दिया था।
- विवाद का एक और क्षेत्र राज्य सरकारों को भंग करने में राष्ट्रपति की भूमिका और राष्ट्रपति शासन लागू करने संबंधी है।
- 44वें संशोधन में राष्ट्रपति को यह अधिकार दिया गया है कि वह मंत्रिपरिषद से अपने निर्णय पर पुनः विचार करने का अनुरोध करे।
- दूसरे मामलों में राष्ट्रपति के अधिकार स्पष्ट हैं। धारा 111 के तहत जब कोई बिल उनके सामने पेश किया जाता है, तो उन्हें इससे असहमति जताने का अधिकार है, और यदि वे चाहें तो इसे संसद को पुनर्विचार के लिए वापस भी भेज सकते हैं। यदि दोनों सदन इसे फिर पास कर देते हैं और उनके पास पुनः भेज देते हैं तो उन्हें अपनी सहमति देनी ही पड़ती है।
- 1978 में किए गए 44वें संशोधन के अनुसार यह स्पष्ट किया गया है कि राष्ट्रपति तभी आपातकाल की घोषणा कर सकता है जब इस संबंध में मंत्रिमंडल का लिखित निर्णय उन्हें प्राप्त हो। आपातकाल के दौरान भी उन्हें मंत्रिमंडल की सलाह पर ही काम करना होगा।
- मंत्रिपरिषद सामूहिक रूप से लोकसभा के प्रति ज़िम्मेदार होती है। यदि वह लोकसभा का विश्वास खो बैठती है तो उसे तुरंत इस्तीफा दे देना चाहिए।
- नेहरू के शब्दों में प्रधानमंत्री "सरकार का केंद्रबिंदु" होता है। लगभग सारे अधिकार राष्ट्रपति में औपचारिक तौर पर निहित होते हुए भी वास्तव में प्रधानमंत्री द्वारा प्रयुक्त होते हैं। प्रधानमंत्री राष्ट्रपति, मंत्रिमंडल तथा संसद के बीच कड़ी होता है।
- चुनावों में अपनी जीत और 1971 के बांग्लादेश युद्ध के बाद इंदिरा गांधी इतनी शक्तिशाली बन गई थी कि राजनीतिक प्रणाली में प्रधानमंत्री पद ने अत्यंत महत्व की स्थिति धारण कर ली। प्रधानमंत्री को मंत्रियों के चुनाव या उनकी बर्खास्तगी के पूर्ण अधिकार हैं। इससे प्रधानमंत्री को दूसरों के ऊपर बड़े पैमाने पर अधिकार मिलते हैं।
- भारतीय संसद में दो सदन होते हैं–ऊपरी सदन राज्यसभा या राज्यों की परिषद है, और निचली सदन लोकसभा का जनता का सदन है। राज्यसभा में 250 सदस्य होते हैं। इनमें से 238 का चुनाव राज्य विधानसभाओं के चुने सदस्य एकल हस्तांतरण मत प्रणाली के तहत समानुपातिक प्रतिनिधित्व के आधार पर करते हैं। अन्य 12 का मनोनयन सरकार के सुझाव पर राष्ट्रपति करते हैं।
- लोकसभा का चुनाव जनता द्वारा पांच वर्षों के लिए होता है। इसे इसका कार्यकाल समाप्त होने से पहले भी भंग किया जा सकता है। आपातकाल के दौरान लोकसभा का कार्यकाल एक बार में एक वर्ष के लिए बढ़ाया

नोट

जा सकता है, लेकिन आपातकाल की समाप्ति के बाद छह महीनों से अधिक के लिए नहीं। वास्तव में, लोकसभा का कार्यकाल सिर्फ एक ही बार, 1976 में, एक वर्ष के लिए बढ़ाया गया था, जब प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी ने आपातकाल की घोषणा की थी।

- संविधान में आरक्षण को दस वर्षों का अल्पकालिक प्रावधान रखा गया है। किसी भी सरकार ने इसे हर बार दस वर्षों के लिए बढ़ाने का विरोध नहीं किया है। फलस्वरूप, अब तक इसे पचास वर्षों तक के लिए बढ़ाया जा चुका है। उल्टे, आरक्षण की मांग और स्वीकृति में वृद्धि ही हुई है।
- लोकसभा की अधिकतम सीटें 552 होती हैं। इनमें से 550 भौगालिक मतदाता–क्षेत्र हैं, और दो ऐंग्लो–इंडियन समुदाय के मनोनीत सदस्य होते हैं। सदस्यों की उम्र कम से कम पच्चीस वर्ष होनी चाहिए। लोकसभा की अध्यक्षता स्पीकर करते हैं, और उनकी अनुपस्थिति में उपाध्यक्ष या डिप्टी स्पीकर।
- संसद को व्यापक वैधानिक अधिकार हैं, और बिल किसी भी सदन में पेश किए जा सकते हैं। क़ानून बनने के लिए बिल को दोनों सदनों में पास करना तथा उसे राष्ट्रपति का अनुमोदन मिलना जरूरी है।
- संविधान भारत को एक सार्वभौम, समाजवादी, धर्मनिरपेक्ष तथा जनतांत्रिक गणतंत्र घोषित करता है। हालांकि 'धर्मनिरपेक्ष' और 'समाजवादी' शब्द 1976 में 42वें संशोधन के जरिए जोड़े गए थे, संविधान की आत्मा धर्मनिरपेक्ष थी।
- धर्मनिरपेक्षता के प्रति नेहरू की प्रतिबद्धता अतुलनीय और सर्वांगीण थी। वे अपने पूरे अस्तित्व से सांप्रदायिकता से नफरत करते थे और अपनी पूरी जिंदगी सारी ताकत लगाकर उससे लड़ते रहे। उन्होंने धर्मनिरपेक्षता की जड़ों को भारतीय जनता के बीच फैलाया और उस समय फैलती हुई सांप्रदायिक आग को पीछे धकलने में कामयाब हुए।
- नेहरू उन पहले व्यक्तियों में थे जिन्होंने सांप्रदायिकता की सामाजिक–आर्थिक जड़ों को समझने की कोशिश की थी। वे इस विश्वास पर पहुंचे थे कि यह मुख्यत: प्रतिक्रियावादियों का एक हथियार है, हालांकि इसका सामाजिक आधार मुख्यत: मध्यवर्गीय ही है। अवतार के रूप में परिभाषित किया।
- नेहरू किसी भी तरह, हिंदू, मुसलिम, सिख या ईसाई संप्रदाय में कोई अंतर नहीं करते थे। उनके मुताबिक ये सभी एक ही विचारधारा के विभिन्न रूप हैं और इसलिए इन सबों का एक साथ विरोध किया जाना चाहिए।
- नागरिक अधिकारों को मजबूत आधार पर खड़ा किया गया और प्रेस को सरकार की तीखी आलोचना करने के बावजूद पूरी आज़ादी मिली। न्यायालयों की स्वायत्तता को बहुत सावधानी से पाला पोसा गया। इसके बावजूद कि कृषि सुधार संबंधी महत्वपूर्ण और लोकप्रिय विधेयक का न्यायालय द्वारा विरोध किया गया, इसकी स्वायत्तता पर कोई आंच नहीं आने दी गई।
- उन्होंने संसद को जनता के विचारों को व्यक्त करने का एक महत्वपूर्ण मंच बना दिया। उन्होंने यह सिद्धांत बना रखा था कि वे संसद में प्रश्नकाल के दौरान होने वाली बहसों के समय हमेशा वहां मौजूद रहेंगे। विपक्ष ने भी संसद और उसकी कार्यप्रणाली का आदर करते हुए अपनी भूमिका निभाई।
- नेहरू युग के दौरान संविधान में दिए गए संघवादी प्रावधानों को मजबूती से स्थापित किया गया। राज्यों के बीच सत्ता का समुचित बंटवारा किया गया। राज्यों की स्वायत्तता का आदर करते हुए नेहरू कभी भी राज्य सरकारों पर अपना निर्णय नहीं थोपते थे, न ही उनकी नीतियों में कोई हस्तक्षेप करते थे।
- हमें इस बात पर भी गौर करना चाहिए कि केंद्र और राज्यों के बीच सौहार्द्रपूर्ण संबंध तथा विभाजनकारी शक्तियों पर नियंत्रण बने रहने का एक सबसे बड़ा कारण यह था कि केंद्र तथा राज्य, दोनों में एक ही पार्टी सत्तारूढ़ थी। केंद्र की नेतृत्वकारी भूमिका स्थापित होने का एक दूसरा कारण यह था कि तत्कालीन भारतीय राजनीति के कुछ सबसे कद्दावर लोग उस समय मंत्रिमंडल तथा कांग्रेस कार्यसमिति के सदस्य थे।
- नेहरू एवं अन्य नेता एक ऐसे सामाजिक परिवर्तन के लिए उत्सुक थे जो समाज के पिछड़े और कुचले हुए

नोट

तबकों की मुक्ति का मार्ग प्रशस्त कर सके। जैसा कि नेहरू ने 1956 में कहा–

- हम सिर्फ राजनीतिक क्रांति का ही प्रयास नहीं कर रहे और न सिर्फ यही उपलब्धि चाहते हैं, और हम सिर्फ आर्थिक क्रांति के लिए ही जी-तौड़ मेहनत नहीं कर रहे हैं, बल्कि... हम सामाजिक क्रांति के लिए भी उतना ही दृढ़संकल्प रखते हैं, इन तीन अलग-अलग रास्तों पर चलकर और उन्हें एक महान् संपूर्णता में बदलकर ही भारत के लोग तरक्की कर सकते हैं।
- गणराज्य के संस्थापक इस बात से वाकिफ थे कि सामाजिक एवं आर्थिक विकास, अवसर की समानता और जनवादी समाज के निर्माण के लिए व्यापक और बेहतर शिक्षा एक बहुत बड़ा हथियार होता है। इसकी आवश्यकता इसलिए भी बहुत ज्यादा थी कि 1951 में कुल आबादी का मात्र 16.6 प्रतिशत ही साक्षर था।
- नेहरू के दिनों में शिक्षा, खासकर लड़कियों की शिक्षा में भारी प्रगति दिखाई पड़ी। 1951 और 1961 के बीच स्कूलों में छात्रों की संख्या दो गुनी और छात्राओं की संख्या तीन गुनी हो गई। 1950-51 के मुकाबले 1965-66 में पहली से चौथी कक्षा तक के छात्रों की संख्या 1.37 करोड़ से बढ़कर 3.21 करोड़ हो गई।
- आज़ादी के दिनों में सिर्फ 18 विश्वविद्यालय थे, जबकि करीब 3 लाख विद्यार्थी थे। 1964 तक विश्विद्यालयों की संख्या 54 और कालेजों की संख्या 2,500 हो गई। स्नातक और स्नातकोत्तर छात्रों की संख्या 6.13 लाख हो चुकी थी। छात्राओं की संख्या छह गुना बढ़कर कुल विद्यार्थियों का 22 प्रतिशत हो गया।
- ग्रामीण क्षेत्रों के विकास के लिए दो बड़े कार्यक्रम सामुदायिक विकास कार्यक्रम और पंचायती राज, 1952 और 1959 में शुरू किए गए। ये कार्यक्रम गांवों में कल्याणकारी राज्य की नींव डालने वाले थे। हालांकि ये कृषि के विकास के लिए भी बनाए गए थे, पर इनमें मुख्यत: कल्याण का उद्देश्य ग्रामीण भारत का चेहरा बदलना था ताकि लोगों का जीवन स्तर सुधारा जा सके।
- सामुदायिक विकास कार्यक्रम सीमित स्तर पर 1952 में शुरू किया गया, जिसमें 55 विकास प्रखंड चुने गए। प्रत्येक प्रखंड में 100 गांव और करीब 60 से 70 हजार की आबादी थी।
- इस कार्यक्रम की कमजोरी 1957 में ही स्पष्ट हो चुकी थी, जब बलवंत्री मेहता समिति को इसका मूल्यांकन करने का काम दिया गया। इस समिति ने इस कार्यक्रम के नौकरशाही के चंगुल में फंसने और लोगों की भागीदारी के अभाव की जमकर आलोचना की। इसके इलाज के लिए समिति ने यह सिफारिश की कि ग्रामीण और जिला स्तरीय विकास प्रशासन का जनवादी विकेंद्रीकरण किया जाए।
- यह नई व्यवस्था पंचायती राज के नाम से जानी गई और विभिन्न राज्यों में 1959 से लागू की जाने लगी। इसमें प्रत्यक्ष रूप से चुने गए ग्राम पंचायत और अप्रत्यक्ष रूप से चुने गए प्रखंड स्तरीय जिला परिषद के तीन स्तर बनाए गए।
- यह बड़े ही सौभाग्य की बात थी कि आज़ादी के बाद आगे विकास के संबंध में देश में एक आम सामाजिक सहमति थी। उदाहरण के लिए गांधीवादी, सोशलिस्ट, पूंजीपति और कम्यूनिस्ट (कुछ संकीणतावादी दौरों को छोड़) निम्नलिखित एजेंडे पर करीब-करीब सहमत थे; आत्म-निर्भरता पर आधारित आर्थिक विकास की बहु-आयामी रणनीति; मूल उद्योगों सहित आयात के विकल्प में तीव्र औद्योगीकरण; साम्राज्यवादी और विदेशी पूंजी के प्रभुत्व पर रोक; भूमि सुधार जिसमें शामिल थे–जमींदारी-उन्मूलन, काश्तकारी सुधार, सहकारी संस्थाओं की स्थापना, कर्जा, बिक्री, इत्यादि के लिए सहकारी सेवा संस्थाएं, समान अवसर के लिए विकास, अर्थात ग़रीबों तथा कल्याणकारी कामों तक में सुधारवादी विकास माडल; जनजातियों एवं आदिवासियों जैसे सबसे पीड़ित तबकों के लिए कुछ अवधिका सकारात्मक आरक्षण; राज्य द्वारा आर्थिक विकास में केंद्रीय भूमिका, विशेषकर सार्वजनिक क्षेत्र के जरिए उत्पादन प्रक्रिया में हिस्सेदारी; इत्यादि।
- 1938 में नियोजित आर्थिक विकास के सबसे बड़े पहलकर्ता जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में राष्ट्रीय योजना कमिशन (एन.पी.सी.) गठित की गई। इसने बाद के दशक में विकास की एक व्यापक योजना तैयार की, और इसकी विभिन्न उप-समितियों ने सुझावों के उनतीस खंड तैयार किए।

नोट

- अखिल भारतीय कांग्रेस कमिटी द्वारा संशोधित 1931 के कांग्रेस के कराची प्रस्ताव में कहा गया कि 'राज्य प्रमुख उद्योगों, सेवाओं, खनिज स्त्रोतों, रेलवे, जल-परिवहन, जहाजरानी और दूसरे यातायात साधनों पर नियंत्रण रखेगा।' नेहरू और एन.पी.सी. के अलावा भारतीय उद्यमों के नेता भी सार्वजनिक क्षेत्र तथा आंशिक राष्ट्रीकरण के पक्षध र थे।
- 1947 में, नेहरू के नेतृत्व में अखिल भारतीय कांग्रेस कमिटी ने एक आर्थिक कार्यक्रम समिति गठित की। उसने सार्वजनिक क्षेत्र के लिए प्रतिरक्षा, प्रमुख उद्योग और जन सेवाएं तय कीं। इतना ही नहीं; समिति ने आगें कहा कि 'वर्तमान उद्यमों के मामले *में निजी से सार्वजनिक स्वामित्व में हस्तांतरण पांच वर्षों के बाद शुरू होगा।*'
- दिसंबर 1954 में भारतीय संसद ने 'समाज की समाजवादी प्रणाली' को अपना सामाजिक तथा आर्थिक उद्देश्य माना।
- योजना कमिशन ने इसी परिप्रेक्ष्य के साथ काम शुरू किया। इसकी स्थापना 15 मार्च 1950 को हुई थी। इसके पास बड़े अधिकार थे, इसमें शक नहीं; और स्वयं नेहरू इसके अध्यक्ष बने। प्रथम योजना (1951-56) में मुख्यत: अधूरे काम पूरे करने का प्रयत्न किया गया।
- दूसरी योजना (1956-61) में प्रसिद्ध नेहरू-महालनोबिस विकास रणनीति लागू की गई, जो तीसरी योजना (1961-66) में भी जारी रही।
- नेहरू-महालनोबिस रणनीति का एक और महत्वपूर्ण अंग विकास और समानता पर जोर था। इसलिए उद्योग और खेती में संकेंद्रण और वितरण के प्रश्न पर काफी ध्यान दिया गया हालांकि इसमें अपेक्षित सफलता नहीं मिली।
- **राज्य देखरेख** में सुनियोजित विकास, सार्वजनिक एवं निजी क्षेत्रों के बीच जिम्मेदारियों का बंटवारा, इजारेदारों तथा संकेंद्रण के विकास पर रोक, छोटे उद्योग को संरक्षण, क्षेत्रीय संतुलन बनाए रखना, योजनाबद्ध उद्देश्यों एवं प्राथमिकताओं के अनुरूप स्रोतों का प्रयोग, इत्यादि-इन सारे कामों के लिए एक विस्तृत एवं नियंत्रणों की जटिल प्रणाली तथा औद्योगिक-लाइसेंसिंग की व्यवस्था की जरूरत थी।
- भारत के लिए विशेष श्रेय की बात यह रही कि चीन, जापान, कोरिया, ताइवान, सोवियत संघ, ब्रिटेन, इत्यादि जैसे अधिकतर अन्य देशों के विपरीत उसने भूमि सुधार तथा विकास आधुनिक जनतांत्रिक ढांचे और नागरिक अधिकारों की प्रणाली के तहत हासिल किया। लेकिन यह प्रशंसा-योग्य कृषि विकास कृषि उत्पाद की बढ़ती मांग को पूरा करने के लिए काफी नहीं था।
- 1991 से देश में लागू किए गए आवश्यक आर्थिक सुधारों की प्रशंसा के जोश में विशेष तौर पर नेहरू-काल की आर्थिक उपलब्धियों को नीचा दिखाना कुछ लोगों के लिए एक तरह का फैशन हो गया है। अदूरदर्शिता और अ-ऐतिहासिकता का इससे बड़ा उदाहरण और कोई नहीं हो सकता। यह नेहरूवादी युग था जिसने मूल भौतिक आर मानव संसाधनों का निर्माण किया जो स्वतंत्र आधुनिक विकास की पूर्वशर्तें साबित हुईं।
- जैसा कि प्रखर अर्थशास्त्री और ढांचागत पुनर्गठन कार्यक्रम की शुरुआत करने वाले वित्तमंत्री डॉ. मनमोहन सिंह ने कहा, "यदि 1960 में आप किसी से भी पूछते कि 1996 या 1997 में कौन सा देश दुनिया के शिखर पर होगा, तो जवाब होता, भारत।"

11.5 शब्दकोश (Keywords)

- गणतंत्र–ऐसा देश जिसका राष्ट्राध्यक्ष आनुवंशिक न होकर निर्वाचित हो।
- अतुलनीय–जिसकी तुलना न की जा सके।

नोट

11.6 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. भारत की संसदीय व्यवस्था का वर्णन कीजिए।
2. धर्मनिरपेक्ष जनवादी गणतंत्र से आप क्या समझते हैं? स्पष्ट कीजिए।
3. समाजवादी समाज पर नेहरू का क्या दृष्टिकोण है? विश्लेषण कीजिए।
4. राज्य नियंत्रित औद्योगीकरण एवं योजनाओं पर प्रकाश डालिए।

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer: Self Assessment)

1. (क) 2. (ग) 3. (घ) 4. (ख)
5. (ख)

11.7 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. *आजादी के बाद का भारत*– विपिन चन्द्र, मृदुला मुखर्जी, आदित्य मुखर्जी, हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय।
2. *स्वतंत्रता संग्राम*– विपिन चन्द्र, हिन्दी माध्यम कार्यान्वय, निदेशालय दिल्ली विश्वविद्यालय।
3. *स्वतंत्रता का इतिहास*– बी.एल. ग्रोवर एवं यशपाल, एसख चन्द एण्ड कम्पनी लि., दिल्ली।

नोट

इकाई–12: चीन के साथ सीमा विवाद और चीनी आक्रामकता (Border conflict with China and Chinese Aggresession)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

12.1 चीन के साथ सीमा विवाद (Border Conflict with China)

12.2 चीनी आक्रामकता अथवा चीनी हमला (Chinese Aggression or Chinese Attack)

12.3 सारांश (Summary)

12.4 शब्दकोश (Keywords)

12.5 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

12.6 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- भारत-चीन के परस्पर संबंधों एवं सीमा विवाद को समझने में;

प्रस्तावना (Introduction)

जब 1950 में तिब्बत पर चीन ने कब्जा कर लिया तो भारत इस बात पर नाराज हो गया कि उसे विश्वास में नहीं लिया गया। लेकिन भारत ने तिब्बत पर चीन के अधिकार पर आपत्ति नहीं की क्योंकि इतिहास में कई बार तिब्बत चीन का अंग रह चुका है। 1954 में भारत और चीन ने एक संधि पर हस्ताक्षर किए, जिसके तहत भारत ने तिब्बत पर चीन के अधिकार को स्वीकार किया। दोनों देशों ने पंचशील के आधार पर आपसी संबंध नियमित करना तय किया। सीमा तय करने संबंधी मतभेदों पर विचार किया गया लेकिन चीन का कहना था कि उसने अभी पुराने कुओमिंलांग नक्शों का अध्ययन नहीं किया है, और इस पर बाद में विचार किया जा सकता है।

12.1 चीन के साथ सीमा विवाद (Border Conflict with China)

भारत ने शुरू से ही चीन की ओर मित्रता की नीति अपनाई। साम्राज्यवाद के विरुद्ध चीन के संघर्ष के प्रति कांग्रेस सहानुभूति रखती थी। इससे तीस के दशक में एक मेडिकल मिशन चीन भेजा था। साथ ही चीन पर जापान द्वारा कब्जा करने के खिलाफ जापानी वस्तुओं के बहिष्कार का नारा भी दिया था। चीनी जन गणतंत्र को 1 जनवरी 1950 को मान्यता देने वाला भारत प्रथम देश था। नेहरू को बड़ी आशाएँ थीं कि औपनिवेशिक ताकतों के हाथों उत्पीड़न का समान अनुभव रखने वाले तथा गरीबी एवं निम्न विकास की समान समस्याओं वाले ये दोनों देश मिल-जुलकर एशिया को विश्व में अपना उचित स्थान दिलाएँगे। नेहरू ने सुरक्षा परिषद में कम्युनिस्ट चीन को उचित स्थान दिलवाने पर जोर दिया, उन्होंने कोरियाई युद्ध में अमरीकी स्थिति का समर्थन नहीं किया, और कोरिया से समझौता करवाने की पूरी कोशिश की।

नोट

चीन से संबंध गहरे बने रहे, इसलिए नेहरू ने चीन और चाउ एन-लाई की बोडुंग सम्मेलन में बड़ी प्रशंसा की। लेकिन 1959 में तिब्बत में बड़ा विद्रोह हुआ और दलाई लामा अपने हजारों अनुयायियों के साथ तिब्बत से भाग निकले। उन्हें भारत में शरण अवश्य दी गई, लेकिन "निर्वासन-में-सरकार" बनाने की इजाजत नहीं दी गई और न ही राजनीतिक गतिविधियों की इज़ाजत दी गई। फिर भी चीन नाखुश था। इसके तुरंत बाद, अक्टूबर 1959 में चीनियों ने लद्दाख में कोंगरा दर्रे में भारतीय सुरक्षा दल पर गोलियां चलाईं, जिसमें पांच भारतीय पुलिस वाले मारे गए और एक दर्जन गिरफ्तार कर लिए गए। दोनों सरकारों के बीच चिट्ठियों का आदान-प्रदान हुआ, लेकिन कोई हल नहीं निकला। तब चाऊ एन-लाई को बीतचीत के लिए अप्रैल 1960 में दिल्ली बुलाया गया लेकिन कोई विशेष नतीजा नहीं निकला। इसलिए यह तय किया गया कि अफसरों को पहले बातें विस्तार से तय करने दी जाएं।

12.2 चीनी आक्रामकता अथवा चीनी हमला (Chinese Aggression or Chinese Attack)

8 सितंबर 1962 चीनी-फौजों ने थागला पहाड़ी पर हमला कर भारतीय फौजों को हरा दिया, लेकिन इसे एक छोटी सी घटना मानकर छोड़ दिया गया। नेहरू एक सम्मेलन के लिए लंदन चले गए, और देश लौटने के बाद फिर 12 अक्टूबर को कोलंबो रवाना हो गए। एक सप्ताह बाद चीनी फौज ने बड़े पैमाने पर हमला बोल दिया और पूर्वी सेक्टर नेफा जिसे बाद में अरुणाचल प्रदेश कहा जाने लगा, में भारतीय चौकियों पर कब्जा कर लिया। नेफा का भारतीय कमांडर बिना किसी प्रतिरोध के भाग निकला और चीनियों के प्रवेश के लिए रास्ता खुला छोड़ दिया। पश्चिमी मोर्चे पर 20 अक्टूबर को चीनियों ने गल्वान घाटी में तेरह सीमावर्ती चौकियों पर कब्जा कर लिया। चुशूल हवाई पट्टी पर खतरा बढ़ गया। सारे देश में गुस्से की लहर दौड़ पड़ी और चीनियों के इरादों पर प्रश्नचिह्न लग गया। सभी सोचने लगे कि चीनी मैदान में आकर आसाम पर कब्जा कर लेंगे और शायद दूसरे क्षेत्रों पर भी कब्जा कर लें। नेहरू ने राष्ट्रपति केनेडी को 9 नवंबर को दो पत्र लिखे। उनमें उन्होंने परिस्थिति को 'संकटग्रस्त' बताया और व्यापक सैनिक सहायता की मांग की। उन्होंने ब्रिटेन से भी सहायता मांगी। चौबीस घंटों बाद चीनियों ने वापस जाने की एकतरफा घोषणा की। चीनी राक्षस जितने अप्रत्याशित तरीके से उदित हुआ था, उसी प्रकार लुप्त भी हो गया, और अपने पीछे टूटे-दिल वाला दोस्त और गडमड और दिशाहीन मन:स्थिति वाली जनता छोड़ गया।

टास्क 'नेफा' से आप क्या समझते हैं?

घटनाओं के नतीजे: अपने स्वाभिमान को लगे इस धक्के से उबरने के लिए भारत को काफी समय लग गया। शायद बांग्लादेश युद्ध में पाकिस्तान पर जीत ने ही, जिसमें चीन और अमरीका पाकिस्तान का समर्थन कर रहे थे, भारत को अपना आत्मसम्मान वापस हासिल करने में मदद की। नेहरू इस चोट से कभी पूरी तरह उबर नहीं सके। शायद मई 1964 में उनकी मृत्यु के पीछे यह भी एक कारण था। सबसे बुरी बात यह थी कि अपने महान कार्य-जीवन के चरम-शिखर पर उन्हें राजनीतिक विरोधियों से हमलों का सामना करना पड़ा जो अन्यथा इसकी हिम्मत भी नहीं कर सकते थे। उन्हें कृष्ण मेनन का बलिदान देना पड़ा जो उनके लंबे काल तक सहयोगी रहे थे और बाद में रक्षा मंत्री भी। जिस गुटनिरपेक्षता को उन्होंने इतनी सावधानी से सहेजकर रखा था, उस पर अपने मित्र द्वारा ही कड़े प्रच्छद्मरों से खतरा पैदा हो गया था। चिंता की बात यह थी कि इस पर एक समाजवादी देश ने हमला किया था, न कि पूंजीवादी देश ने। दक्षिणपंथी ताकतों एवं पश्चिम-समर्थक तत्वों ने खुलकर नेहरू की आलोचना की। इस मौके का फायदा उठाकर उन्होंने भूमि हदबंदी कानून संबंधी एक संवैधानिक संशोधन रोक दिया। तीसरी योजना पर बुरा प्रभाव पड़ा और संसाधनों को प्रतिरक्षा की ओर मोड़ दिया गया। परिणामस्वरूप कांग्रेस तीन संसदीय उपचुनावों में लगातार हार गई।

नोट

क्या आप जानते हैं अगस्त 1963 में नेहरू को अपने जीवन में पहली बार अविश्वास प्रस्ताव का सामना करना पड़ा।

दूसरे देशों के साथ भारत के संबंधों पर भी चीनी हमले का असर पड़ा। विदेश नीति पर 'चीनी कारक' की छाया पड़ गई। इस संकट में अमरीका ओर इंगलैंड ने सकारात्मक रुख अपनाया था। इससे उन्हें आसानी से दूर नहीं रखा जा सकता था। लेकिन अपने चरित्र के अनुरूप उन्होंने पाकिस्तान के कहन पर भारत की कमजोरी का फायदा उठाकर उससे कश्मीर के प्रश्न पर आत्मसमर्पण करने पर जोर दिया। इस संदर्भ में उन्होंने सैनिक सहायता का प्रयोग करने का संकेत भी दिया।

लेकिन नेहरू किसी प्रकार इस दबाव का सामना करने में सफल रहे। यह देश गुटनिरपेक्षता का त्याग करने के बदले भारी सहायता देने को भी तैयार नहीं थे। इस संबंध में 6 करोड़ से 12 करोड़ की 'विशाल' राशि की बात की जा रही थी। लेकिन अमरीकी प्रभाव में काफी वृद्धि हुई, विशेषकर सैनिक मामलों में। चीनी खतरे के नाम पर अमरीकी खुफिया एजेंसियों ने संपर्क स्थापित किए। उन्होंने हिमालय में चीनी सैनिक गतिविधियों पर नजर रखने के लिए एक न्यूक्लियर यंत्र भी स्थापित किया। नेहरू ने चतुराई से इसका जवाब देने की कोशिश की। उन्होंने सोवियतों के साथ सैनिक समझौते करना जारी रखा। अमरीका के मुकाबले सोवियत लंबी अवधि की सैनिक सहायता देने को अधिक तैयार थे। अमरीका ने छोटी राशियों के लिए असंभव शर्तें पेश कीं। पाकिस्तान चीन की ओर झुकने लगा, और यह सोचकर कि भारत सचमुच कमजोर हो गया है, उसने 1965 का युद्ध छेड़ दिया।

हमले के दौरान और बाद में प्रेम तथा विद्धानों के लेखों में चीनी घटनाक्रम में पराजय के लिए नेहरू को जिम्मेदार ठहराने की कोशिश की गई है। कुछ लोग उन्हें निरा मूर्ख मानते थे जो भावनाओं से अंधे हो गए थे, जो कम्युनिस्ट धोखाधड़ी से भारतीय हितों की रक्षा नहीं कर सके। एक अन्य विचार नेविले मैसवेल द्वारा इंडियन चाइना वार में पेश किया गया। इससे नेहरू को हठी राष्ट्रवादी के रूप में पेश किया गया। इसके अनुसार उन पर अंधराष्ट्रवादी दबाव पड़ा। फालस्वरूप उन्होंने चीनियों द्वारा उचित शर्तों सीमा-विवाद हल करने वाली शर्तों–को मानने से इनकार कर दिया। इसके विपरीत उन्होंने 1959 से एक ऐसी 'आक्रामक नीति' अपनाई जिसने चीनियों को अपनी आत्म-रक्षा में हमला करने पर मजबूर कर दिया। ये दोनों ही विचार चीन के संबंध में नेहरू की समझ और उनकी नीति की सूक्ष्मता के प्रति न्याय नहीं करते।

चीनी इतिहास, क्रांतियों के इतिहास, और रुसी क्रांति की नेहरू की समझ ने उनमें यह विश्वास पैदा कर दिया कि चीन को अलग-अलग करके एक ओर खड़ा नहीं कर दिया जाना चाहिए, बल्कि उसे राष्ट्रों के समुदाय मे वापस लाकर उसकी क्रांति को मानवतावादी बनाया जाना चाहिए। उन्होंने कहा, "हम इतिहास के अनुभवों से जानते हैं कि एक मजबूत चीन आमतौर पर विस्तारवादी चीन रहा है।" लेकिन वे चीन के साथ कोई टकराव पैदा नहीं करना चाहते थे क्योंकि यह दोनों देशों के लिए उसी प्रकार विनपाशकारी होता जैसा कि फ्रांसीसी-जर्मन टकराव साबित हुआ था। 1962 के हमले से पहले उन्होंने 7 दिसंबर, 1961 को लोकसभा में कहा था–"एक देशी-रूप विशाल हाथी हमारी सीमा पर बैठा है, और इस वास्तविकता की हम उपेक्षा नहीं कर सकते।" उन्होंने आगे कहा कि चीनी क्रांति के तुरंत बाद ही वह "इस नतीजे पर पहुंच चुके थे कि हमारी सीमा को किसी न किसी रूप में खतरा पैदा होगा।" नेहरू ने 3 दिसंबर 1963 को राज्य सभा में विस्तृत बयान दिया। इसमें उन्होंने सेना पर बहुत अधिक खर्च न करने और अपनी ही ताकत पर रक्षा के लिए भरोसा करने के बारे में बयान दिया। "जो देश आज औद्योगिकृत नहीं है वह सैनिक दृष्टि से भी मजबूत नहीं होता।" "हमारे सामने मुख्य बात भारत को औद्योगिक तौर पर मजबूर करना है, न कि सतही तौर पर कोई पुरानी बंदूक या बेकार पड़े हवाई जहाज लेकर।" पाकिस्तान का पहले से ही शत्रुतापूर्ण रूख था। अब एक और पड़ोसी दुश्मन बनाना उचित नहीं था। दो मोर्चों पर युद्ध का मतलब था, विकास का अंत। इसलिए, टकराव अवश्यंभावी हो जाने पर भी, जहां तक हो सके, टाला जाना चाहिए। इसके लिए दोस्ताना रुख

नोट

अपनाना चाहिए ओर दूसरों से भी ऐसा ही करने का अनुरोध करना चाहिए। उदाहरण वे लिए चीन को संयुक्त राष्ट्र संघ में शामिल करवाने का प्रयत्न करना चाहिए।"

नेहरू समझ चुके थे कि चीन द्वारा तिब्बत पर कब्जे का अर्थ था लगातार झगड़ों वाली सीमा का होना। लेकिन वे यह भी देख रहे थे कि चीन अभी विस्तारवाद के बारे में नहीं सोच सकता है क्योंकि उसे अभी कई बड़ी समस्याएँ हल करनी थीं। तिब्बत में विद्रोह और दलाई लामा के आगमन तथा सीमा पर झड़पों के बाद चीन को धमकी देने से क्या फायदा?

चीनियों को बांधे रखने के लिए उन्होंने अवश्य ही सोवियतों के अधिक नजदीक जाने के राजनयिक कदम उठाए। उन्होंने कभी यह नहीं माना कि कम्युनिस्ट चीन और कम्युनिस्ट सोवियत संघ एक साथ होंगे, और ये दोनों भारतीय कम्युनिस्टों के साथ मिलकर भारतीय राज्य के लिए खतरा पैदा करेंगे। उन्हें यह विश्वास नहीं था कि चीन सोवियतों के हाथों का कठपुतला था, और न ही वे यह समझते थे कि सोवियत संघ भारतीय मित्रों के खिलाफ चीनी कम्युनिस्ट भाइयों की मदद करेगा, जैसा कि भारत कई लोग समझते थे।

हमले की विशालता देखकर नेहरू को बड़ा धक्का लगा। उन्होंने सोचा कि यहां-वहां कुछ झगड़े-टकराव होंगे लेकिन इतने बड़े पैमाने पर हमला नहीं होगा। हमले का स्वरूप समझने में उन्होंने भारी गलती की न कि विदेश नीति में। एक और गलती घबराहट में अमरीका और ब्रिटेन से सहायता की अपील थी, जबकि अगले ही दिन चीन वापस लौट गए। प्रेस, विरोधी पार्टियों, और यहां तक कि खुद अपनी ही पार्टी के मेंबरों द्वारा नेहरू पर गैर-जिम्मेदाराना हमले के कारण ही यह जल्दीबाजी का कदम उठाया गया। युद्धस्थल में पराज्य की भावना इस बात से और भी गहरी हो गई कि चीनियों के बजाए स्वयं नेहरू हमले का निशाना बने। यह बड़े दुख की बात थी कि देश ने बहादुरी से विरोधी का सामना करने और अपने निर्विवाद नेताओं में आस्था रखने में असमर्थता का प्रदर्शन किया। उल्टे वह निराशा और आपसी आरोप-प्रत्यारोपण में फंस गया। नेहरू को यह श्रेय दिया जाना चाहिए कि उन्होंने परिस्थितियों से उबरने और देश को रास्ते पर लाने का पूरा प्रयत्न किया।

आज अधिकतर टिप्पणीकार स्वीकार करते हैं कि 1962 में चीन के हाथों भारत की पराजय चीन के साथ दोस्ती में नेहरू की बचकाना आस्था और यूरोपियाई शांतिवाद में उनका विश्वास, तथा इनके फलस्वरूप भारत की प्रतिरक्षा कमजोरी के कारण नहीं हुई। 1949-50 तथा 1962 के बीच भारतीय सशस्त्र सेना की ताकत 2,80,000 से दुगुनी होकर 5,50,000 हो गई, और 1947 के भारतीय वायु सेना के 7 युद्ध दस्तों की संख्या 1962 में बढ़कर 19 हो गई। 1965 में पाकिस्तान के साथ इन्हीं साजो-सामान के साथ लड़ाई लड़ी गई थी लेकिन हार का सामना नहीं करना पड़ा था। चीन के साथ सीमा झड़पों के बारे में नेहरू 1959 से ही सचेत थे और इन संभावनाओं के बारे में उन्हें बताया भी गया था लेकिन न ही राजनीतिक और न ही सैनिक नेतृत्व ने चीनी हमले का विशेष स्वरूप पहचाना इसलिए वे चकित रह गए। सेना की कमान ने या तो सीमा पर झड़पों या आसाम के मैदानों में बड़े पैमाने के युद्ध के बारे में सोचा, लेकिन वे कभी भी सीमित घुसपैठ और तुरंत वापसी की कल्पना नहीं कर सके। चीफ ऑफ स्टाफ जनरल थिमैया का विचार था कि चीन के साथ व्यापक लड़ाई नहीं की जा सकती थी, क्योंकि उसे पूरा सोवियत समर्थन मिलता। लगता है, वे तथा अन्य वरिष्ठ अफसर सोवियत-चीन मतभेदों से अवगत नहीं थे। न ही वे हवाई सेना की भूमिका के बारे में कुछ सोच सके। वह भी "ऐसे समय जब भारतीय हवाई सेना अरुणाचल प्रदेश तथा तिब्बत पर बिना किसी चीनी विरोध के आकाश में छा जाती।" नेहरू ने बिना हवाई सेना से सलाह किए ही अमरीका से हवाई सुरक्षा की मांग की थी।

यह भी महसूस किया गया कि यह पराजय उच्चतर रक्षा कमान एवं प्रबंधन की उचित प्रणाली तथा प्रतिरक्षा योजना की कमी के कारण हुई। साथ ही, नागारिक-सैनिक संबंध भी त्रुटिपूर्ण थे। सैनिक कमान नागरिक नीति-निर्धारण का हिस्सा नहीं बनाए गए। वे युद्ध स्थलों के कमांडर बने रहे जो फौरी भविष्य की योजनाएं तैयार करते, न कि दूरगामी भविष्य की प्रतिरक्षा संबंधी। 1959 के बाद चीन के संबंध में नेहरू की चेतावनियों के बावजूद हिमालय क्षेत्र में युद्ध की तैयारियों पर उचित स्तर पर विचार नहीं किया गया। यह पराजय सामान-सप्लाई, खुफिया कार्यों, खुफिया-संदेशों के विश्लेषण, सशस्त्र फौजों के विभिन्न अंगों के बीच समन्वयन, इत्यादि से जुड़ी हुई थी। सेना के कमांडर अपना संतुलन खो बैठे और बिना हमले का सामना किए पीछे हट गए, हालांकि विश्वास किया जाता है कि वे कम से

नोट

कम सात और दिनों तक तो टिके रह ही सकते थे। इन कमांडर का पिछला रिकार्ड काफी अच्छा रहा है और उन्हें उसके लिए तमगा भी भेंट किया गया था। चीनी फौजें जितनी जल्दी आईं, उतनी ही तेजी से वापस भी लौट गईं। उनका उद्देश्य था गहरी लेकिन सीमित घुसपैठ के जरिए भारत का अनादर करना। भारतीय पक्ष इस बात का अंदाज न लगा सका कि चीनी वापस चले जाएंगे, इसलिए उन्होंने आसाम में बड़े पैमाने पर युद्ध की तैयारियां शुरू कर दीं।

अधिकतर विशेषज्ञ भारत के हमलावर इरादों के मैक्सवेल का सिद्धांत गंभीरता से नहीं लेते क्योंकि यह स्पष्ट है कि इरादे की बात तो छोड़ दी दीजिए, भारत को युद्ध छिड़ने का अंदाजा तक नहीं था। भारत के प्रधानमंत्री और रक्षामंत्री देश से बाहर थे, सेना कमान के प्रमुख छुट्टी पर, एक वरिष्ठ कमांडर समुद्री-यात्रा पर, और वैसे भी युद्ध छेड़ने से भारत को क्या मिलने वाला था, इसके विपरीत यह दर्शाया जा सकता है कि चीनियों के युद्ध भड़काने के अपने उद्देश्य थे। इनके बारे में मैक्सवेल कुछ नहीं कहते। चीनी अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए भारत में घुस आए, न कि भारतीय भड़कावे से। और ये कारक नेहरू के निमंत्रण से बाहर थे।

तिब्बत को ही ले लें। हर शक्तिशाली चीनी सरकार ने तिब्बत को चीन में मिलाने की काशिश की। लेकिन तिब्बत आजादी चाहता था। फिर भी नेहरू ने 1954 के पंचशील समझौते में तिब्बत-संबंधी चीनी स्थिति को बिना सीमा पर गारंटी के स्वीकार कर लिया, शायद यह एक गलती थी। 1959 में ही चाउ एन लाई ने लद्दाख ओर नेफा में भूमि पर दावा किया था। यह खांपा विद्रोह और दलाई लामा के कई शरणार्थियों सहित भारत पलायन के बाद हुआ था। चीन ने भारत पर दलाई लामा को भड़काने का आरोप लगाया और उन्हें शरण देने पर आपत्ति जताई। कोई भी भारतीय सरकार शरण देने से इनकार नहीं कर सकती थी। भारत ने विद्रोह नहीं भड़काया था। नेहरू ने तिब्बत को निर्वासित सरकार चलाने की इजाजत नहीं दी और न ही किन्हीं राजनीतिक गतिविधियों की। लेकिन वे तिब्बत विद्रोह तो नहीं रोक सकते थे।

इतना ही नहीं, नेहरू ने चीन के पक्ष में अमरीकी नीति को प्रभावित करने का प्रयत्न किया, लेकिन वह सफल न हो सके। अमरीका ने चीन को स्वीकार करने से इनकार कर दिया। उसने फारमोसा (ताइवान) को ही असली चीन के रूप में मान्यता दी। फलस्वरूप कम्युनिष्ट चीन को सुरक्षा परिषद में जगह नीं मिली। अमरीका ने कोरिया और इंडो-चाइना में चीन को परेशानी में डालने की कोशिश की। अमरीका ने लगातार दबाव डालकर चीन को एक आक्रामक मुद्रा अपनाने पर मजबूर कर दिया। वास्तव में, चीन को स्वयं को असुरक्षित करने के बारे में और इस संबंध में पूर्वग्रहों से ग्रसित करने के बारे में अमरीका ने कोई कम भूमिका अदा नहीं की थी। इस प्रकार उसने चीन में चरम वामपंथी तत्वों को ऊपर आने में मदद की।

नेहरू सोवियत-चीन मतभेदों का कारण भी नहीं थे। इन मतभेदों ने चीन की असुरक्षा की भावना बढ़ाने में अपनी भूमिका अदा की और उसे दुस्साहसिकातावादी दिशा में धकेल दिया। ये मतभेद कुछ समय स विकसित हो रहे थे, और 1959 में खुलकर सामने आ गए। भारत और चीन की सीमा पर झड़पों में सोवियत संघ ने निष्पक्ष नीति अपनाई। उधर अप्रैल-मई 1962 में सिंक्यांग में चीनी-सोवियत सीमा पर कई घटनाएं घटीं। सोवियतों ने आरोप लगाया कि चीनियों ने कम से कम 5000 बार सीमा का उल्लंघन किया। दूसरी ओर चीनियों ने सोवियतो पर दसियों हजार बार चीनी नागरिकों को अपनी ओर आने का लालच देने का आरोप लगाया। 1959 में सोवियतों ने चीन के साथ न्यूक्लियर विकास संबंधी संधि समाप्त कर दी। अगस्त 1962 के प्रथ सप्ताह में सोवियतों ने भारत के साथ विग विमान के उत्पादन संबंधी समझौता किया। ऐसा कोई समझौता उन्होंने चीन के साथ नहीं किया। अगस्त के अंतिम सप्ताह में सोवियतों ने चीनियों को बताया कि वे आंशिक परमाणु निरीक्षण संधि पर हस्ताक्षर की बातचीत आग बढ़ाने जा रहे हैं। चीनियों ने इसे उनके अपने न्यूक्लियर हथियारों के विकास को रोकने का प्रयत्न माना। यह चीनियों के लिए परेशानी की बात थी क्योंकि उन्होंने समझा कि अब सोवियत संघ अपनी ताकत का इस्तेमाल चीनियों को रोकने के लिए करेगा। चीन तथा विदेश नीति विशेषज्ञ वी.पी. दत्त के शब्दों में:

> चीन अपने राष्ट्रीय हितों के बारे में अपनी अलग नई सैद्धांतिक समझ पर पहुंच चुका था। अमरीका के साथ लंबे अर्से से बनी रही समस्याओं के शांतिपूर्ण हल में उसे विश्वास नहीं रह गया था। यह समस्याएं थीं ताइवान की वापसी... अब वह इस नतीजे पर पहुंच चुका था कि विश्व शक्ति सुद्धरतुलन समाजवादी खेम के पक्ष में बदल रहा था, क्योंकि सोवियत संघ रॉकेट-तकनीक और आई.सी.बी.एम. (अंतर्महादेशीय

नोट

मिसाइलों) में काफी विकास कर चुका था। अब चीन को रियायतें देने के लिए... अमरीका को मजबूर करने के उद्देश्य से समझौताविहीन जुझारू नीति अपनाने की जरूरत पैदा हो चुकी थी।

चीन इस बात से भी चिंतित था कि अफ्रो-एशियाई देश सोवियत संघ एवं अमरीका, दोनों ही से सहायता प्राप्त करने की भारत की नीति अपना रहे थे, न कि चीन क समान दोनों से दूरी बनाए रखने की। भारत का महत्त्व कम करके वे अपनी नीति की आशा रखते थे।

इसलिए, यह असंभव नहीं है कि भारत पर चीन का हमला भारत और चीन के आपसी संबंधों से उतना जुड़ा हुआ नहीं था, जितना कि अलगाव, व्यक्त होने की भावना और निराशा से। भारत पर हमला करके शायद व नेहरू को गिराना चाहते थे या कम से कम भारत को पश्चिमी खेम में धकेलना चाहते थे। इससे सोवियत संघ को भारत की गुटनिरपेक्षता के बारे में कोई गलतफहमी नहीं रह जाती। तब वह शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व की नीति त्याग देता, जो चीनियों की समझ के अनुसार, उन्हें अलग-थलग कर दे रहा था। वे इन दोनों ही मामलों में असफल रहे। वास्तव में, वी.पी. दत्त कहते हैं कि बाद में देंग श्याओपिंग ने एक भारतीय प्रतिनिध मंडल को बताया (जिसके दत्त सदस्य थे) कि यह खुश्चेव थे जो 1962 के युद्ध के लिए जिम्मेदार थे।

इस प्रकार, 1962 में चीन द्वारा किया गया हमला उसकी अपनी जरूरतों का नतीजा था, न कि नेहरू या भारत के किन्हीं कदमों का। अमरीका की मान्यता प्राप्त न कर सकने, संयुक्त राष्ट्र संघ में सीट न मिल पाने, अफ्रो-एशियाई नेतृत्व हासिल न कर सकने, और न्यूक्लियर प्रश्न या भारत के साथ सीमा-विवाद पर सोवियत समर्थन न पा सकने के कारण चीनी राजनीति में वामपंथ मोड़ आया। भारत को अपमानित करके चीन यह दर्शाना चाहता था कि शांति और गुटनिरपेक्षता की भारत की नीति अव्यावहारिक थी। साथ ही शांतिपूर्ण सहअस्तित्व की सोवियत नति भी सही नहीं थी। दबाव में आकर भारत गुटनिरक्षेता की नीति छोड़ देगा और फिर एशिया और अफ्रीका के अन्य देश चीन का नेतृत्व स्वीकार कर लेंगे। इसलिए, युद्ध-भूमि में भारत के अपमान का कारण भारत की विदेश नीति की विफलता नहीं है। यह "मात्र इतिहास की अप्रत्याशित आकस्मिक घटनाओं में एक है।"

यदि चीन की ओर भारत की नीति विफल रही तो किस देश की सफल रही? अमरीका ने तो 1971 में पूरा ही पलटा खाया, और खासकर सोवियत संघ ने भी 1959 के बाद।

भारत-चीन युद्ध में पराजय किसी भी रूप में नेहरू की मूल विदेश नीति पर प्रश्न-चिह्न नहीं लगाती। उदाहरण के लिए, गुटनिरपेक्षता ने गारंटी की कि भारत-चीन युद्ध में भी अमरीकी और सोवियत गुट एक-दूसरे के खिलाफ नहीं खड़े थे, और भारत को दोनों ही से कमोवेश सहानुभूति मिली। शीतयुद्ध के दिनों में यह बड़ी असाधारण बात थी। इस प्रकार का अंत होने के बावजुद चीन के साथ दोस्ती की नीति पर चलने में नेहरू सही थे। पाकिस्तान के साथ संबंध विशेष कटुतापूर्ण थे। यह कटूता कश्मीर के प्रश्न पर आजादी के तुरंत बाद उभर आई। 1954 में अरमीका द्वारा पाकिस्तान को सैनिक सहायता देने के निर्णय के बाद यह गंभीर खतरे में बदल गइ। इसलिए एक और शत्रुतापूर्ण पड़ोसी बनाने और दो दिशाओं से कुचले जाने से बचना भारत के लिए जरूरी था।

नोट्स भारत-चीन युद्ध में पराजय किसी भी रूप में नेहरू की मूल विदेश नीति पर प्रश्न-चिह्न नहीं लगाती। उदाहरण के लिए, गुटनिरपेक्षता ने गारंटी की कि भारत-चीन युद्ध में भी अमरीकी और सोवियत गुट एक-दूसरे के खिलाफ नहीं खड़े थे, और भारत को दोनों ही से कमोवेश सहानुभूति मिली। शीतयुद्ध के दिनों में यह बड़ी असाधारण बात थी। इस प्रकार का अंत होने के बावजूद चीन के साथ दोस्ती की नीति पर चलने में नेहरू सही थे।

भारत-चीन युद्ध के बाद भी संयुक्त राष्ट्र संघ में चीन को सीट देने की भारत द्वारा वकालत नेहरू ने नहीं छोड़ी। उनका यह विश्वास सही ही था कि पश्चिमी देशों द्वारा चीन को अलग-थलग किए जाने से चीन और भी

नोट

गैर-जिम्मेदार बन जाएगा। इसके अलावा, जैसा कि नेहरू यह कहना पसंद करते थे, प्रतिरक्षा मात्र हथियारों का प्रश्न नहीं था। यह आर्थिक विकास और आत्मनिर्भरता का भी सवाल था। अन्यथा, प्रतिरक्षा सिर्फ सतही साबित होती। भारत के समान एक नव-स्वतंत्र गरीब देश अपने सीमित स्रोत एक विशाल सैनिक मशीन खड़ी करने में बर्बाद नहीं कर सकता था। भारत को आर्थिक रूप से मजबूत करके ही, नेहरू अपने उत्तराधिकारियों को प्रभावशाली सैनिक जीतें हासिल करने में सक्षम कर पाए।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks)–

1. चीनी जनगणतंत्र को मान्यता देने वाला पहला देश ..... था।
2. चीन ने तिब्बत पर ..... में कब्जा कर लिया।
3. दलाई लामा ने ..... में तिब्बत में विद्रोह होने के कारण भारत में शरण ली।
4. अक्टूबर 1959 में चीनियों ने लद्दाख में ..... में भारतीय सुरक्षा दल के 5 सिपाहियों को मार दिया।
5. पश्चिमी मोर्चे पर 20 अक्टूबर 1962 को चीनियों ने गल्वान घाटी में ..... सीमावर्ती चौकियों पर कब्जा कर लिया।

12.3 सारांश (Summary)

- चीनी जन गणतंत्र को 1 जनवरी 1950 को मान्यता देने वाला भारत प्रथम देश था।
- 1954 में भारत और चीन ने एक संधि पर हस्ताक्षर किए, जिसके तहत भारत ने तिब्बत पर चीन के अधिकार को स्वीकार किया।
- 1959 में तिब्बत में बड़ा विद्रोह हुआ और दलाई लामा अपने हजारों अनुयायियों के साथ तिब्बत से भाग निकले। उन्हें भारत में शरण अवश्य दी गई, लेकिन "निर्वासन-में-सरकार" बनाने की इजाजत नहीं दी गई और न ही राजनीतिक गतिविधियों की इज़ाजत दी गई।
- 8 सितंबर 1962 चीनी-फौजों ने थागला पहाड़ी पर हमला कर भारतीय फौजों को हरा दिया, लेकिन इसे एक छोटी सी घटना मानकर छोड़ दिया गया। नेहरू एक सम्मेलन के लिए लंदन चले गए, और देश लौटने के बाद फिर 12 अक्टूबर को कोलंबो रवाना हो गए। एक सप्ताह बाद चीनी फौज ने बड़े पैमाने पर हमला बोल दिया और पूर्वी सेक्टर नेफा जिसे बाद में अरुणाचल प्रदेश कहा जाने लगा, में भारतीय चौकियों पर कब्जा कर लिया।
- नेहरू ने राष्ट्रपति केनेडी को 9 नवंबर को दो पत्र लिखे। उनमें उन्होंने परिस्थिति को 'संकटग्रस्त' बताया और व्यापक सैनिक सहायता की मांग की। उन्होंने ब्रिटेन से भी सहायता मांगी। चौबीस घंटों बाद चीनियों ने वापस जाने की एकतरफा घोषणा की।
- अपने स्वाभिमान को लगे इस धक्के से उबरने के लिए भारत को काफी समय लग गया। शायद बांग्लादेश युद्ध में पाकिस्तान पर जीत ने ही, जिसमें चीन और अमरीका पाकिस्तान का समर्थन कर रहे थे, भारत को अपना आत्मसम्मान वापस हासिल करने में मदद की। नेहरू इस चोट से कभी पूरी तरह उबर नहीं सके। शायद मई 1964 में उनकी मृत्यु के पीछे यह भी एक कारण था।
- हमले की विशालता देखकर नेहरू को बड़ा धक्का लगा। उन्होंने सोचा कि यहां-वहां कुछ झगड़े-टकराव होंगे लेकिन इतने बड़े पैमाने पर हमला नहीं होगा। हमले का स्वरूप समझने में उन्होंने भारी गलती की न कि विदेश नीति में। एक और गलती घबराहट में अमरीका और ब्रिटेन से सहायता की अपील थी, जबकि अगले ही दिन चीन वापस लौट गया।

नोट

12.4 शब्दकोश (Keywords)

- शीतयुद्ध–वास्तविक युद्ध न होकर वैचारिक युद्ध होता है।
- गुटनिरपेक्षता–किसी भी गुट या दल अथवा संगठन से सम्बद्ध न होना, परन्तु उनकी गतिविधियों पर अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत करना।

12.5 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. भारत और चीन के बीच सीमा विवाद का विवेचन कीजिए।
2. चीन द्वारा 1962 में भारत के खिलाफ आक्रामकता का रुख अपनाने का क्या कारण था? स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer: Self Assessment)

1. भारत
2. 1950
3. 1959
4. कोंगका दर्रे
5. 13

12.6 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. *आजादी के बाद का भारत*– विपिन चन्द्र, मृदुला मुखर्जी, आदित्य मुखर्जी, हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय
2. *स्वतंत्रता संग्राम*– विपिन चन्द्र, हिन्दी माध्यम कार्यान्वय, निदेशालय दिल्ली विश्वविद्यालय
3. *स्वतंत्रता का इतिहास*– बी.एल. ग्रोवर एवं यशपाल, एसख चन्द एण्ड कम्पनी लि., दिल्ली

नोट

इकाई–13: मानचित्र–*I* (Maps)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

13.1 1857 के विद्रोह के महत्त्वपूर्ण केन्द्र (Important Centres of the Revolt 1857)

13.2 आजादी के पूर्व का भारत (India Before Independence)

13.3 सारांश (Summary)

13.4 शब्दकोश (Keywords)

13.5 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

13.6 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- मानचित्र के माध्यम से 1857 के विद्रोह, आजादी के पहले की भारतीय भौगोलिक-राजनैतिक स्थिति को समझने एवं विश्लेषण करने में;

प्रस्तावना (Introduction)

गवर्नर-जनरल लॉर्ड कैनिंग को भारत में आते ही एक ऐसी परिस्थिति का सामना करना पड़ा, जब सम्पूर्ण भारतवासी अंग्रेजी राज्य से असन्तुष्ट होकर उसका मूलच्छेदन करने को तैयार थे और जब 10 मई 1857 को मेरठ से स्वातंत्र्य-संग्राम का श्रीगणेश हुआ तो अंग्रेजों ने इसे 'सैनिक-विद्रोह' का नाम देकर, अपनी सैनिक शक्ति से बर्बरता व क्रूरता को पराकाष्ठा तक पहुँचा दिया। इतिहास इस बात का प्रमाण है कि हर घटना के अपने अनेक कारण होते हैं। इसी प्रकार भारत की इस क्रान्ति के भी अनेक कारण थे। किन्तु सत्य यह है कि इससे पहले, अंग्रेजों को भारत से निकालने के प्रयत्न व्यक्ति विशेष किया करते थे, जैसे बंगाल में अलीवर्दी खाँ और मीर कासिम के प्रयत्न, दक्षिण में हैदर अली और टीपू सुल्तान-फिर मराठा-संघ ने प्रयत्न किया। नाना फड़नवीस, सिन्धिया, होल्कर, पेशवा, गायकवाड़, भोंसले, सब चाहते थे कि अंग्रेज किसी प्रकार भारत से निकाल दिये जाएँ। सिख सेना ने 1849 तक यही प्रयत्न किया, किन्तु सिखों का अंग्रेजों को लड़कर भारत से निकालने का अन्तिम, एकाकी प्रयत्न था। अभी तक भारतवासी यही सोचे बैठे थे कि शायद कोई तो अंग्रेजों को भारत से निकाल बाहर करेगा। उन्होंने बाह्य शक्तियों की तरफ भी देखा था। नैपोलियन, फारस, अफगानिस्तान और रूस की शक्तियों को पूर्व की तरफ अंग्रेजों के विरुद्ध प्रसार करते देखा था, किन्तु कोई भी हिन्दुकुश को पार न कर सका। अन्ततोगत्वा राष्ट्र ने स्वयम् अँगड़ाई ली, सचेष्ट हुआ और फिर एक बार अपने भाग्य को आजमाने के लिये अंग्रेजों से टकरा गया। प्रथम बार भारतीय इतिहास में यह जन-जागरण क्रान्ति थी, अपनी स्वतन्त्रता को स्थापित करने के लिये, अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध, विदेशी शासन को समाप्त करने के लिये। इसके अतिरिक्त निम्नलिखित कारण भी इस क्रान्ति को प्रज्ज्वलित करने में सहायक हुए।

नोट

13.1 1857 के विद्रोह के महत्त्वपूर्ण केन्द (The Great Revolt of 1857)

राजनैतिक कारण–(1) भारतवर्ष की सम्पूर्ण राजनैतिक सत्ता सैद्धान्तिक रूप से (De Jure) मुगल सम्राट के पास और वास्तविक रूप में (De Facto) मराठों के हाथ में थी। किंतु इलाहाबाद की सन्धि से मुगल-सम्राट और 1818 ई. में पेशवा की हार के बाद से मराठे भी शक्तिहीन कर दिये गये। इससे भारतवर्ष का शासक-वर्ग अंग्रेजों का शत्रु बन गया। (2) 1835 ई. से अंग्रेजों ने कम्पनी के सिक्कों से मुगल-सम्राट का नाम हटा दिया, इससे जन-साधारण

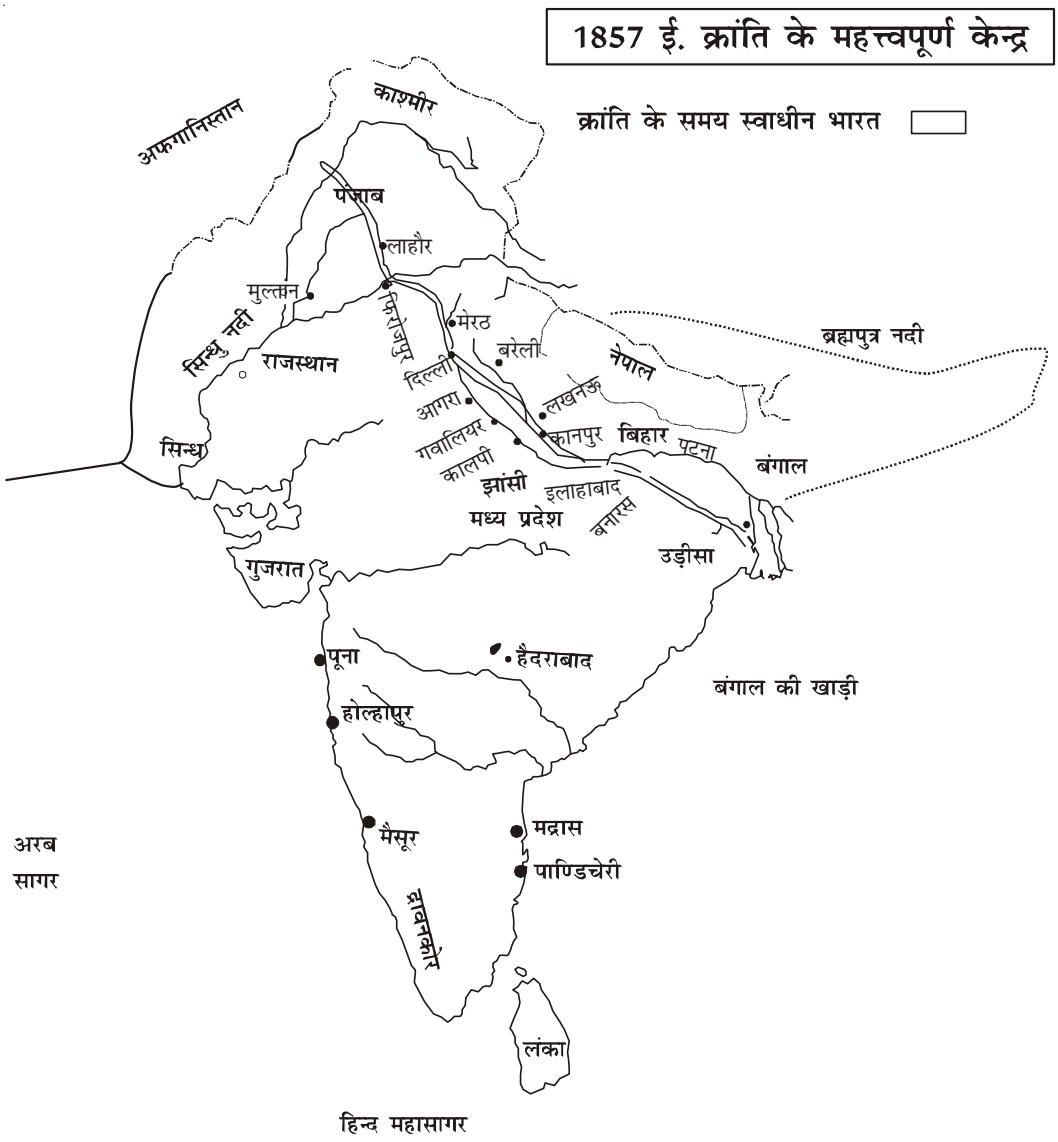

के हृदय को बड़ी चोट लगी। अब से कम्पनी के सिक्कों पर इंग्लैण्ड के राजा का नाम अंकित होने लगा। इसको भारतीयों ने गुलामी का चिह्न समझा। (3) प्रारम्भ से ही विजेता अंग्रेजों ने भारतीय नरेशों, बंगाल के नवाब, टीपू सुल्तान, हैदराबाद के नवाब, अवध के नवाब, पेशवा, भोंसले, सिन्धिया, गायकवाड़, होल्कर, झाँसी की रानी, कर्नाटक, तंजौर, रानी झिण्डन और पंजाब के अन्य नेताओं के साथ जिस अशिष्टता का और अनुचित व्यवहार किया, एक के बाद दूसरे को सिंहासनच्युत और अपमानित किया, तो इससे सम्पूर्ण भारतीय जनता प्रतिहिंसा की अग्नि में प्रज्ज्वलित हो उठी। डलहौजी ने भूतपूर्व पेशवा बाजीराव द्वितीय के दत्तक पुत्र नानासाहब की पेन्शन बन्द करके सारी

नोट

हिन्दू जाति को क्रोधित कर दिया, साथ ही डलहौजी की राज्य संयोजन और हड़पने के सिद्धान्त ने भी भारतीय निवासियों को क्षुब्ध कर दिया। बैंटिक ने बेलगाँव की जमींदारियों को जब्त कर लिया। 1852 ई. में बम्बई में इमाम कमीशन द्वारा करीब 20,000 जमींदारियाँ छीन ली गईं। अवध, झाँसी, नागपुर, कर्नाटक, तंजौर और बरार बल द्वारा ब्रिटिश राज्य में मिला लिये गये। इससे भारत के जमींदार और ताल्लुकेदार अँग्रेजों के विरुद्ध हो गये और फिर डलहौजी की इस घोषणा ने कि बहादुरशाह की मृत्यु के बाद मुगल शाहजादे कुतुब जाएँगे, और लाल किला अँग्रेजों के अधिकार में आ जायेगा, आग में घी का काम किया।

सामाजिक एवं धार्मिक कारण–अँग्रेजों ने भारतीयों के सामाजिक और धार्मिक जीवन में इतना अधिक हस्तक्षेप व परिवर्तन किया कि सम्पूर्ण भारत की हिन्दू और मुसलमान जनता विक्षुब्ध होकर विद्रोही हो गई। भारत में पश्चिमी सभ्यता का प्रचार प्रारम्भ हो चुका था। डच, पुर्तगाली और फिर अँग्रेज ईसाई-धर्म के प्रचार में संलग्न थे। 1935 ई. से अँग्रेजी भाषा शिक्षा का माध्यम बन चुकी थी। सती और बाल-विवाह प्रथाएँ कानूनन बन्द कर दी गई थीं। विधवा-विवाह का कानून बन चुका था। ईसाई होने वाले व्यक्तियों को अँग्रेजों की तरफ से प्रोत्साहन और सम्मान मिलता था। इस प्रकार अँग्रेजों के भारतवर्ष के पश्चिमीकरण करने, प्रचलित सामाजिक व धार्मिक प्रथाओं को बदलने और ईसाई धर्म को प्रोत्साहन देने के कार्यों ने भारत के धार्मिक-विचारों को बड़ी चोट पहुँचाई। समुद्र-यात्रा करने, रेलगाड़ियाँ चलने, डाक-तार व टेलीग्राफ विभागों के खुलने से भारतीय जनता ने समझा, यह सब हमारे धर्म को बिगाड़ने के लिये किया गया है।

सैनिक कारण–भारतीय समाज के व्यक्ति जो सीधे अँग्रेजी व्यवहार, शासन और नियमों से प्रभावित हुए, व सम्पर्क में आये, वे थे जो अँग्रेजी सेना में भर्ती थे। भारतीय सैनिक वर्ग का अँग्रेजों से सीधा सम्पर्क रहा और वह भी मालिक और भृत्य के रूप में। भारतीय संस्कृति, सभ्यता और आचार-विचारों की पृष्ठभूमि में लालित-पालित इस सैनिक वर्ग के ऊपर जब अँग्रेजों ने अपनी सुविधा और इच्छानुसार नियमों को थोप दिया, तो स्वत: ही भारतीय सेना बेचैन हो उठी। उसने शिकायत की, किन्तु जब अँग्रेजों ने उसे नहीं सुना तो वह विद्रोही बन गई। 1806 ई. में वैलोर में सेना ने विद्रोह किया, 1844 ई. में 34वीं रेजीमेण्ट ने, 1949 ई. में 22वीं रेजीमेण्ट ने, 1850 ई. में 66वीं रेजीमेण्ट ने, 1852 ई. में 38वीं रेजीमेण्ट ने, विद्रोह द्वारा विरोध प्रकट किया। सिख व अफगान युद्धों ने सेना पर बुरा प्रभाव डाला। बंगाल सेना में अधिकांश अवध और उत्तर-पश्चिमी प्रांतों के उच्च वर्ग के व्यक्ति थे। 1857 ई. के समय भारत में भारतीय सिपाही 2,33,000 थे, जबकि ब्रिटिश सिपाही 45,322 थे। इंग्लैण्ड इस समय क्रीमिया, फारस और चीन के युद्धों में संलग्न था। लॉर्ड कैनिंग ने जनरल-सरविस-इनलिस्टमेन्ट ऐक्ट निकाला, जिसके अनुसार भारतीय सेना को कहीं भी ब्रिटिश साम्राज्य में भेजा जा सकता था। सेना में इससे बड़ा असन्तोष हुआ। किन्तु क्रान्ति का तत्कालिक कारण इनफील्ड बन्दूकों के कारतूस चलाना था। इन कारतूसों को चलाने के लिये मुँह से उसमें लगी चर्बी काटनी पड़ती थी। हिन्दुओं ने इसे गाय और मुसलमानों ने इसे सुअर की चर्बी समझा। बस फौरन आग भड़क उठी। 29 मार्च को 34वीं रेजीमेण्ड के एडजटेन्ट को मंगल पाण्डेय ने मार डाला, 3 मई को लखनऊ में अवध इनफैन्ट्री ने विद्रोह कर दिया और 9 मई को मेरठ की छावनी में विद्रोह हो गया।

इसी बीच मुगल-सम्राट बहादुरशाह नानासाहब पेशवा और उनके वकील अजीमुल्ला, अवध की बेगम व सरदार, झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई, जगदीशपुर के जमींदार कुँवरसिंह, ताँत्या टोपे, मौलवी अहमदशाह, वजीर अली नकी खाँ विद्रोह का संगठन व नियंत्रण कर रहे थे।

1857 की क्रान्ति के महत्त्वपूर्ण केन्द्र (Important Centres of the Revolt 1857)–क्रान्ति के नेता बहादुरशाह, नानासाहब और उनके वकील अलीमुल्ला खाँ और तात्या टोपे ने क्रान्ति की तारीख 31 मई रखी थी; किन्तु पहले 29 मार्च को बैरकपुर की छावनी में मंगल पाण्डेय ने विद्रोह किया, उन्हें फाँसी हो गई। फिर 3 मई को लखनऊ की इनफैन्ट्री ने किया, किन्तु वह भी शीघ्र दबा दिया गया, और फिर 9 मई को मेरठ के बागी सिपाहियों को जब लम्बी-लम्बी सजायें सुनाई गईं तो 10 मई को मेरठ की सेना ने विद्रोह कर दिया। उन्होंने जेल तोड़ दी, बन्दी सिपाहियों को स्वतंत्र कर दिया और फिर मेरठ में हिंसात्मक कार्यवाही करके 11 मई को क्रांतिकारी दिल्ली चले गये। उन्होंने दिल्ली विजय की और बहादुरशाह को सम्राट् घोषित कर दिया। इस समय तक दिल्ली, लखनऊ,

नोट

कानपुर, इलाहाबाद, झाँसी, बरेली, नीमच, बनारस, बुन्देलखण्ड, ग्वालियर, आरा, और मध्य भारत विद्रोह के केन्द्र बन गये। कानपुर में नानासाहब ने अपने को पेशवा घोषित कर अँग्रेजों के विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया। लखनऊ में हेनरी लॉरेन्स की मृत्यु हो गई। हेवलॉक लखनऊ आया, फिर जेम्स आउट्रम आया; जनरल नील ने विद्रोहियों का दमन किया, किन्तु उसकी मृत्यु हो गई। सर कैम्पबेल, जो प्रधान सेनापति था, ने लखनऊ पुनः जीता। जनरल एड-विलसन, निकोलसन, नेविल चेम्बरलेन ने फिर दिल्ली जीती; बहादुरशाह बन्दी बनाकर रंगून भेज दिया गया। लेफ्टिनेन्ट हडसन ने मुगल शाहजादों का वध कर डाला। कैम्पबेल ने तात्या टोपे और विद्रोहियों को कालपी में हराया। सर ह्यूरोज ने झाँसी की रानी को हराया। सर ह्यूरोज ने फिर कालमी और ग्वालियर भी जीते। झाँसी की रानी लड़ते-लड़ते मारी गईं। तात्या टोपे को पकड़कर फाँसी पर लटका दिया गया। नानासाहब भाग कर नेपाल चले गये।

इस प्रकार अँग्रेजों ने 'स्वतंत्रता के दीवानों' का पूर्ण दमन कर भारत को फिर से अपने शिकंजे में जकड़ लिया।

परिणाम—क्रान्ति के पश्चात् इंग्लैण्ड पार्लियामेण्ट का कानून पास किया, जिसके द्वारा (1) कम्पनी का भारत में शासन समाप्त कर दिया गया। (2) भविष्य में शासन-प्रबन्ध महारानी विक्टोरिया के नाम से इंगलैण्ड की पार्लियामेण्ट के हाथ में चला गया। (3) भारतवर्ष के लिए इंग्लैण्ड में एक सेक्रेटरी ऑफ स्टेट की नियुक्ति हुई। (4) 15 सदस्यों की एक कौन्सिल नियुक्त की गई। (5) भारतवर्ष की सम्पूर्ण जल, थल सेना पर इंग्लैण्ड का अधिकार घोषित कर दिया गया। (6) नवम्बर 1858 ई. में इलाहबाद के दरबार में लॉर्ड कैनिंग ने महारानी विक्टोरिया की घोषणा सुनाई, जिसमें भारतवासियों को उनके धर्म, प्रथा और विश्वासों में हस्तक्षेप न करने का आश्वासन दिया गया। गोद लेने का अधिकार दिया गया। समस्त सन्धियों का पालन करने व भविष्य में साम्राज्य न बढ़ाने का भी वचन दिया गया।

13.2 आजादी के पूर्व का भारत (India Before Independence)

1857 ई. की महान् राष्ट्रीय क्रांति के बाद भारत में राष्ट्रीयता की भावना काफी तीव्र हो गई थी। भारतवासी आपसी भेदभाव भुलाकर एकजुट हो गये और उन्होंने अँग्रेजों से संघर्ष करके देश को स्वाधीन करने का दृढ़ निश्चय कर लिया था। भारत में राष्ट्रीय जागरण और स्वतंत्रता आन्दोलन तीव्र से तीव्रतर होता गया। प्रथम विश्व-युद्ध में भारत ने स्वराज्य की मांग की, किन्तु अँग्रेजों की दमन नीति से भारत को कुछ प्राप्त नहीं हुआ। द्वितीय विश्व-युद्ध के दौरान, भारत में राष्ट्रीय आन्दोलन देश के कोने-कोने में फैल गया। भारत में अँग्रेजों के खिलाफ 'भारत-छोड़ो' का नारा बुलन्द हो गया। द्वितीय विश्व-युद्ध में अँग्रेजों की स्थिति अत्यन्त शोचनीय हो गई। उन्होंने समझ लिया कि भारत को अधिक समय तक पराधीन रखना असम्भव सा था।

भारत के जनजीवन में उस समय तक चारों ओर असन्तोष व्याप्त हो गया था। भारत में धार्मिक पुनर्जागरण की लहर आ गई थी। पाश्चात्य शिक्षा के कारण भारतवासी स्वाधीनता और स्वतंत्रता का महत्त्व समझ गये थे। समाचार पत्रों व तत्कालीन साहित्य ने राष्ट्रीयता की भावनाओं को और प्रज्ज्वलित किया। अँग्रेजों की आर्थिक शोषण की नीति के विरुद्ध भारतीय एकजुट होकर अँग्रेजों के शत्रु बन गये। यातायात के साधनों और आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय विचारों ने भारत के मानसिक स्तर को विद्रोही बना दिया। अँग्रेजों के खिलाफ हिंसा जागृत हो गई और एक प्रकार से भारत में अँग्रेजों के विरुद्ध युद्ध की स्थिति आ गई। गांधीजी के नेतृत्व में भारत का राष्ट्रीय आन्दोलन चलता रहा और वह इतना तीव्र हो गया कि अन्त में अँग्रेजों ने भारत छोड़ने में ही अपनी कुशल समझी।

नोट

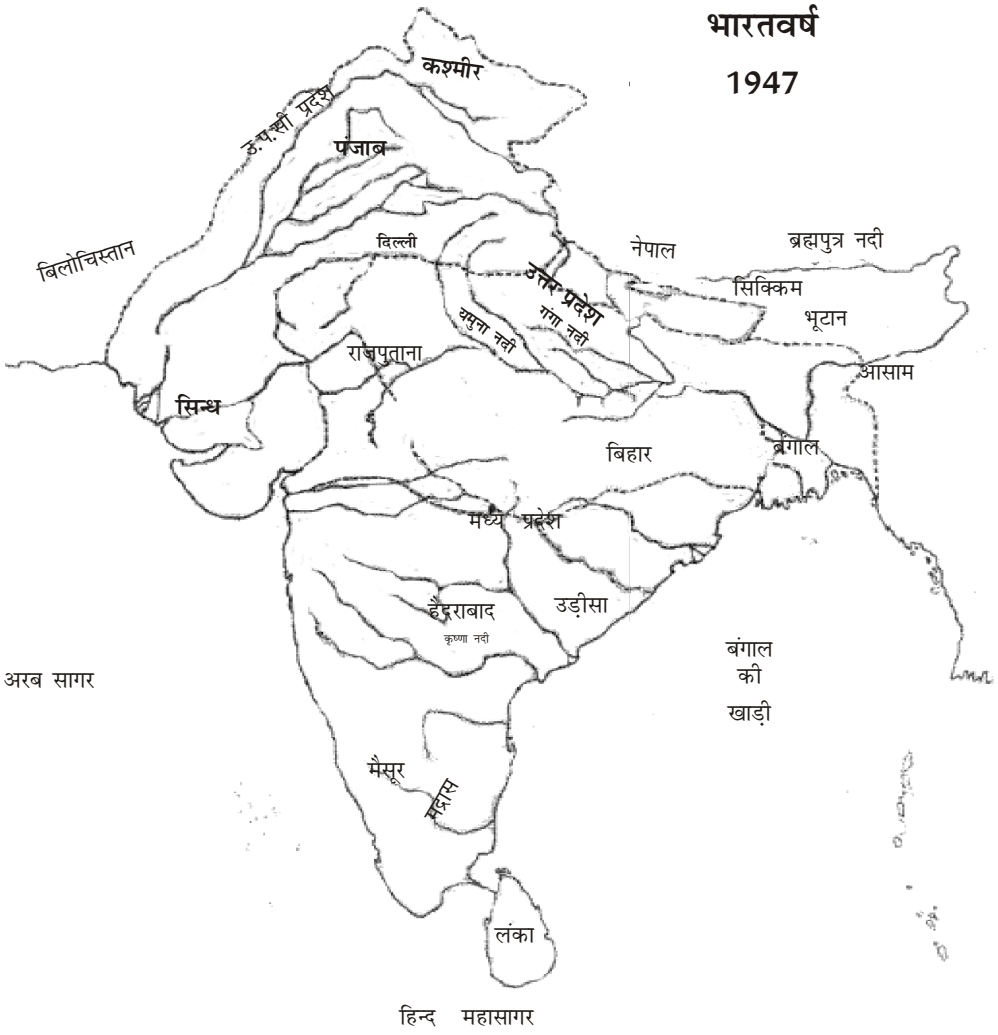

13.3 सारांश (Summary)

- क्रान्ति के नेता बहादुरशाह, नानासाहब और उनके वकील अलीमुल्ला खाँ और तात्या टोपे ने क्रान्ति की तारीख 31 मई रखी थी; किन्तु पहले 29 मार्च को बैरकपुर की छावनी में मंगल पाण्डेय ने विद्रोह किया, उन्हें फाँसी हो गई। फिर 3 मई को लखनऊ की इनफैन्ट्री ने किया, किन्तु उसे भी शीघ्र दबा दिया गया और फिर 9 मई को मेरठ के बागी सिपाहियों को जब लम्बी-लम्बी सजायें सुनाई गईं तो 10 मई को मेरठ की सेना ने विद्रोह कर दिया। उन्होंने जेल तोड़ दी, बन्दी सिपाहियों को स्वतंत्र कर दिया और फिर मेरठ में हिंसात्मक कार्यवाही करके 11 मई को क्रांतिकारी दिल्ली चले गये। उन्होंने दिल्ली विजय की और बहादुरशाह को सम्राट् घोषित कर दिया। इस समय तक दिल्ली, लखनऊ, कानपुर, इलाहाबाद, झाँसी, बरेली, नीमच, बनारस, बुन्देलखण्ड, ग्वालियर, आरा, और मध्य भारत विद्रोह के केन्द्र बन गये।

नोट

13.4 शब्दकोश (Keywords)

- अंततोगत्वा : निष्कर्ष रूप में।
- मूलच्छेदन : जड़ से उखाड़ फेंकना, निर्मूल करना।

13.5 अभ्यास-प्रश्न (Review Question)

1. दिये गये मानचित्र में 1857 के विद्रोह के महत्त्वपूर्ण केन्द्रों को दर्शाइये।

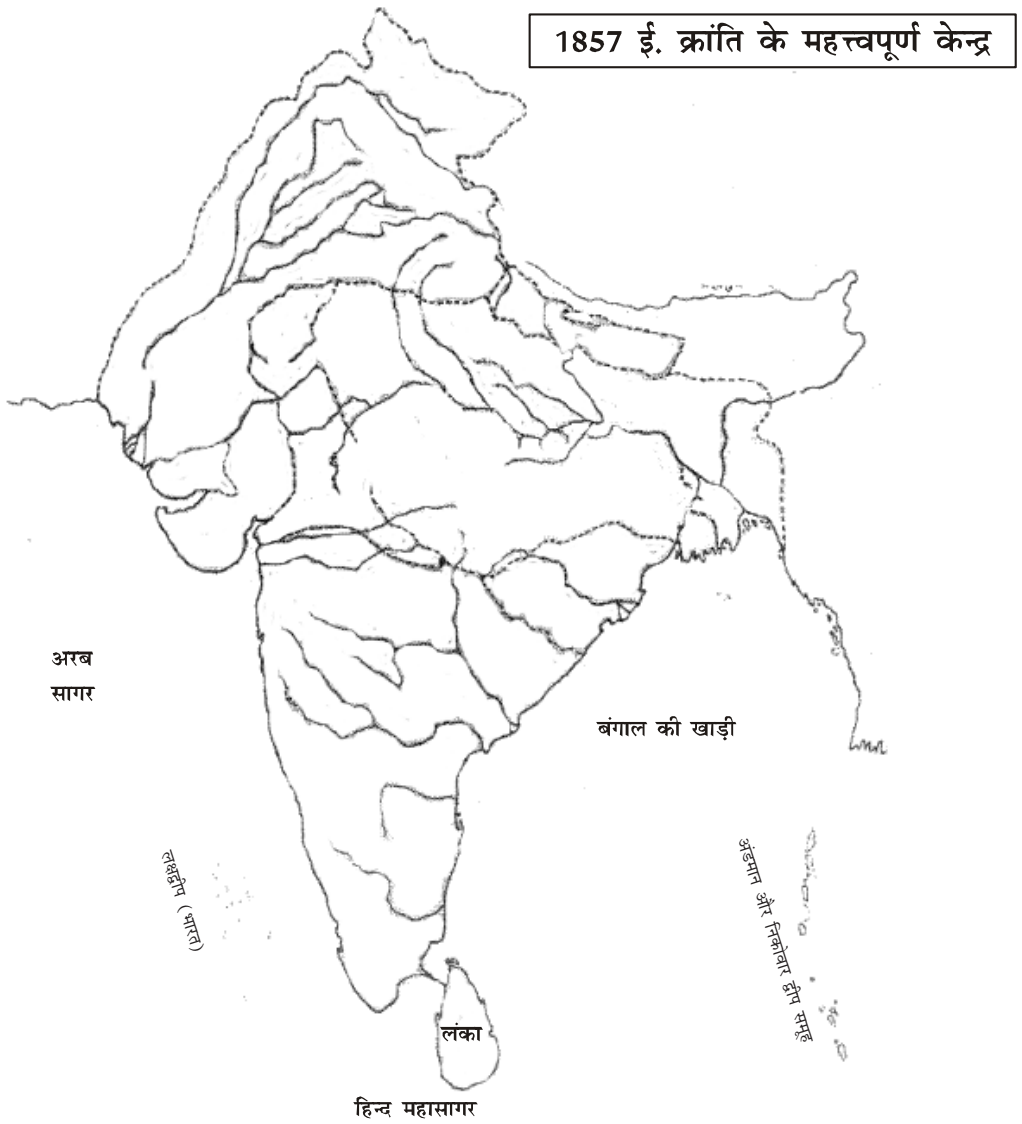

नोट

2. दिये गये मानचित्र में आजादी के पूर्व के भारत के निम्नलिखित स्थानों को निर्दिष्ट कीजिए।
(क) सिन्ध (ख) बलूचिस्तान (ग) उत्तर प्रदेश (घ) मैसूर

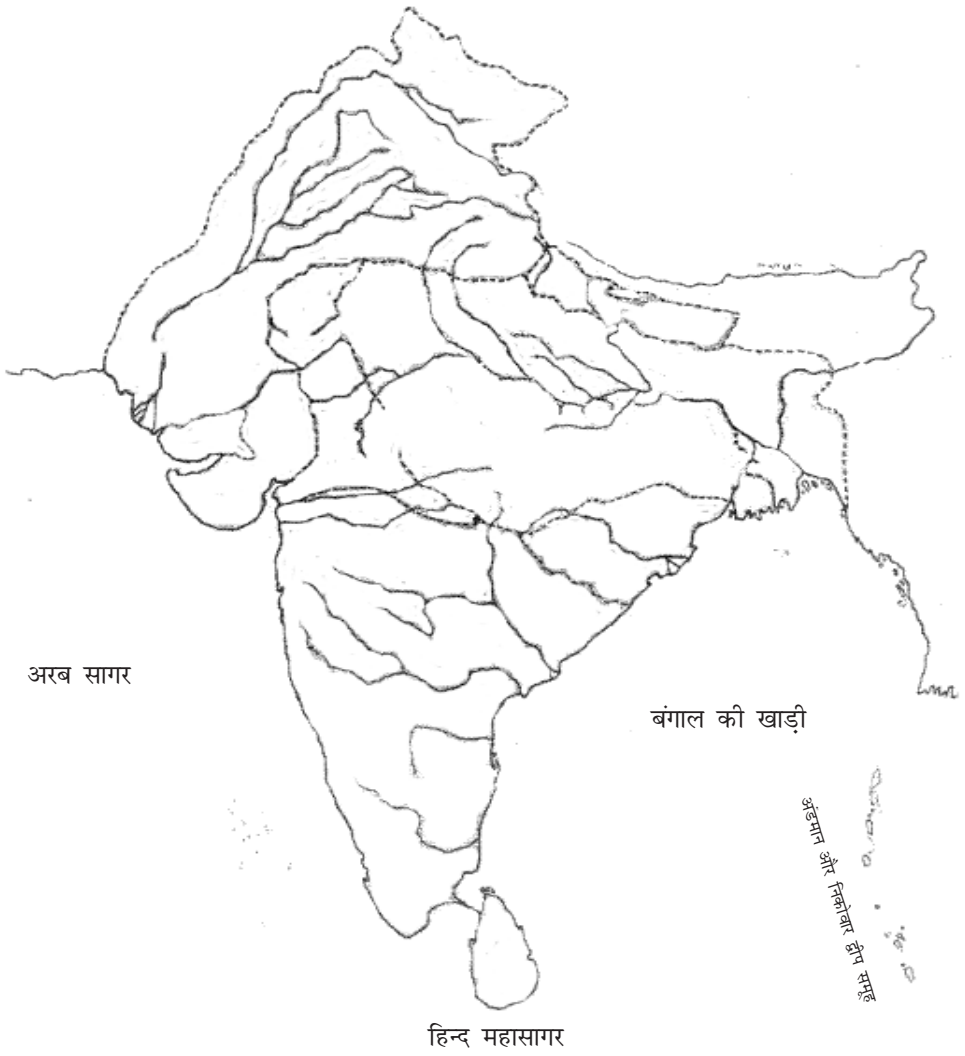

13.6 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. *भारत की ऐतिहासिक मानचित्रावली*– डॉ. हरिप्रसाद थपलियाल, हिन्दी प्रचारक पब्लिकेशन्स प्रा. लि., वाराणसी।
2. *स्वतंत्रता संग्राम*– विपिन चन्द्र, हिन्दी माध्यम कार्यान्वय, निदेशालय दिल्ली विश्वविद्यालय।

नोट

इकाई–14: मानचित्र–II (Maps)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

14.1 1947 में भारत (India in 1947)

14.2 भारतीय राज्य एवं उनकी राजधानियाँ (Indian States and Capitals)

14.3 सारांश (Summary)

14.4 शब्दकोश (Keywords)

14.5 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

14.6 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- 1947 में भारत की भौगोलिक मानचित्रावली को समझने में।
- वर्तमान में भारत के राज्य एवं उनकी राजधानियों को मानचित्र के माध्यम से जानने में।

प्रस्तावना (Introduction)

सन् 1857 ई. की सशस्त्र क्रांति के असफल हो जाने के फलस्वरूप भारतवासियों को विश्वास हो गया कि अधिक चालाक और शक्तिशाली अँग्रेजों को शक्ति के बल पर भारत से खदेड़ना संभव नहीं था। इसलिए भारतवासियों ने राजनैतिक चेतना के आधार पर सत्य व अहिंसा के माध्यम से एक शक्तिशाली राष्ट्रीय आन्दोलन प्रारम्भ किया। इसके फलस्वरूप भारत में 'इन्डियन एसोसिएशन'. 'महाजन सभा' और 'बम्बई प्रेसीडेन्सी एसोसिएशन', संस्थाएँ बनी। इन सबके सम्मिलित प्रयास से 1884 ई. में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का जन्म हुआ। भारत का राष्ट्रीय जागरण और स्वतंत्रता आन्दोलन सन् 1885 ई. से प्रारम्भ हुआ और 14 अगस्त 1947 ई. तक चला।

14.1 1947 में भारत (India in 1947)

सन् 1857 ई. की सशस्त्र क्रांति के असफल हो जाने के फलस्वरूप भारतवासियों को विश्वास हो गया कि अधिक चालाक और शक्तिशाली अँग्रेजों को शक्ति के बल पर भारत से खदेड़ना संभव नहीं था। इसलिए भारतवासियों ने राजनैतिक चेतना के आधार पर सत्य व अहिंसा के माध्यम से एक शक्तिशाली राष्ट्रीय आन्दोलन प्रारम्भ किया। इसके फलस्वरूप भारत में 'इन्डियन एसोसिएशन'. 'महाजन सभा' और 'बम्बई प्रेसीडेन्सी एसोसिएशन', संस्थाएँ बनी। इन सबके सम्मिलित प्रयास से 1884 ई. में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का जन्म हुआ। भारत का राष्ट्रीय जागरण और स्वतंत्रता आन्दोलन सन् 1885 ई. से प्रारम्भ हुआ और 14 अगस्त 1947 ई. तक चला। कांग्रेस के प्रारम्भिक काल में इसका नेतृत्व दादा भाई नौरोजी, महादेव गोविन्द रानाडे, फिरोजशाह मेहता, गोपाल कृष्ण गोखले, बाल गंगाधर तिलक आदि राष्ट्रीय नेताओं ने किया। सन् 1905 ई. तक कांग्रेस का संघर्ष संविधान सम्बन्धी मांगों तक सीमित रहा, 1905 ई. के बाद कांग्रेस में उदारवाद, उग्रवाद, नरम दल, गरम दल, और क्रांतिकारी भावनाएँ भी

नोट

मुखरित हो गयी थीं। बंगाल, पंजाब और महाराष्ट्र में क्रांतिकारी आन्दोलन बहुत तेज हुआ। इनमें भूपेन्द्रनाथ, बाल गंगाधर तिलक, खुदीराम बोस, अरविन्द घोष, लाला लाजपत राय, सरदार अजीत सिंह एवं सावरकर बन्धुओं का प्रमुख हाथ रहा। अंग्रेजों ने कड़ाई से आन्दोलनकारियों का दमन किया, क्रांतिकारी दबाये गये, पंजाब में जलियाँवाला बाग काण्ड हुआ, परन्तु भारत का राष्ट्रीय आन्दोलन उग्र से उग्रतर होता गया। 1919 से 1930 ई. तक कांग्रेस ने असहयोग आन्दोलन, सत्य-अहिंसा एवं त्याग-बलिदान के आधार पर अपना आन्दोलन जारी रखा। 1919 से कांग्रेस की बागडोर राष्ट्रपिता महात्मा गांधी के सबल हाथों में आ गई थी, उसी समय से पं. जवाहर लाल नेहरू भी राष्ट्रीय आन्दोलन में सक्रिय हो गये थे।

राष्ट्रीय आन्दोलन के साथ-साथ क्रांतिकारी आंदोलन भी चल रहा था। चन्द्रशेखर आजाद, भगतसिंह, सुखदेव, राजगुरु, इशफाकउल्ला खाँ आदि स्वतंत्रता के लिए संघर्ष करने वाले व्यक्तियों ने अपने प्राणों की आहुति देकर राष्ट्रीय आन्दोलन को सशक्त करने का पूरा प्रयत्न किया। सुभाषचन्द्र बोस ने आजाद हिन्द फौज की स्थापना कर तथा अंग्रेजों के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर राष्ट्रीय आन्दोलन को अपना अमूल्य सहयोग दिया।

लॉर्ड माउण्टबेटन (मार्च 1947 ई. से अगस्त 1947 ई.)

अत: ब्रिटिश सरकार ने जब पूर्ण निश्चय कर लिया कि वे भारत में अपने राज्य की समाप्ति चाहते हैं, तो उन्होंने लॉर्ड माउण्टबेटन को भारत का वायसराय बनाकर भेजा ताकि सत्ता-हस्तांतरण और अन्य कठिनाइयाँ युक्ति से सुलझ जाएँ। उसकी 3 जून 1947 की घोषणा में कहा गया कि भारत को 15 अगस्त तक स्वतन्त्र कर दिया जायेगा। किन्तु भारत का विभाजन साम्प्रदायिक आधार पर किया गया और इस प्रकार भारत को दो भागों में बाँट कर भारतवर्ष और पाकिस्तान दो स्वतंत्र देश बना दिये गये। 4 अगस्त 1947 ई. को **भारत स्वतन्त्रता ऐक्ट** पार्लियामेंट में पेश करके पास किया गया और इस प्रकार 14 अगस्त की रात को **12 बजे वायसराय लॉर्ड माउण्टबेटन ने भारत को स्वतंत्र घोषित कर दिया।**

इस प्रकार 1600 ई. में व्यापारी के रूप में अँग्रेजों ने भारत में प्रवेश किया। धीरे-धीरे कम्पनी ने अपना राज्य स्थापित किया। 1857 ई. के बाद भारत विधिवत् ब्रिटिश-साम्राज्य का एक अंग बन गया। उस अँग्रेजी शासन का आखिर

नोट

में 14 अगस्त 1947 ई. को 12 बजे रात में अन्त हो गया।

इस प्रकार राष्ट्रपिता महात्मा गांधी के सबल नेतृत्व में तथा पं. जवाहर लाल नेहरू के अथक प्रयत्नों से राष्ट्रीय कांग्रेस को देश की आजादी दिलाने में सफलता मिली। 15 अगस्त, 1947 को भारत एक स्वतन्त्र राष्ट्र बन गया तथा उसके बाद अँग्रेज भारत को पूर्ण स्वतंत्रता देकर स्वदेश लौट गये।

14.2 भारतीय राज्य एवं उनकी राजधानियाँ (Indian States and Capitals)

वर्तमान भारत में अट्ठाइस राज्य और सात केन्द्र शासित राज्य हैं।

भारत के राज्य–1. आन्ध्र प्रदेश (हैदराबाद) 2. असम (दिसपुर) 3. बिहार (पटना) 4. गुजरात (गाँधीनगर) 5. हरियाणा (चंडीगढ़) 6. हिमाचल प्रदेश (शिमला) 7. जम्मू और कश्मीर (श्रीनगर) 8. कर्नाटक (बंगलुरु) 9. केरल (त्रिवेन्द्रम) 10. मध्यप्रदेश (भोपाल) 11. महाराष्ट्र (मुम्बई) 12. मणिपुर (इम्फाल) 13. मेघालय (शिलांग) 14. नागालैण्ड (कोहिमा) 15. उड़ीसा (भुवनेश्वर) 16. पंजाब (चंडीगढ़) 17. राजस्थान (जयपुर) 18. सिक्किम (गंगटोक) 19. तमिलनाडु (चेन्नई) 20. त्रिपुरा (अगरतला) 21. उत्तर प्रदेश (लखनऊ) 22. पश्चिम बंगाल (कोलकाता)

23. मिजोरम (आइजोल) 24. अरुणाचल प्रदेश (ईटानगर) 25. गोवा (पणजी) 26. छत्तीसगढ़ (रायपुर) 27. उत्तरांचल (देहरादून) 28. झारखण्ड (रांची)।

केन्द्र शासित राज्य–1. अण्डमान और निकोबार द्वीप समूह (पोर्टब्लेयर)। 2. चण्डीगढ़ (चण्डीगढ़) 3. दादर और नागर हवेली (सिलवाला)। 4. दिल्ली (दिल्ली)। 5. दमन और दीव (दमन)। 6. लक्षद्वीप समूह (कावाराती।) 7. पाण्डिचेरी (पाण्डिचेरी)।

नोट

14.3 सारांश (Summary)

- भारतवासी आपसी भेदभाव भुलाकर एक जुट हो गये और उन्होंने अँग्रेजों से संघर्ष करके देश को स्वाधीन करने का दृढ़ निश्चय कर लिया था। भारत में राष्ट्रीय जागरण और स्वतंत्रता आन्दोलन तीव्र से तीव्रतर होता गया। प्रथम विश्व-युद्ध में भारत ने स्वराज्य की मांग की, किन्तु अँग्रेजों की दमन नीति से भारत को कुछ प्राप्त नहीं हुआ। द्वितीय विश्व-युद्ध के दौरान, भारत में राष्ट्रीय आन्दोलन देश के कोने-कोने में फैल गया। भारत में अँग्रेजों के खिलाफ 'भारत-छोड़ो' का नारा बुलन्द हो गया। द्वितीय विश्व-युद्ध में अँग्रेजों की स्थिति अत्यन्त शोचनीय हो गई। उन्होंने समझ लिया कि भारत को अधिक समय तक पराधीन रखना असम्भव सा था।
- अत: ब्रिटिश सरकार ने जब पूर्ण निश्चय कर लिया कि वे भारत में अपने राज्य की समाप्ति चाहते हैं, तो उन्होंने लॉर्ड माउण्बेटन को भारत का वाइसराय बनाकर भेजा ताकि सत्ता-हस्तांतरण और अन्य कठिनाइयाँ युक्ति से सुलझ जाएँ। उसकी 3 जून 1947 की घोषणा में कहा गया कि भारत को 15 अगस्त तक स्वतन्त्र कर दिया जायेगा। किन्तु भारत का विभाजन साम्प्रदायिक आधार पर किया गया और इस प्रकार भारत को दो भागों में बाँट कर भारतवर्ष और पाकिस्तान दो स्वतंत्र देश बना दिये गये।

14.4 शब्दकोश (Keywords)

- अशिष्टता : अभद्रता, अशोभनीय कार्य
- सिंहासनच्यूत: राजसिंहासन से वंचित

14.5 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. दिये गये मानचित्र में 1947 में स्वतंत्र किन्तु विभाजित भारत की स्थिति को निर्दिष्ट कीजिए।

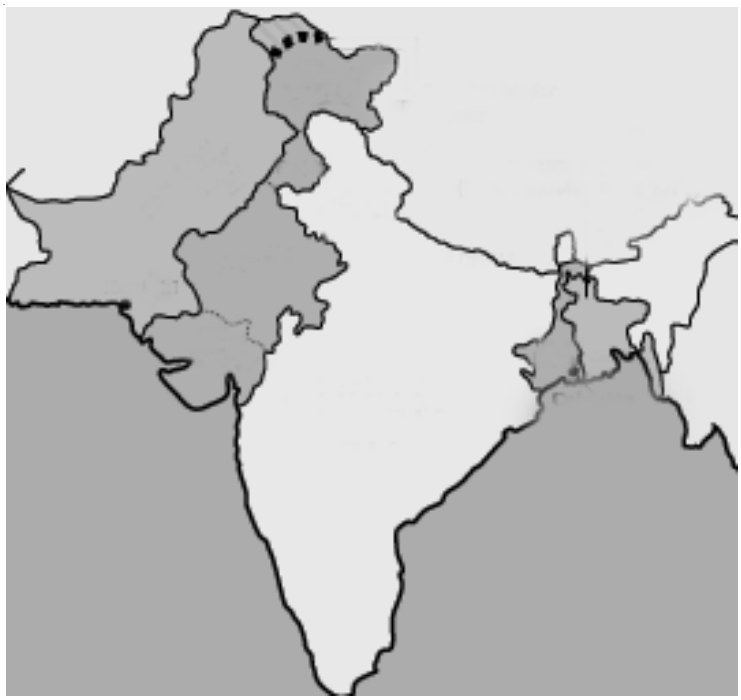

नोट

2. दिये गये मानचित्र में स्वतंत्र भारत के राज्य एवं उनकी राजधानियों को दर्शाइये।

3. दिये गये भारत के मानचित्र में केन्द्रशासित प्रदेशों एवं उनकी राजधानियों को दर्शाइये।

नोट

14.6 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. *भारत की ऐतिहासिक मानचित्रावली*– डॉ. हरिप्रसाद थपलियाल, हिन्दी प्रचारक पब्लिकेशन्स प्रा. लि., वाराणसी।
2. *स्वतंत्रता संग्राम*– विपिन चन्द्र, हिन्दी माध्यम कार्यान्वय, निदेशालय दिल्ली विश्वविद्यालय।

LOVELY PROFESSIONAL UNIVERSITY
Jalandhar-Delhi G.T. Road (NH-1)
Phagwara, Punjab (India)-144411
For Enquiry: +91-1824-300360
Fax.: +91-1824-506111
Email: odl@lpu.co.in